परम श्रद्धेया महासती जी

श्री जसकवर जी म सा

जिनके रोम-रोम मे

अहिंसा ही अहिंसा भरी है

और

जिन्होने अपने जीवन की

परवाह न करते हुए जोगणिया मे

घोर हिंसक पशुबलि को बन्द कराने जैसी

शुभ प्रवृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए

सम्यग्ज्ञान व दर्शन के आधार

अहिंसा और विशेष रूप से

इसके सकारात्मक पक्ष को

अपने चारित्र का

अभिन्न अग बनाया

को

सादर समर्पित

प्रकाशकीय

प्राकृतभारती पुष्प 106 के रूप मे प्रस्तुत 'सकारात्मक अहिंसा' पुस्तक का दो खण्डो मे प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर और सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर का सयुक्त प्रकाशन करते हुए हमे हार्दिक प्रसन्नता है।

'अहिंसा' का सामान्य अर्थ है हिंसा का अभाव। जैन धर्म, दर्शन व सस्कृति मे यह शब्द अपने सामान्य अर्थ के साथ विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। किन्तु समय-प्रवाह जैसे अन्य बातो मे परिवर्तन ले आता है, वैसे ही जैनो के इस विशिष्ट शब्द के विशिष्ट अर्थो मे भी परिवर्तन आए। कुछ महत् बातें गौण हो गई और गौण बाते महत् हो गई। धीरे-धीरे लगता है जैन अहिंसा की आत्मा मर गई और वह जीवन्तता-विहीन शुष्क अवधारणा बनकर रह गई।

सम्भवत यही कारण है कि जन-सामान्य मे अहिंसा के सम्बन्ध मे कई भ्रान्तिया फैल गई। उनमे दो भ्रान्तिया मुख्य है। एक तो यह कि अहिंसा का अर्थ मात्र प्राण-हनन न करना है या अधिक से अधिक प्राणियो को पीडा न पहुचाना है। दूसरी भ्राति यह है कि अहिंसा एक विशुद्ध नकारात्मक या निषेधात्मक अथवा निवृत्तिमूलक अवधारणा है। वस्तुत ये भ्रान्तिया एकागी दृष्टिकोण की देन है और विडम्बना यह है कि यह दृष्टिकोण उन लोगो ने अपनाया है जिन्होने ससार को अनैकान्तिक दृष्टिकोण की शिक्षा दी।

इन भ्रान्तियो को दूर करने के प्रयास जैसी लगन से होने चाहिए थे वैसे नही हो पाये। आज जब सारा विश्व सिमटकर एक गाव-सा बन रहा है और उन जीवन-पद्धतियो की खोज हो रही है, जो समाज के हर स्तर पर शाति स्थापित कर सके अहिंसा सम्बन्धी इन भ्रान्तियो को दूर करना और भी महत्वपूर्ण हो गया है।

भगवान महावीर के तात्पर्य शब्द थे— जैसे आपको दुःख प्रिय

नही, वैसे ही ससार के किसी भी जीव को दु ख प्रिय नही । अहिंसा के इस व्यापक आधार पर उन्होने एक क्रान्तिकारी जीवन-पद्धति विकसित की जिसमे प्राणिमात्र के सुख की ठोस व्यवस्था थी, मात्र कल्पना नही । उन्होने अहिंसा की विस्तृत परिभाषा मे वह सभी कुछ समेट लिया, जो प्राणिमात्र के दु ख को मिटाने और सुख को प्राप्त करने का निमित्त बन सकता था । जब तक हम अहिंसा को इस व्यापक सन्दर्भ मे नही समझते, तब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति की वितण्डा से मुक्त नही हो सकते ।

अहिंसा अर्थात् हिंसा न करना अथवा हिंसा का अभाव । इसमे कही भी यह अर्थ छुपा हुआ नही है कि जीवन के परिपालन का अभाव हो । वस्तुत इसमे तो जीवन के परिपालन का भाव अन्तर्निहित है । हम यदि किसी क्रिया-विशेष के निषेध को क्रिया मात्र का निषेध समझने लगे तो वह भ्रान्तिमूलक ही है ।

एक और बात है, निवृत्ति जन्म ही प्रवृत्ति से लेती है । प्रवृत्ति का अस्तित्व न हो तो निवृत्ति स्वत ही अस्तित्वहीन हो जाती है । निषेध का अपने आप मे कोई अर्थ नही, वह तो क्रियात्मकता से उत्पन्न होता है । प्रवृत्ति और निवृत्ति दिशा के नाम है, गति के नाम नही । और, जो चेतन अथवा जीवन, जिसका मूल गुण क्रिया है, स्पन्दन है, स्फुरण है, गति है वह कभी किसी स्थिति मे गतिहीन नही हो सकता । उसकी निवृत्ति का अर्थ ही उसकी प्रवृत्ति की दिशा मे परिवर्तन है, न कि प्रवृत्ति का अभाव ।

अहिंसा के इसी सकारात्मक स्वरूप की पुन स्थापना के प्रयासो मे हमारे सुपरिचित चिन्तक श्री कन्हैयालाल जी लोढा के विचारो का यह योगदान पुस्तकाकार रूप मे हम अपने पाठको के समक्ष उपस्थित कर रहे है । लोढाजी ने अपनी परिचित शैली मे शास्त्रीय आधारो के साथ आधुनिक प्रचलित सूचनाओ का समन्वय कर अहिंसा के उस लोक-कल्याणकारी पहलू को उजागर किया है, जो जैन आचार के एक अग-विशेष के अति विस्तार मे छुप चला था । प्रश्नव्याकरणसूत्र मे प्राप्त अहिंसा के 60 नामो का उल्लेख कर उसमे से कतिपय महत्त्वपूर्ण भावनाओ की विस्तृत चर्चा के माध्यम

से अहिंसा के इस नकारात्मक रूप की स्थापना करने के अपने इस प्रयास से ही लेखक ने सन्तोष नहीं कर लिया, अपितु अपने कथ्य के अंतिम अध्याय में उन्होंने सकारात्मक अहिंसा पर उठाई गई आपत्तियों का निराकरण भी किया है।

इसके अतिरिक्त पुस्तक के द्वितीय खण्ड के रूप में उन्होंने इसी सन्दर्भ में अन्यान्य मनीषियों के महत्त्वपूर्ण लेख भी संकलित किये हैं। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक अहिंसा को उसकी सम्पूर्णता में व्यापक बनाने की ओर एक महत्त्वपूर्ण प्रयास का रूप धारण करेगी।

जैन और जैनेतर दर्शनों के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान् डा. सागर मल जी जैन ने विषय की गम्भीरता और वर्तमान विषम काल में उसकी उपादेयता के अनुरूप विचारोत्तेजक और प्रेरक भूमिका लिखी है, जिससे पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। हम उनके तथा उन सभी विद्वानों के भी आभारी हैं जिनके लेख इस पुस्तक में सम्मिलित किये गये हैं।

विशेषतः डॉ. धर्मचन्द जैन, जोधपुर ने जिस योग्यता और लगन के साथ इस पुस्तक का सम्पादन-संशोधन कर मुद्रण-व्यवस्था की है उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हमें आशा है हमारे पाठक इस संयुक्त प्रकाशन को पढ़कर सकारात्मक अहिंसा को जीवन में अपनाने को प्रेरित होंगे।

म. विनयसागर — देवेन्द्रराज मेहता
निदेशक — सचिव

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

डॉ. सम्पतसिंह भांडावत — विमल चन्द डागा
अध्यक्ष — मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

(2) सद्प्रवृत्तियाँ शुभ योग है। शुभ योग पुण्य कर्म के आस्रव व बन्ध का हेतु है और कर्म-बध मुक्ति मे बाधक है।

(3) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य रूप है। पुण्य धर्म नही है। धर्म के बिना मुक्ति नही मिलती है।

(4) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो मे जीवो की हिसा होती है। हिसा पाप है। पाप त्याज्य है।

(5) दया, दान आदि से जिस जीव की रक्षा की जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि होने से, बचने के पश्चात् पाप प्रवृत्ति करता है। अत बचाने वाले को पाप कर्म के अनुमोदन का पाप लगता है।

(6) एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक सभी जीव समान है। अत इनके मारने मे समान हिसा होती है, समान पाप लगता है। अत किसी एक जीव को बचाने के लिए असख्य एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा करना घोर पाप है।

(7) कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है तो उस जीव को बचाने से उसे मारने वाले जीव को दु ख होता है। अत यह हिंसा है। हिसा से बचने मे ही हित है।

(8) कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है। इस घटना मे मरते हुए जीव को बचाने का मतलब है उस जीव के प्रति राग है और जिससे बचाया जा रहा है उसके प्रति द्वेष है। राग-द्वेष पाप है, ससार मे परिभ्रमण कराने वाले है।

(9) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो मे सहायता व रक्षा करने का सकल्प होता है और उस सकल्प की पूर्ति न होने से विकल्प होता है। सकल्प-विकल्प कर्म-बध व ससार-परिभ्रमण के कारण हैं।

(10) दया, दान आदि प्रवृत्तियाँ पुण्य कर्म-बध की हेतु है, अत विभाव है, अधर्म है, हेय है।

(11) एक क्रिया के पुण्य-पाप अथवा धर्म-अधर्म ये दोनो फल नही हो सकते। दया, दान, सेवा आदि अहिंसा की सकारात्मक

प्रवृत्तियों मे अप्काय, वायुकाय आदि के असख्य जीवो की हत्या होती है। हिसा अधर्म है, पाप है। अत. उनमे धर्म व पुण्य नही हो सकता।

उपर्युक्त युक्तिया के अतिरिक्त इन्ही से मिलती-जुलती अनेक अन्य युक्तिया भी दी जाती है, परन्तु उन सबका अभिप्राय एक ही है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तिया विभाव है, अधम है, कर्म-बध की व ससार-परिभ्रमण की हेतु है अत हेय है, त्याज्य है।

कषाय मे कमी होने से होता है। कषाय मे कमी होने का क्षायोपशमिक भाव, शुभभाव व शुद्धभाव कहते है। क्षायोपशमिक या शुद्ध भाव से पुण्य का आस्रव होता है। कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि पुण्यास्रव से पापास्रव का निरोध होता है, सवर होता है, यथा—सातावेदनीय, उच्च गोत्र, त्रस, आदेय, यशकीर्त्ति आदि त्रसदशक एव गति-जाति आदि चौदह पिड प्रकृतियो का जब आस्रव होता है तब इनकी विरोधिनी असातावेदनीय, नीच गोत्र, स्थावर, अनादेय, अयशकीर्त्ति आदि स्थावरदशक एव गति आदि चौदह पिड प्रकृतियो मे कथित पाप प्रकृतियो के आस्रव का निरोध (सवर) हो जाता हे व इनका बधना रुक जाता हे, इसके साथ ही पूर्व मे बधे हुए पाप-कर्मो के स्थिति बध व अनुभाव बध का अपवर्तन (क्षय) होता हे। इस प्रकार पुण्य कर्म के उपार्जन से पाप कर्मो का आस्रव व बध तो रुकता ही है, साथ ही पहले बधे हुए पाप कर्मों के स्थिति व अनुभाव बध का क्षय भी होता हे तथा पाप प्रकृतियो का पुण्य मे सक्रमण होता है। आशय यह है कि (1) पुण्यतत्त्व (2) पुण्यास्रव और (3) पुण्यकर्म क्रमश पाप, पापास्रव और पाप कर्म के विरोधी व घातक होते हे, पाप का क्षय करने वाले होते हे। पाप के क्षय मे ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यह सही हे कि सकारात्मक अहिसा की दया, दान आदि धार्मिक प्रवृत्तियो से पुण्य के आस्रव का उपार्जन होता हे, परन्तु इससे भी असख्य गुणा अधिक पुण्य के आस्रव का उपार्जन व पुण्य के अनुभाव की सर्जना सयम-त्याग-तप, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निवृत्ति-परक साधनाओ से होता है। जब ये निवृत्तिपरक साधनाए क्षपक श्रेणी मे उत्कृष्ट रूप मे होती है तब यश कीर्त्ति, उच्चगोत्र आदि समस्त पुण्य प्रकृतियो के अनुभाव मे वृद्धि होकर इनका अनुभाव उत्कृष्ट हो जाता है। पुण्य कर्म-प्रकृतियो के अनुभाव के उत्कृष्ट होने पर ही साधक को केवल ज्ञान होता है। पुण्य के अनुभाव के अनुत्कृष्ट रहते न तो आज तक किसी को केवल ज्ञान हुआ है और न भविष्य मे किसी को केवल ज्ञान होगा। पुण्य का यह उत्कृष्ट अनुभाग मुक्ति-प्राप्ति के अन्तिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है, अश मात्र भी क्षीण नही होता है।

दया, दान, अनुकंपा, करुणा, सेवा, मित्रता, वात्सल्य आदि समस्त सद्प्रवृत्तियाँ भावात्मक, विध्यात्मक या क्रियात्मक अहिंसा के ही विविध रूप हैं। जैन वाङ्मय में दया को धर्म का मूल कहा है और प्राणियों पर अनुकम्पा करने को दया कहा है।[1] धर्म उसे कहा जाता है जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो। दया के फलस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह तथ्य आज भी इतना मान्य है कि किसी भी जैन मुनि के प्रवचन के पश्चात् प्रवचन के सारांश को व्यक्त करते हुए सर्वप्रथम यह दोहा बोला जाता है "दया सुखानी वेलडी, दया सुखानी खान। अनन्ता जीव मुक्ति गया, दया तणे फल जाण॥" अर्थात् दया सर्व सुखों को देने वाली है तथा आज तक अनंत जीव जो मुक्ति में गये हैं वे दया के परिणाम से ही गये हैं। अतः दया का विरोध करना मुक्ति का विरोध करना है, धर्म का विरोध करना है, धर्म के मूल का उच्छेदन करना है। दया के विरोध व निषेध का अर्थात् दयाहीनता को, निर्दयता को धर्म मानना पाप को, अधर्म को धर्म मानना है, जो मिथ्यात्व है।[2] निर्दयता को रौद्र ध्यान का लक्षण कहा है।[3] ज्ञान की सार्थकता भी दया में ही है।[4] दयारहित ज्ञान निष्फल है, कुज्ञान है। दया का क्रियात्मक रूप दान है। अतः दान भी धर्म ही है।[5] सभी वीतराग केवली अनन्तदानी होते हैं। जितने भी तीर्थंकर आज तक हुए हैं वे दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिदिन दान देते रहे हैं। यह दान ग्रहण करने के लिए जो भी सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य, भिक्षु आदि आते,

उन्हे वे बिना भेदभाव के दान देते रहे है ।[1] दानसपन्नता धर्म-ध्यान का लक्षण है ।[2]

दया के क्रियात्मक रूप सेवा (वैयावृत्य) को आभ्यतर तप मे स्थान दिया गया है । अर्थात् वैयावृत्य को उपवास, प्रतिसलीनता आदि बाह्य तपो से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। आभ्यतर तपो मे भी सेवा को स्वाध्याय तप से अधिक महत्त्व दिया गया है[3] और सर्व दु खो से मुक्ति प्राप्ति का हेतु बताया है । सेवा मे भी भगवान महावीर ने अपनी (भगवान की) सेवा करने की अपेक्षा दु खी एव पीडित व्यक्तियो की सेवा करने वाले को धन्यवाद का पात्र कहा है ।[4] जो दु खियो की सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है[5] वह मेरे दर्शन की आराधना करता है ।[6] जिस व्यक्ति को जिस प्रकार की आवश्यकता हो उसकी उसी प्रकार सहायता करना सेवा है ।[7] करुणा को

---

1 तए ण मल्ली अरहा कल्लाकल्लि जाव मागहओ पायरासोत्ति बहूण सणाहाण य अणाहाण य पथियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेग हिरण्णकोडि अट्ठ य अणूणाति सयसहस्साति इमेया रूव अत्थ सपयाण दलयति ।—ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन 8, सूत्र 82

2 जिणमाहु गुणकित्तण-पससणा दाणविणयसपन्नो धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ।—ध्यानशतक, गाथा 68

3 इच्छ निओइउ भते ! वेयावच्चे व सज्झाए ।।
वेयावच्चे निउत्तेण कायव्व अगिलाअओ ।
सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदु खविमोक्खणे ।।—उत्तराध्ययन, 26 9-10

4 किं भन्ते ! जे गिलाण पडियरइ से धन्ने ? गोयमा ! जे गिलाण पडियरइ से धण्णे ।—आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीयवत्ति, चतुर्थ आवश्यक ।

5 जो गिलाण पडियरइ सो म पडियरइ ।—ओघनिर्युक्ति सटीक, गाथा 62

6 जे गिलाण पडियरइ से म दसणेण पडिवज्जइ ।
—आवश्यकसूत्र हारिभद्रीया वृत्ति, प्रतिक्रमण आवश्यक ।

7 आसेवण जहाथाम वेयावच्च तमाहिय ।—उत्तराध्ययन, 30 33

क्षीणता या क्षयरूप विशुद्धिभाव भावात्मक पुण्य है। इस भावात्मक पुण्य का क्रियात्मक रूप दया, दान, सेवा, उदारता आदि सकारात्मक अहिंसा की प्रवृत्तियाँ है जो क्रियात्मक पुण्य है। इस भावात्मक एव क्रियात्मक पुण्य को ही जैन दर्शन मे पुण्य तत्त्व कहा है। यह पुण्य तत्त्व आत्मा की पवित्रता का द्योतक है। यह नियम है कि आत्मा जितनी पवित्र होती जाती है उतना ही उसके इन्द्रिय, शरीर, प्राण-शक्ति आदि का विकास होता जाता है। इसे ही पुण्य आस्रव एव पुण्य कर्म का उपार्जन कहा जाता है। पुण्य का आस्रव चित्त की कलुषता (कषाय) मिटने से होता है।[1] अर्थात् शुद्धोपयोग से होता है।[2] पुण्यास्रव से पुण्य कर्म की प्रकृतियो के प्रदेश व अनुभाग का सर्जन होता है। यह नियम है कि कर्म पुण्य रूप हो या पाप रूप हो, 'कर्म' धर्म नही होता। इसलिए पुण्य तत्त्व ही धर्मकी कोटिमे आता है, पुण्य आस्रव तथा पुण्य कर्म प्रकृतियो को धर्म नही कहा जा सकता है। परन्तु पुण्यकर्म कर्म होने पर भी मुक्ति मे बाधक नही है। इसीलिए कर्म सिद्धान्त मे पुण्य कर्म की समस्त प्रकृतियो को पूर्ण रूप से अघाती कहा है, देशघाती भी नही कहा है। अर्थात् पुण्य कर्म की किसी भी प्रकृति से आत्मा के किसी भी गुण का अणमात्र भी घात नही होता है। अपितु पुण्य कर्म मे पाप कर्मों का सक्रमण व क्षय स्वत होता है। अत पुण्य कर्म भी मुक्ति-प्राप्ति मे सहयोगी है, बाधक नही है। यह सही है कि पुण्य व पाप कर्मों का पूर्ण क्षय होने से मुक्ति होती है। परन्तु पाप कर्मों के क्षय के लिए ही साधना करनी पडती है, पुरुषार्थ करना पडता है, पुण्य कर्मों को क्षय करने के लिए किसी भी साधना की किचित् भी आवश्यकता नही होती है, पाप कर्मों के साथ पुण्य कर्मों का स्थिति बध स्वत क्षय हो जाता है। इसीलिए समस्त जैन वाड्मय मे पुण्य कर्मों के क्षय करने व उनका प्रत्याख्यान करने के लिए कही भी किसी भी साधना का विधान नही है। तात्पर्य यह

है कि प्रकृत विषय पर जो प्रमाण दिए गए है, उन पर निष्पक्ष दृष्टि से गहन चिंतन-मनन कर आगम-सम्मत सिद्धान्तो को ही स्वीकार करे और उन्हे जीवन मे उतार कर कृतकृत्य हो जाये। यदि कोई तथ्य आगम-विरुद्ध लगे तो सूचित करे।

22 जनवरी, 1996

कन्हैयालाल लोढा
2811, घी वालो का रास्ता
जयपुर

चेतना एव जीवन के विविध रूपो के प्रति सवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो वर्ग या समाज जीवन के विविध रूपो के प्रति जितना अधिक सवेदनशील बना, उसने अहिंसा के अर्थ को उतना ही व्यापक अर्थ दिया। अहिंसा का यह अर्थ-विकास भी एक आयामी न होकर त्रि-आयामी है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारम्भ होकर षड्जीवनिकाय, जिसमे जल, वायु, वनस्पति आदि भी सम्मिलित है, की हिंसा के निषेध तक इसने अपना अर्थ-विस्तार पाया तो दूसरी ओर प्राण-वियोजन, अग-छेदन, ताडन-तर्जन, बन्धन आदि के बाह्य रूप से लेकर द्वेष, दुर्भावना और असजगता के आन्तरिक रूपो तक इसने गहराई मे प्रवेश किया और यह माना गया कि द्वेष, दुर्भावना एव असजगता भी हिंसा है, चाहे उनसे बाह्य रूप मे प्राण-वियोजन की क्रिया घटित हुई हो या नही। तीसरी ओर 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक रूप से लेकर करुणा, जीवन-रक्षण और सहयोग के विधायक अर्थ तक इसने अपनी यात्रा की।

प्रस्तुत परिचर्चा मे हमारा मुख्य प्रतिपाद्य दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के रूप मे अहिंसा का वह सकारात्मक पक्ष है जो दूसरो के जीवन-रक्षण के एव उनके जीवन को कष्ट और पीडाओ से बचाने के प्रयत्नो के रूप मे हमारे सामने आता है। यह सत्य है कि अहिंसा (Non-violence) शब्द अपने आप मे निषेधात्मक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ हिंसा मत करो तक ही सीमित होता प्रतीत होता है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र मे अहिंसा के जो साठ पर्यायवाची नाम दिये गये है, उन साठ नामो मे सम्भवत दो-तीन को छोडकर शेष सभी उसके सकारात्मक या विधायक पक्ष को प्रस्तुत करते है।

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है। यह अहिंसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिंसा का त्याग मात्र अहिंसा नही है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षो को स्पर्श नही करती। वह आध्यात्मिक उपलब्धि नही कही जा सकती। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य हिंसा नही करना है, यह अहिंसा के सम्बन्ध मे मात्र

चेतना एव जीवन के विविध रूपो के प्रति सवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो वर्ग या समाज जीवन के विविध रूपो के प्रति जितना अधिक सवेदनशील बना, उसने अहिसा के अर्थ को उतना ही व्यापक अर्थ दिया। अहिसा का यह अर्थ-विकास भी एक आयामी न होकर त्रि-आयामी है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारम्भ होकर षड्जीवनिकाय, जिसमे जल, वायु, वनस्पति आदि भी सम्मिलित है, की हिसा के निषेध तक इसने अपना अर्थ-विस्तार पाया तो दूसरी ओर प्राण-वियोजन, अग-छेदन, ताडन-तर्जन, बन्धन आदि के बाह्य रूप से लेकर द्वेष, दुर्भावना और असजगता के आन्तरिक रूपो तक इसने गहराई मे प्रवेश किया और यह माना गया कि द्वेष, दुर्भावना एव असजगता भी हिसा है, चाहे उनसे बाह्य रूप मे प्राण-वियोजन की क्रिया घटित हुई हो या नही। तीसरी ओर 'हिसा मत करो' के निषेधात्मक रूप से लेकर करुणा, जीवन-रक्षण और सहयोग के विधायक अर्थ तक इसने अपनी यात्रा की।

प्रस्तुत परिचर्चा मे हमारा मुख्य प्रतिपाद्य दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के रूप मे अहिसा का वह सकारात्मक पक्ष है जो दूसरो के जीवन-रक्षण के एव उनके जीवन को कष्ट और पीडाओ से बचाने के प्रयत्नो के रूप मे हमारे सामने आता है। यह सत्य है कि अहिसा (Non-violence) शब्द अपने आप मे निषेधात्मक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ हिसा मत करो तक ही सीमित होता प्रतीत होता है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र मे अहिसा के जो साठ पर्यायवाची नाम दिये गये है, उन साठ नामो मे सम्भवत दो-तीन को छोडकर शेष सभी उसके सकारात्मक या विधायक पक्ष को प्रस्तुत करते है।

हिसा का प्रतिपक्ष अहिसा है। यह अहिसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिसा का त्याग मात्र अहिसा नही है। निषेधात्मक अहिसा जीवन के समग्र पक्षो को स्पर्श नही करती। वह आध्यात्मिक उपलब्धि नही कही जा सकती। निषेधात्मक अहिसा मात्र बाह्य हिसा नही करना है, यह अहिसा के सम्बन्ध मे मात्र

स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैनधर्म अहिंसा की इस स्थूल एव बहिर्मुखी दृष्टि तक सीमित रही है। जैन-दर्शन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त शाब्दिक दृष्टि से चाहे नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नही है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है। अहिंसा सकारात्मक है इसका एक प्रमाण यह है कि जैनधर्म मे अहिंसा के पर्यायवाची शब्द के रूप मे 'अनुकम्पा' का प्रयोग हुआ है। 'अनुकम्पा' शब्द जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। उसमे सम्यक्त्व के एक अग के रूप मे भी अनुकम्पा का उल्लेख हुआ है। अनुकम्पा शब्द मूलत दो शब्दो से मिलकर बना हे—अनु+कम्पा (कम्पन)। अभिधानराजेन्द्रकोश मे अनुकम्पा शब्द की व्याख्या मे कहा गया है— 'अनुरूप कम्पते चेष्टत इति अनुकम्पा'। वस्तुत अनुकम्पा पर-पीडा का स्व-सवेदन है, दूसरो की पीडा या दु ख की समानानुभूति है। उसी मे अनुकम्पा को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि पक्षपात अर्थात् रागभाव से रहित होकर दु खी-प्राणियो की पीडा को, उनके दु ख को समाप्त करने की इच्छा ही अनुकम्पा है। यदि अहिंसा की अवधारणा के साथ अनुकम्पा जुडी हुई है तो फिर उसे मात्र निषेधपरक मानना एक भ्रान्ति है। अनुकम्पा मे न केवल दूसरो की पीडा का स्व-सवेदन होता है, अपितु उसके निराकरण के सहज नि स्वार्थ प्रयत्न भी होते हैं। जब दूसरो की पीडा हमारी पीडा बन जाय तो यह असम्भव है कि उसके निराकरण का कोई प्रयत्न न हो। वस्तुत जीवन मे जब तक अनुकम्पा का उदय नही होता तब तक सम्यक्-दर्शन भी सम्भव नही है। दूसरो की पीडा हमारी पीडा के समतुल्य तभी हो सकती है जब हम उसका स्व-सवेदन करे। वस्तुत दूसरो की पीडा का स्व-सवेदन ही वह स्रोत है जहाँ से सम्यक्-दर्शन का प्रकटन होता है और सकारात्मक अहिंसा अर्थात् पर-पीडा के निराकरणार्थ सेवा की पावन गगा प्रवाहित होती है। सर्वत्र आत्मभाव मूलक करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियो से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। वस्तुत "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एव जीवन के विविध रूपो के प्रति सवेदनशीलता की भावना को जब हम अहिंसा का तार्किक आधार मानते है तो उसका अर्थ एक दूसरा रूप

लेता है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एव सहानुभूति के सयोग मे अहिंसा का एक सकारात्मक पक्ष सामने आता है। अहिंसा का अर्थ मात्र किसी को पीडा या दु ख देना ही नही है, अपितु उसका अर्थ, "दूसरो के दु खो को दूर करने का प्रयत्न" भी है। यदि मैं अपनी करुणा को इतना सीमित बना लूँ कि मैं किसी को पीडा नही पहुँचाऊँगा तो वह सही अर्थ मे करुणा नही होगी। करुणा का अर्थ है दूसरो की पीडा को अपनी पीडा के रूप मे देखना। जब दूसरो की पीडा मेरी अपनी पीडा बन जाती है तो फिर उस पीडा को दूर करने के प्रयत्न भी प्रस्फुटित होते है। यदि कोई व्यक्ति यह प्रतिज्ञा कर ले कि मै किसी की हिंसा नही करूँगा, किसी को कष्ट नही दूँगा और चाहे वह यथार्थ मे इसका पालन भी करता हो, लेकिन यदि वह दूसरो की पीडा से द्रवीभूत होकर उनकी पीडा को दूर करने का प्रयत्न नही करता है, तो वह निष्ठुर ही कहलायेगा। वस्तुत जब "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि सवेदनशीलता की मनोभूमिका पर स्थित होती है तो दूसरो की पीडा हमारी पीडा बन जाती है। वस्तुत अहिंसा का आधार मात्र तार्किक-विवेक नही है, अपितु भावनात्मक-विवेक है। भावनात्मक विवेक मे दूसरो की पीडा अपनी पीडा होती है और जिस प्रकार अपनी पीडा को दूर करने के प्रयत्न सहज रूप से होते है, उसी प्रकार दूसरो की पीडा को दूर करने के प्रयत्न भी सहज रूप मे अभिव्यक्त होते है। दूसरो की पीडाओ को दूर करने के इसी सहज प्रयत्न मे अहिंसा का सकारात्मक पक्ष सन्निहित है।

यदि अहिंसा मे से उसका यह सकारात्मक पक्ष अलग कर दिया जाता है तो अहिंसा का हृदय ही शून्य हो जाता है। मिसेस स्टीवेन्शन ने जैन अहिंसा को जो हृदय शून्य बताया है उसके पीछे उनकी यही दृष्टि रही है। (The Heart of Jainism, p 296) यद्यपि यह उनकी भ्रान्ति ही थी, क्योकि उन्होने जैनधर्म मे निहित अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को, जो न केवल सिद्धान्त मे अपितु व्यवहार मे भी आज तक जीवित है, देखने का प्रयत्न ही नही किया। उन्होने मात्र अपने काल के सम्प्रदाय-विशेष के कुछ जैन मुनियो के आचार, व्यवहार और उपदेश के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाल लिया था।

अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष की प्रमुखता के आगमिक आधार

यह सत्य है कि श्रमण-परम्परा ने और विशेष रूप से जैनधर्म ने अहिंसा के अर्थ-विस्तार को एक व्यापकता प्रदान की है। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि इस अहिंसा के अर्थ-विस्तार के साथ अनेक दार्शनिक समस्यायें भी उत्पन्न हुई। अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार करते हुए जब एक ओर यह मान लिया गया कि जीवन के किसी भी रूप को दुःख या पीडा देना अथवा उसके अहित और अकल्याण का चिन्तन करना हिंसा है, साथ ही दूसरी ओर यह भी स्वीकार कर लिया गया कि न केवल मनुष्य-जगत्, पशु-जगत् और वनस्पति-जगत् मे जीवन है, अपितु पृथ्वी, जल, वायु आदि भी जीवन-युक्त है, तो यह समस्या उत्पन्न हुई कि जब जीवन के एक रूप के अस्तित्व के लिए उसके दूसरे रूपो का विनाश या हिंसा अपरिहार्य हो तो ऐसी स्थिति मे चुनाव हिंसा और अहिंसा के बीच न करके दो हिंसाओ के बीच ही करना पडेगा। जिन चिन्तको ने जीवन के सभी रूपो को समान मूल्य और महत्त्व का समझा, उन्हे अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा करनी पडी। क्योकि सकारात्मक अहिंसा अर्थात् सेवा, दान, परोपकार आदि की सभी क्रियाएँ प्रवृत्त्यात्मक है और प्रवृत्ति, जैन पारिभाषिक शब्दावली मे योग, चाहे किसी भी रूप मे क्यो न हो उसमे कही न कही हिंसा/आस्रव का तत्त्व तो होता ही है। यदि हम प्रवृत्ति के पूर्ण निषेध को ही साधना का लक्ष्य माने, तो ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक रूप से अहिंसा की अवधारणा निषेधमूलक होगी। ज्ञातव्य है कि उन सभी धर्मों के लिए जिन्होने पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति आदि मे जीवन ही नही माना अथवा यह मान लिया कि जीवन के ये विविध रूप समान मूल्य या महत्त्व के नही है अथवा यह कि परमात्मा ने जीवन के इन दूसरे रूपो को मनुष्य के उपयोग के लिए ही बनाया है, उन्हे अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को स्वीकार करने मे कोई बाधा नही आई। समस्या केवल उनके लिए थी, जो जीवन के इन विविध रूपो को समान मूल्य या महत्त्व का मान रहे थे।

यह सत्य है कि जैन-परम्परा मे निवृत्ति और जीवन के विविध रूपो की समानता पर अधिक बल दिया गया और परिणामस्वरूप

जैनधर्म मे अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष अधिक प्रमुख बना। विशेष रूप से उन जैन श्रमणो के लिए जो निवृत्त्यात्मक साधना को ही जीवन का एक मात्र उच्चादर्श मान रहे थे। उनके जीवन-व्यवहार एव आचार-नियमो को इस रूप मे ढाला गया कि वे मुख्य रूप से अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष के समर्थक बन कर रह गये। जैनधर्म के प्राचीनतम आगम ग्रन्थो मे ऐसे कुछ सन्दर्भ अवश्य है जो अहिंसा के नकारात्मक पहलू को ही प्रमुखता देते है। सूत्रकृताग (1/11/18-20) मे एक उल्लेख है कि जब मुनि से कोई गृहस्थ यह पूछे कि मै दानशाला आदि बनवाना चाहता हूँ, इसमे आपकी क्या सम्मति है ? तो मुनि उस समय मौन रहे। सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि मुनि उसकी उस प्रवृत्ति का समर्थन करता है तो उसमे होने वाली पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि की प्रत्यक्ष हिंसा एव द्वीन्द्रिय आदि जीवो की परोक्ष हिसा का भागीदार बनता है। इसके विपरीत यदि वह उस दानादि की प्रवृत्ति का निषेध करता है तो वह उसके द्वारा जिन प्राणियो का कल्याण, हित एव सुख होने वाला है उसमे वाधक बनता है। अत दोनो ही स्थितियो मे कही न कही हिंसा का कोई तत्त्व अवश्य ही रहता है। यही कारण था कि ऐसी स्थिति मे उसे मौन रहने की सम्मति दी गयी। जैनागमो का प्रसग एक ऐसा प्रसग है जिसे सामान्य रूप मे अहिंसा के नकारात्मक पक्ष की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किया जाता रहा है। किन्तु इस आधार पर जैनधर्म मे अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या को स्वीकार करना भी एक भ्रान्ति ही होगी, क्योकि हिंसा के अल्प-बहुत्व के विचार के साथ-साथ जैन आगमो मे ऐसे भी उल्लेख है, जो अनिवार्य बनी हिसा मे अल्प हिंसा को वरेण्य मानते है।

यह सत्य है कि सकारात्मक अहिसा अर्थात् जीवन-रक्षण, सेवा, दान, परोपकार आदि के प्रयत्नो मे कही न कही हिंसा का तत्त्व अवश्य उपस्थित रहता है, क्योकि ये सब प्रवृत्त्यात्मक है। जहाँ प्रवृत्ति है वहा क्रिया (योग) होगी, जहाँ क्रिया होगी वहाँ आस्रव होगा और जहा आस्रव होगा वहाँ बन्ध भी होगा। जहाँ बन्ध होगा वहाँ हिंसा होगी, चाहे वह स्व-स्वरूप की हिसा ही क्यो न हो ?

का हेतु न बने । यही से सकारात्मक अहिंसा को एक आधार मिलता है ।

सकारात्मक अहिंसा विषमिश्रित दूध नहीं

सकारात्मक अहिंसा मे निश्चित रूप से अशत हिंसा का कोई-न-कोई रूप समाविष्ट होता है, किन्तु उसे विष-मिश्रित दूध कहकर त्याज्य नही कहा जा सकता । उसमे चाहे हिंसा रूपी विष के कुछ कण उपस्थित हो, कन्तु ये विष-कण विषौषधि के समान मारक नही, तारक होते है । जिस प्रकार विष की मारक शक्ति को समाप्त करके उसे औषधि रूपी अमृत मे बदल दिया जाता है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा मे जो हिंसा या रागात्मकता के रूप परिलक्षित होते हैं, उन्हे विवेकपूर्ण कर्त्तव्य भाव के द्वारा बन्धन के स्थान पर मुक्ति के साधन के रूप मे बदला जा सकता है । जिस प्रकार विष से निर्मित औषधि अस्वास्थ्यकर न होकर आरोग्यप्रद ही होती है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा भी सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आरोग्यकर ही होती है । जब हम अपने अस्तित्व के लिए अपने जीवन के रक्षण के लिए प्रवृत्ति और तज्जन्य आशिक हिंसा को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर हमारे इस तर्क का कोई आधार नही रह जाता कि हम सकारात्मक अहिंसा को इसलिए अस्वीकार करते है कि उसमे हिंसा का तत्त्व होता है और वह विप-मिश्रित दूध है । अपने अस्तित्व के लिए की गई हिंसा क्षम्य है तो दूसरो के अस्तित्व या रक्षण हेतु की गई हिंसा क्षम्य क्यो नही होगी ?

पुन दूसरो के अस्तित्व के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियो मे हमे रागात्मकता लगे तो क्या अपने हेतु की गयी वृत्ति मे रागात्मकता नही होगी । जव प्रवृत्ति या क्रिया से पूर्ण निवृत्ति सम्भव ही नही है तो ऐसी स्थिति मे क्रिया को वह रूप देना होगा जो वन्धन और हिंसा के स्थान पर विमुक्ति और अहिंसा से जुडे । मात्र कर्त्तव्य वुद्धि मे की गई परोपकार की प्रवृत्ति ही ऐसी है जो हमारी प्रवृत्ति को वन्धक से अवन्धक वना सकती है ।

यही कारण था कि जैन-परम्परा मे ईर्यापथिक क्रिया और ईर्या-

पथिक बन्ध की अवधारणा अस्तित्व मे आयी। ये बाह्य रूप से चाहे क्रिया और बन्ध कहे जाते हो, किन्तु ये वस्तुत बन्धन के नही, विमुक्ति के ही सूचक है। तीर्थंकर की लोककल्याण की समस्त प्रवृत्तियाँ भी ईर्यापथिक क्रिया और ईर्यापथिक बन्ध मानी गयी है। उनका प्रथम समय मे बन्ध होता है और द्वितीय समय मे निर्जरा हो जाती है। इस प्रकार वीतराग पुरुष की प्रवृत्ति रूप क्रिया के द्वारा जो आस्रव और बन्ध होता है उसका स्थायित्व एक क्षण भी नही होता है। उत्तराध्ययनसूत्र (25/42) मे कहा है कि जैसे गीली मिट्टी का गोला दीवाल पर फेकने से चिपक जाता है, किन्तु सूखी मिट्टी का गोला नही चिपकता, अपितु तत्क्षण गिर जाता है उसी प्रकार की स्थिति वीतरागभाव या निष्काम भाव से की गयी क्रियाओ की होती है। उनसे जो आस्रव होता है वह आत्मप्रदेशो से मात्र स्पर्शित होता है वस्तुत बन्धक नही होता। बन्धन का मूल कारण तो राग-द्वेष या कषायजन्य प्रवृत्ति है। अत निष्काम भाव से लोक-मगल के लिए दूसरो के दु खहरण के हेतु सेवा, परोपकार आदि जो प्रवृत्ति की जाती है वह क्रिया रूप होकर के भी बन्धक नही है और इस प्रकार जो लोग 'सकारात्मक अहिसा' मे बन्धन की सम्भावनाओ को देखते हैं, उनका चिन्तन सम्यक् नही है।

तीर्थंकरों की जीवन शैली और सकारात्मक अहिसा

जैन-परम्परा मे तीर्थंकर का पद सर्वोच्च माना जाता है। उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ मे तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन के जिन कारणो की चर्चा हुई उनमे हम देखते है कि सेवा और वात्सल्यमूलक प्रवृत्तियो को सबसे प्रमुख स्थान मिला है। उसमे वृद्ध, ग्लान-रुग्ण, बालक आदि की सेवा का स्पष्ट निर्देश है। यही नही परम्परागत रूप मे तीर्थंकर जीवन की जिन विशेषताओ की चर्चा की जाती है उनमे हम पाते है कि प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षित होने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन करोडो स्वर्ण मुद्राओ का दान करते है। यह अवधारणा स्वत ही इस तथ्य की सूचक है कि दान और सेवा की प्रवृत्ति तीर्थंकरो के द्वारा आचरित एव अनुमोदित है। जैन कथा-साहित्य मे यह बताया गया है कि भगवान शान्तिनाथ ने अपने पूर्वभव मे एक कबूतर की रक्षा करते हुए अपने शरीर का

मास तक दे दिया था। इस प्रकार अन्य तीर्थंकरो के जीवनवृत्तो मे भी प्राणियो के जीवनरक्षण के साथ-साथ उनकी सेवा, दान आदि की प्रवृत्ति के उदाहरण देखे जा सकते है। स्वय महावीर ने दीक्षित होने के पश्चात् न केवल निर्धन ब्राह्मण को अपना वस्त्र दान कर दिया, अपितु शीतलेश्या फेंक कर मिथ्यादृष्टि गोशालक की जीवन-रक्षा भी की।

मात्र यही नही, केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी तीर्थंकर मुख्यत लोककल्याण हेतु ही पदयात्रा करते हुए अपना प्रवचन देते है। केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तीर्थंकर के जीवन मे ऐसा कुछ शेष नही रहता जो उनके लिए प्राप्तव्य हो। प्रश्नव्याकरण मे स्पष्ट कहा गया है कि— "सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण सुकहिय" (2/1) अर्थात् भगवान ने समस्त जागतिक जीवो के रक्षण और दया के हेतु ही अपना उपदेश दिया। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वीतराग परमात्मा मे भी लोकमगल व लोककल्याण की भावना उपस्थित रहती है। यदि यह लोकमगल की वृत्ति रागात्मक होती तो फिर वीतराग मे यह कैसे उपस्थित रह सकती थी। इसका एक तात्पर्य यह है कि सयमी जीवन मे भी अपनी मर्यादाओ को ध्यान मे रखते हुए व्यक्ति लोकमगल की प्रवृत्तियो से जुडा रह सकता है।

क्या पुण्यकर्म बन्धन के हेतु हैं ?

सकारात्मक अहिसा अर्थात् जीवो की रक्षा और सेवा तथा उस हेतु की जाने वाली दान-परोपकार आदि की प्रवृत्तियो के महत्त्व और मूल्य को स्वीकारने मे सबसे अधिक बाधक अवधारणा यह है कि परोपकार, सेवा और प्राणिकल्याण की अन्य सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य-बन्ध की हेतु है, निर्जरा की हेतु नही और बन्धन चाहे पुण्य का हो या पाप का, वह बन्धन ही है और इसलिए अध्यात्म-साधना का विरोधी है। पुण्य को भी बन्धन का हेतु मानकर इन विचारको ने अहिसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा की। आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का अन्तर स्पष्ट करते हुए पुण्य को सोने की और पाप को लोहे की बेडी कहा और अन्त मे पुण्य और

पाप दोनो से ऊपर उठने की बात कही है (समयसार, 146)। यह सत्य है कि पुण्य और पाप की अधिकाश परिभाषाएँ इस अवधारणा पर खडी है कि दया और जीवन-रक्षण के जो कार्य हैं, वे पुण्य है और जो दूसरो के अहित और दु ख के कार्य हैं, वे पाप है। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि "परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।" गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है "परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीडा सम नहिं अधमाई।" यह सत्य है कि परोपकार पुण्य है और तत्त्वार्थसूत्र (6/2-4) मे उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनो को को आस्रव का एक भेद भी माना है और आस्रव को बन्ध का हेतु मानने के कारण बाद मे यह अवधारणा दृढीभूत हो गयी कि पुण्य बन्धन का ही हेतु है। किन्तु यह दृष्टिकोण जैन सिद्धान्त की दृष्टि से भी भ्रामक ही है। प्रथम तो सभी आस्रव वस्तुत बन्धन के कारण नही होते है दूसरे यह मानना भी भ्रान्ति है कि पुण्य मात्र आस्रव है। प्राचीन आगमो मे वह स्वतन्त्र तत्त्व है। वह आस्रव और बन्ध है तो साथ ही सवर और निर्जरा भी है। जैन आचार्यो ने शुभयोग को सवर माना है। वह निर्जरा भी है और निर्जरा का हेतु भी है। पुण्य तो उस साबुन के समान है जो पाप रूपी मल को निकालने के साथ स्वत बिना प्रयास के निर्जरित हो जाता है। ज्ञातव्य है कि पाप के बन्ध की निर्जरा करना होती है। पुण्य तो स्वत निर्जरित हो जाता है।

यह सत्य है कि यदि सेवा, परोपकार और जीवो के रक्षण के पीछे रागात्मकता का भाव है तो वे बन्धन के कारण हैं, किन्तु सेवा, परोपकार और जीवो के रक्षण की सभी प्रवृत्तियाँ रागात्मकता से हो प्रेरित होकर नही होती हैं, अपितु वे परपीडा के स्वसवेदन के कारण भी होती है। जब दूसरो के प्रति आत्मवत् दृष्टि का विकास हो जाता है तो उनकी पीडा हमारी पीडा बन जाती है और ऐसी स्थिति मे जिस प्रकार अपनी पीडा को दूर करने के प्रयत्न होते हैं, उसी प्रकार दूसरो की पीडा को दूर करने के भी प्रयत्न होते हैं। ज्ञानात्मक दृष्टि से आत्मतुल्यता का विचार और भावात्मक दृष्टि से परपीडा का स्व-सवेदन स्वाभाविक रूप से लोक-कल्याण की प्रवृत्तियो को अर्थात् रक्षण, सेवा, दान, परोपकार आदि को जन्म

देते है। अत यह मानना भ्रान्त है कि लोक-कल्याण की सभी प्रवृत्तियो के पीछे राग-भाव होता है। व्यावहारिक जीवन मे भी ऐसे अनेक अवसर होते है जब दूसरे प्राणी की पीडा से हमारी अन्तरात्मा करुणार्द्र हो जाती है और हम उसकी पीडा को दूर करने के प्रयत्न करते है। वहा रागात्मकता नही होती है। वहाँ केवल विवेक-बुद्धि और परपीडा के स्व-सवेदन से उत्पन्न कर्तव्यता का भाव ही होता है, जो उस सकारात्मक अहिसा का प्रेरक होता है। दूसरो के प्रति रागात्मकता मे और कर्तव्य-बोध मे बडा अन्तर होता है। राग के साथ द्वेष अवश्य रहता है। जबकि कर्तव्य-बोध मे उसका अभाव होता है। किसी राहगीर की पीडा से जो हृदय द्रवित होता है, वह राग के कारण नही, अपितु परपीडा के स्व-सवेदन या आत्मतुल्यता के भाव के कारण होता है। पालतू कुत्ते की पीडा को दूर करने मे और किसी सडक पर पडे कुत्ते की पीडा को दूर करने मे अन्तर है। पहले मे रागभाव है, दूसरे मे मात्र परपीडा का आत्मसवेदन। जब दूसरो के रक्षण, पोषण, सेवा और परोपकार के कार्य मात्र कर्त्तव्य बुद्धि अथवा परपीडा के आत्मसवेदन से होते है, तो उनमे रागात्मकता का तत्त्व नही होता और यह सुस्पष्ट है कि रागात्मकता के अभाव मे चाहे कोई क्रिया कर्मास्रव का कारण भी बने तो भी वह बन्धन कारक नही हो सकती, क्योकि उत्तराध्ययन (32/7) आदि जैन ग्रन्थो मे बन्धन का मुख्य कारण राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही मानी गयी है। दूसरो के रक्षण और सम्पोषण के प्रयत्नो मे चाहे किसी सीमा तक हिसा की बाह्य प्रवृत्ति भी हो सकती है, किन्तु वह यथार्थ रूप मे बन्धन का हेतु नही है। यदि हम ऐसी प्रवृत्तियो को बन्धन रूप मानेगे तो फिर तीर्थकर की लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियो अर्थात् लोकमगल के लिए विहार और उपदेश के कार्य को भी बन्धन का हेतु मानना होगा, किन्तु आगम के अनुसार उपदेश ससार के जीवो के रक्षण के लिए होता है, वह बन्धन का निमित्त नही होता है।

निष्कामकर्म बन्धक नही

इस समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि पुण्य कर्म यदि मात्र

कर्त्तव्य बुद्धि से अथवा राग-द्वेष से ऊपर उठकर किये जाते है तो वे बन्धक नही हैं। पुण्य बन्ध का कारण केवल तभी बनता है जब वह रागभाव से युक्त होता है। ज्ञातव्य है कि अपने किसी परिजन के रक्षण के प्रयत्नो की ओर मार्ग मे चलते हुए पीडा से तडफते किसी प्राणी के रक्षण के प्रयत्नो की मनोभूमिका कभी भी एक ही स्तर की नही होती है। प्रथम स्थिति मे रक्षण के समस्त प्रयत्न रागभाव से या ममत्वबुद्धि से प्रतिफलित होते है, जबकि दूसरी स्थिति मे आत्मतुल्यता के आधार पर परपीडा का स्व सवेदन होता है और यह परपीडा का स्व-सवेदन अथवा कर्त्तव्य बुद्धि ही व्यक्ति को परोपकार या पुण्य कर्म हेतु प्रेरित करती है।

जैन परम्परा मे सम्यग्दृष्टि जीव के आचरण के सम्बन्ध मे कहा गया है—सम्यक् दृष्टि जीवडा करे कूटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सू न्यारो रहे ज्यू धाय खिलावे बाल ॥

यह अनासक्त दृष्टि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत अलिप्तता और निष्कामता ही एक ऐसा तत्त्व है, जो किसी कर्म की बन्धक शक्ति को समाप्त कर देता है। जहाँ अलिप्तता है, निष्कामता है, वीतरागता है, वहाँ बन्धन नही। जिस पुण्य को बन्धन कहा जाता है वह पुण्य रागात्मकता से सपृक्त पुण्य है। हम यह नही कह सकते हैं कि विश्व मे समस्त प्रवृत्तियाँ राग सें ही प्रेरित होती है। अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से फलित होती है। दूसरे की पीडा हमारी पीडा इसलिए नही बनती है कि उसके प्रति हमारा रागभाव होता है, अपितु आत्मतुल्यता का बोध ही हमारे द्वारा उसकी पीडा के स्व-सवेदन का कारण होता है। जब किसी शहर मे पीडा से तडफते किसी मानव को सडक पर पडा हुआ देखते हैं तो हम करुणार्द्र हो उठते हैं—यहाँ कौन-सा रागभाव होता है। जो लोग दूर-दराज के गाँवो मे जाकर चिकित्सा शिविर लगवाते हैं—उनमे जो भी आते हैं, क्या उनके प्रति शिविर लगवाने वाले व्यक्ति का कोई राग-भाव होता है? वह तो यह भी नही जानता है कि उसमे कौन लोग आयेगे, फिर उन अज्ञात लोगो के प्रति उसमे राग-भाव कैसे हो सकता है? अत यह एक भ्रान्त धारणा है कि रक्षा, सेवा,

परोपकार आदि प्रवृत्तियो के पीछे सदैव रागभाव होता है। जब राग नही होता है तो द्वेष भी नही होता है और जहाँ राग-द्वेष का अभाव होता है वहॉ बन्धन सम्भव ही नही है। इसी प्रकार एक डाक्टर जब किसी रोगी के सडे हुए अग का आपरेशन करके उसे निकालता है तो उसमे उस सडे हुए अग मे निहित कीटाणुओ के प्रति द्वेष और रोगी के प्रति राग नही होता है, मात्र बचाने का भाव होता है। किसी प्यासे को पानी पिलाते समय हमे न तो जल के जीवो के प्रति द्वेष होता है और न प्यासे के प्रति राग। अत सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियॉ राग-द्वेष से प्रेरित नही होती है, अत वे बन्धक भी नही होती है।

वस्तुत सकारात्मक अहिसा अर्थात् जीवन-रक्षण, सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियॉ रागात्मकता पर आधारित न होकर "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना पर आधारित होती है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की यह अनुभूति तब तक यथार्थ नही बनती जब तक कि व्यक्ति के लिए दूसरो के पीडा और दु ख अपने नही बन जाते। यद्यपि जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि ससार के सभी प्राणी मेरे ही समान है। आचारागसूत्र (1/5/5) मे स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि "जिसे तू दु ख देना चाहता है वह तू ही है।" यहाँ विवेक और सवेदनशीलना के आधार पर ही "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना को खडा किया गया है। वह मात्र तार्किक नही है। जब तक ससार के सभी प्राणियो के प्रति आत्मवत् भाव उत्पन्न नही होता है तब तक अहिसा का अकुर प्रकट ही नही हो सकता। अहिसा के लिए रागात्मकता नही आत्मवत् दृष्टि आवश्यक है। क्योकि यदि रागात्मकता सकारात्मक अहिसा का आधार होगी तो व्यक्ति केवल अपनो की सेवा मे प्रवृत्त होगा, दूसरो की सेवा मे नही। सकारात्मक अहिसा अर्थात् रक्षा, सेवा आदि का आधार न तो प्रत्युपकार की भावना या स्वार्थ होता है और न राग। वह खडी होती है—विवेकजन्य कर्तव्य बोध के आधार पर।

क्या जीवन के सभी रूप समान महत्त्व के हैं ?

अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार यह अवधारणा रही कि जीवन के विविध रूप समान मूल्य और महत्त्व के है। परिणामस्वरूप जीवन के एक रूप को बचाने मे दूसरे रूपो की हिंसा अपरिहार्य होने पर जीवन-रक्षण के प्रयत्न को ही पाप या हिंसा मे परिगणित कर लिया गया। यह सत्य है कि एक के जीवन के रक्षण एव पोषण के लिये दूसरे जीवनो की कुर्बानी करनी ही पडती है। यदि हम एक वृक्ष या पौधे को जीवित रखना चाहते है तो उसे पानी तो देना ही होगा। वनस्पतिकाय के सरक्षण और वर्धन के लिए पृथ्वीकाय, अप्काय और वायुकाय की हिंसा अपरिहार्य रूप से होगी। यदि हम किसी त्रस प्राणी के जीवन-रक्षण का कोई प्रयत्न करते है, तो हमे न केवल वनस्पतिकाय की अपितु पृथ्वीकाय, अप्काय आदि की हिंसा से जुडना होगा। इस ससार मे जीवन जीने की व्यवस्था ही ऐसी है कि जीवन का एक रूप दूसरे रूप के आश्रित है और उस दूसरे रूप की हिसा के बिना हम प्रथम रूप को जीवित नही रख सकते। यह समस्या प्राचीन जैनाचार्यों के समक्ष भी आयी थी। इस समस्या का समाधान उन्होने अपने हिंसा के अल्प-बहुत्व के सिद्धान्त के आधार पर किया।

हिसा के अल्प-बहुत्व की यह अवधारणा मुख्यत दो दृष्टि से विचारित की गयी है—प्रथमत उस हिंसा-अहिंसा के पीछे रही हुई मनोवृत्ति या प्रेरक तत्त्व के आधार पर जो दो प्रकार का हो सकता है–1 विवेक पर आधारित और 2 भावना पर आधारित और दूसरे प्राण-वध के स्वरूप के आधार पर। विवेक पर आधारित कर्म के प्रेरक तत्त्व या मनोभूमिका मे मूलत यह बात देखी जाती है कि वह कर्म क्यो किया जा रहा है। वह कर्त्तव्य-बुद्धि से किया जा रहा है या स्वार्थ-बुद्धि से। मात्र कर्त्तव्य-बुद्धि से रागात्मकता के अभाव मे जो कर्म किये जाते हैं वे ईर्यापथिक होते हैं। दूसरे शब्दो मे उनके द्वारा होने वाला बन्धन नही होता है। इसके विपरीत जो कर्म स्वार्थपूर्ति के लिए होते है वे कर्मबन्धक होते हैं। यह सम्भव है कि व्यक्ति द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय हिसा हो या उसे हिंसा करनी पडे, किन्तु राग-द्वेष की वृत्तियो से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य के परिपालन मे

होने वाली हिंसा बधक या अनुचित नही होती। उदाहरण के रूप मे जैन मुनि आवश्यक क्रिया करते समय, प्रतिलेखन करते समय या पद यात्रा करते समय जो शारीरिक क्रियाये करता है उसमे हिंसा तो होती ही है। चाहे कितनी ही सावधानी क्यो न रखी जाय ये सभी क्रियाये हिंसा से रहित नही है फिर भी इन्हे मुक्ति का ही साधन माना जाता है, बन्धन का कारण नही। व्यावहारिक क्षेत्र मे न्यायाधीश समाज-व्यवस्था और अपने देश के कानून के अन्तर्गत कर्तव्य बुद्धि से अपराधी को दण्ड देता है, यहा तक कि मृत्युदण्ड भी देता है। क्या हम न्यायाधीश को मनुष्य की हत्या का दोषी मानेगे ? वह तो अपने नियम और कर्त्तव्य से बधा होने के कारण ही ऐसा करता है। अत उसके आदेश से हिंसा की घटना होने पर भी वह हिंसक नही माना जाता। अत मनोभूमिका की दृष्टि से जब तक अन्तर मे कषाय भाव या द्वेष-बुद्धि न हो तब तक बाह्य रूप मे घटित हिंसा की क्रिया न तो बन्धक होती है और न अनुचित। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि बाहर मे हिंसा की घटना घटित हो या न हो, प्रमत्त या कषाययुक्त व्यक्ति नियमत हिंसक ही होता है। उसके विपरीत बाह्य रूप मे हिंसा की घटना घटित होने पर भी कषायरहित अप्रमादी मुनि नियमत अहिंसक ही होता है। इसलिए यह मानना कि सकारात्मक अहिंसा मे बाह्य रूप से हिंसा की घटना होती है, अत वह अनुचित है—एक भ्रान्त दृष्टिकोण है। हिंसा की घटना घटित होने पर भी यदि कर्त्ता ने वह कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किया है, उसके मन मे दूसरे को पीडा पहुँचाने का भाव नही है, तो वह हिंसक नही माना जा सकता। जो कर्म विवेकपूर्वक और निष्काम भाव से किये जाते है उनमे हिंसा अल्प या अत्यल्प होती है। भावना या रागात्मकता की स्थिति मे भी जो प्रशस्त राग-भाव है उसमे हिंसा अल्प मानी गई है।

एक पचेन्द्रिय जीव की हिंसा मे हिंसा के अल्प-बहुत्व का निर्णय करना हो तो जैनाचार्यों की दृष्टि मे हजारो एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा की अपेक्षा एक पचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा अधिक भयकर मानी गयी है।

स्वय महावीर के युग मे भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि अनेक एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा एक पचेन्द्रिय जीव की हिंसा मे कौन-सी हिंसा अल्प है ? उनके युग मे हस्ति-तापसो का एक वर्ग था जो यह कहता था कि हम तो वर्ष मे केवल एक हाथी को मारते हैं और उसके मॉस से पूरे वर्ष अपनी आजीविका की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार हम सबसे कम हिंसा करते हैं (सूत्रकृताग 2/6/53-54)। इस विचारधारा का स्वय महावीर ने खडन किया और बताया कि यह अवधारणा भ्रात है। भगवतीसूत्र मे इस प्रश्न पर और भी अधिक गम्भीरता से विचार हुआ है। उसमे बताया गया है कि अनेक एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा की अपेक्षा पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा और उनमे भी एक ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट होती है (भगवतीसूत्र 9/34/106-107)। अत जैन दृष्टिकोण से हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियो की सख्या पर नही, उनके ऐन्द्रियक एव आध्यात्मिक विकास पर निर्भर करता है। जब चुनाव दो हिंसाओ के बीच करना हो तो हमे चुनाव अल्प हिंसा का ही करना होगा और इसमे हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियो की सख्या पर नही उनके ऐन्द्रियक विकास पर ही निर्भर करेगा।

यदि हम एक ओर यह माने कि अपने जीवन-रक्षण हेतु हम एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा कर सकते है और उसका हमे अधिकार है और दूसरी ओर यह कहे कि चूँकि दूसरे प्राणियो के रक्षण, पोषण, सेवा आदि की प्रवृत्तियो मे एकेन्द्रिय आदि जीवो की हिंसा जुडी हुई है अत त्याज्य है, तो यह आत्म-प्रवचना ही होगी। गृहस्थ जीवन तो क्या मुनि-जीवन मे भी कोई व्यक्ति एकेन्द्रिय जीवो के प्रति पूर्ण अहिंसक नही हो पाता है। अत एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा से बचने के नाम पर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना न तो उचित है और न नैतिक ही।

सकारात्मक अहिंसा और सामाजिक जीवन

सकारात्मक अहिसा इसलिए भी आवश्यक है क्योकि वह हमारे सामाजिक जीवन का आधार है। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' सामाजिक जीवन से अलग होकर उसके अस्तित्व की कल्पना ही दुष्कर है। सकारात्मक अहिसक चेतना अर्थात् सवेदनशीलता के अभाव मे हम समाज की कोई कल्पना भी नही कर सकते है। समाज जब भी खडा होता है तब आत्मीयता, प्रेम, पारस्परिक सहयोग और दूसरे के लिए अपने हित-त्याग के आधार पर खडा होता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि एक दूसरे का हित करना यह प्राणीय-जगत का नियम है (परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थसूत्र 5 21)। पाश्चात्य चिन्तको की यह भ्रान्त अवधारणा है कि सघर्ष प्राणीय जगत् का नियम है। जीवन का नियम सघर्ष नही, सहकार है। जीवन सहयोग और सहकार की स्थिति मे ही अस्तित्व मे आता है और विकसित होता है। सहयोग और अपने हितो का दूसरे के हेतु उत्सर्ग समाज-जीवन का आधार है। दूसरे शब्दो मे समाज सदैव ही सकारात्मक अहिसा के आधार पर खडा होता है। निषेधात्मक अहिसा चाहे वैयक्तिक साधना का आधार हो, किन्तु वह सामाजिक जीवन का आधार नही हो सकती। आज जिस अहिंसक समाज की रचना की बात कही जाती है, वह समाज जब भी खडा होगा सकारात्मक अहिसा के आधार पर ही खडा होगा। जब तक समाज के सदस्यो मे एक-दूसरे की पीडा को समझने और उसे दूर करने के प्रयत्न नही होगे तब तक समाज अस्तित्व मे ही नही आ पायेगा। सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि हमे दूसरो की पीडा का स्व-सवेदन हो और उनके प्रति आत्मीयता का भाव हो।

सामान्य रूप से इस आत्मीयता को रागात्मकता समझने की भूल की जाती है। किन्तु आत्मीयता एव रागात्मकता मे अन्तर है। रागात्मकता सकाम होती है, उसके मूल मे स्वार्थ का तत्त्व विद्यमान रहता है, वह प्रत्युपकार की अपेक्षा रखती है, जबकि आत्मीयता निष्काम होती है, उसमे मात्र परार्थ की वृत्ति होती है। यही कारण

था कि प्रश्नव्याकरणसूत्र मे अहिंसा के जो विविध नाम दिये गये उसमे रति को भी स्थान दिया गया। यहाँ रति का अर्थ वासनात्मक प्रेम या द्वेषमूलक राग-भाव नही है, यह निष्काम प्रेम है। वस्तुत जब आत्मीयता का भाव प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखता हो और वह सार्वभौम हो, तो आत्मीयता कहलाता है। वस्तुत जब तक अन्य जीवो के साथ समानता की अनुभूति, उनके जीवन जीने के अधिकार के प्रति सम्मान-वृत्ति और उनकी पीडाओ का स्व-सवेदन नही होता तव तक अहिसक चेतना का उद्‌भव भी नही होता। अहिंसक चेतना का मूल आधार आत्मीयता की अनुभूति है। वह सार्वभौमिक प्रेम है। वह ऐसा राग-भाव है जिसमे द्वेष का कोई अश ही नही होता है। जिसमे ससार के समस्त प्राणी 'स्व' ही होते है, 'पर' कोई भी नही होता है। वस्तुत ऐसा राग, राग ही नही होता है। राग सदैव द्वेष के सहारे जीवित रहता है। द्वेष, स्वार्थ और प्रत्युपकार की आकाक्षा से रहित जो राग-भाव है वह सार्वभौमिक प्रेम होता है। वही आत्मीयता है और यह आत्मीयता ही सामाजिकता का आधार है। घृणा, विद्वेष और आक्रामकता की वृत्तियाँ सदैव ही सामाजिकता की विरोधी होती है। वे हिसा का ही दूसरा रूप है। ये वृत्तियाँ जब भी बलवती होगी, सामाजिकता की भावना ही समाप्त हो जाएगी, समाज ढह जावेगा। समाज जब भी खडा होगा तब वह न तो हिसा के आधार पर खडा होगा और न मात्र निषेधमूलक निरपेक्ष अहिंसा के आधार पर। वह हमेशा सकारात्मक अहिसा के आधार पर ही खडा होगा। यद्यपि हमे यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार सकारात्मक अहिंसा के सम्पादन मे निरपेक्ष-अहिसा या परिपालन सम्भव नही है, उसी प्रकार सामाजिक-जीवन मे भी निरपेक्ष अहिंसा या पूर्ण अहिंसा का परिपालन सम्भव नही है।

समाज-जीवन का आधार जो सकारात्मक अहिंसा है, वह सापेक्ष अहिसा या सापवादिक अहिसा है। समाज-जीवन के लिए समाज के सदस्यो के हितो के सरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहा अस्तित्व की सुरक्षा और हितो के सरक्षण का प्रश्न होता है वहाँ निरपेक्ष अहिंसा सम्भव नही होती। समाज-जीवन मे हितो मे टकराहट स्वाभाविक है। अनेक वार एक हित, दूसरे के अहित पर ही निर्भर करता है।

ऐसी स्थिति मे समाज-जीवन मे या सघीय जीवन मे पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार नही हो पाता है, उसमे अपवाद को मान्य करना ही होता है। जब वैयक्तिक हितो और सामाजिक हितो मे सघर्ष की स्थिति हो तो हम पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर तटस्थ द्रष्टा नही बने रह सकते है। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितो मे सघर्ष हो तो हमे समाज हित मे वैयक्तिक हितो का बलिदान करना ही होता है। फिर चाहे वे हित हमारे स्वय के हो या किसी अन्य के। जब कोई समाज, राष्ट्र या उसका कोई सदस्य या वर्ग अपने क्षुद्र हितो की पूर्ति के लिए हिंसा अथवा अन्याय पर उतारू हो जाय, तो निश्चय ही पूर्ण अहिंसा की दुहाई देकर तटस्थ द्रष्टा बने रहने से कोई काम नही चलेगा। जब तक जैनाचार्यो द्वारा उद्घोषित सम्पूर्ण मानव समाज की एकता की कल्पना पूर्ण साकार नही होती है, जब तक सम्पूर्ण समाज अहिंसा के पालन के लिए प्रतिबद्ध नही होता है, तब तक मानव समाज मे पूर्ण अहिंसा या निरपेक्ष अहिंसा के परि-पालन का दावा करना सम्भव नही है।

जैनधर्म जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करता है उसमे भी जब सघ की अथवा सघ के एक सदस्य की सुरक्षा का प्रश्न आया तो जैन आचार्यों ने सापेक्षिक या सापवादिक अहिंसा को ही स्वीकार किया। जैन साहित्य मे आचार्य कालक और गणाधिपति चेटक के उदाहरण इसके स्पष्ट प्रमाण है। निशीथचूर्णि (गाथा 289) मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब सघ की सुरक्षा अथवा किसी सती स्त्री के सतीत्व के रक्षण का प्रश्न हो तो गृहस्थ ही नही, मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसी स्थिति मे बाह्य रूप से हिंसा की जो घटना घटित होती है, उसे चाहे द्रव्य हिंसा की दृष्टि से हिंसा कहा जाय, किन्तु यदि उसमे कर्त्ता की वृत्ति मे निजी स्वार्थ और अपराधी के प्रति द्वेष भाव नही है, तो ऐसी हिंसा वस्तुत अहिंसा ही है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक वृत्तियो मे आस्था रखता हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि सामुदायिक जीवन मे पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। जो लोग सकारात्मक अहिंसा अर्थात् रक्षण, सेवा, सहकार आदि जीवन मूल्यो को केवल इस आधार पर अमान्य करते हैं कि उनसे

निरपेक्ष या पूर्ण अहिंसा का पालन सम्भव नही है, उनकी यह अवधारणा उचित नही कही जा सकती है।

निशीथचूर्णि मे अहिंसा के जिन अपवादो की चर्चा है उन्हे चाहे कुछ लोग साध्वाचार के रूप मे सीधे मान्य न करना चाहते हो किन्तु क्या यह नपु सकता नही होगी कि जब किसी मुनिसघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे पूर्ण अहिंसा के परिपालन की दुहाई देकर द्रष्टा बने रहे ? क्या उनका कोई सामाजिक दायित्व नही है ? हिंसा-अहिंसा का प्रश्न निरा वैयक्तिक नही है। जब तक सम्पूर्ण मानव-समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर नही होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा पूर्ण अहिंसा का उद्घोष कोई अर्थ नही रखता। अधिक क्या कहे, यदि सम्पूर्ण समाज षड्-जीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा के आदर्श के परिपालन की बात करने लगे तो क्या जैनमुनि सघ का भी कोई अस्तित्व रहेगा। अत पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना कथमपि उचित नही मानी जा सकती। सरक्षणात्मक व सुरक्षात्मक प्रयासो मे जो हिंसा की बाह्य घटनायें होती हैं वे सामाजिक जीवन के लिए अपरिहार्य है।

अहिंसा मे अपवाद मानने वालों को सकारात्मक अहिंसा-निषेध का अधिकार नहीं

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से तो आन्तरिक है। बाह्यरूप मे हिंसा के होने पर भी राग-द्वेष की वृत्तियो से ऊपर उठा अप्रमत्त मनुष्य अहिंसक है। जबकि बाह्यरूप मे हिंसा न होने पर भी प्रमत्त मनुष्य हिंसक ही है। एक ओर सकारात्मक अहिंसा को केवल इसलिए अस्वीकार करना कि उसमे कही न कही हिंसा का तत्त्व होता है, किन्तु दूसरी ओर अपने अथवा अपने सघ और समाज के अस्तित्व के लिए अपवादो की सर्जना करना न्यायिक दृष्टि से सगत नही है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि किसी मुनि के वैयक्तिक जीवन अथवा मुनि सघ के अस्तित्व के लिए अहिंसा के क्षेत्र मे कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते हैं तो हमे यह भी स्वीकार

करना होगा कि लोककल्याण या प्राणिकल्याण के लिए जो प्रवृत्तियाँ सचालित की जाती है, उनमे भी अहिंसा के कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते है।

पुन जो गृहस्थ षड्जीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा का व्रत ग्रहण नही करता है और जो न केवल अपने लिए, अपितु अपने परिजनो के लिए एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा से पूर्णत विरत नही है अथवा जो त्रस प्राणी की सकल्पजा हिंसा को छोडकर आरम्भजा, उद्योगजा और विरोधजा हिंसा का पूर्ण त्यागी नही है, उसे दूसरे जीवो के रक्षण-पोषण और उनकी पीडा के निवारण के प्रयत्नो को केवल यह कहकर नकारने का कोई अधिकार नही है कि उनमे हिंसा होती है। इस हिंसा के भय से सकारात्मक अहिंसा की अव-हेलना करना योग्य नही है। वह गृहस्थ के लिए एक कर्त्तव्य है और उसे निष्काम भाव से उसे करना है।

सकारात्मक अहिंसा में घटित हिंसा, हिंसा है

फिर भी यह आवश्यक है कि हम ऐसी हिंसा को हिंसा के रूप मे समझते रहे, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जायेगा। विव-शता मे चाहे हमे हिंसा करनी पडे, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नही पावे अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अग बन जावेगी जैसे कसाई बालक मे। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नही है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी सवेदन-शीलता जागृत रहे, हृदय मे दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमे अहिंसा को हृदय-शून्य नही बनाना है। क्योकि यदि हमारी सवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन मे हिंसा की मात्रा को अल्पमत करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध कर सकेंगे, साथ ही हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज मे सेवा और सहयोग की गगा भी बहा सकेगी।

साथ ही जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओ मे किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमे अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु

कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातो पर निर्भर करेगा। यहाँ हमे जीवन की मूल्यवत्ता को भी आकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातो पर निर्भर करती है—1 प्राणी का ऐन्द्रियक एव आध्यात्मिक विकास और 2 उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतया मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यो मे भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति मे किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। सम्भवत हिंसा-अहिंसा के विवेक मे जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि मे उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चीटियो के प्रति तो सवेदनशील बन सके, किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमे अपनी सवेदनशीलता को मोडना है और मानवता के प्रति हिंसा को सकारात्मक बनाना है।

सकारात्मक अहिंसा का महत्त्व

जैनधर्म मे अहिसा के सकारात्मक पक्ष का महत्त्व एव स्थान प्राचीनकाल से ही रहा है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक कुछेक अपवादो को छोडकर सभी जैनाचार्यों ने सकारात्मक अहिंसा के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार किया है। वे सदैव ही गृहस्थ के लिए उसे आचरणीय मानते रहे है। आज चाहे भारत मे जैनो की सख्या मात्र एक प्रतिशत हो, किन्तु उनके द्वारा सचालित चिकित्सालयो, पशु-पक्षी चिकित्सालयो, गोशालाओ, पाजरापोलो, विद्यालयो और महाविद्यालयो की सख्या कही अधिक है। आज देश मे इस प्रकार की लोकमगलकारी प्रवृत्तियो मे जुडी हुई जो सस्थाएँ अथवा ट्रस्ट हैं, उनमे लगभग 30% जैनो के द्वारा सचालित है। अकालादि के अवसरो पर प्राणियो के रक्षार्थ जैन समाज का जो योगदान होता है, उसे कोई भी नही भुला पाता है। जब भी मानव-समाज ही नही अपितु पशु-पक्षियो के भी जीवनरक्षण का प्रश्न आया है, जैन समाज ने सदैव ही उसमे आगे वढकर हिस्सा लिया है। जैन समाज मे आज भी अनेक ऐसे मूक कार्यकर्त्ता है जो तन-मन-धन से लोककल्याणकारी प्रवृत्तियो मे अपना योगदान देते है। इसके पीछे सदैव ही जैन

आचार्यों और मुनिजनो की प्रेरणा निहित रही है । जैनधर्म मे अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष का कितना मूल्य और महत्त्व है इसके लिए हम अपनी ओर से कुछ न कह कर प्रश्न-व्याकरणसूत्र के ही निम्न वचन उद्धृत करना चाहेगे—

एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाणं विव सरणं,
पक्खीणं विव गमणं,
तिसियाणं विव सलिलं,
खुहियाणं विव असणं,
समुद्दमज्झे व पोयवहणं,
चउप्पयाणं व आसमपयं,
दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं,
अडवीमज्झे व सत्थगमण,
एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-खेमंकरी ।

यह अहिंसा भगवती जो है, सो
(ससार के समस्त) भयभीत प्राणियो के लिए शरणभूत है,
पक्षियो के लिए आकाश मे गमन करने—उडने के समान है,
यह अहिसा प्यास से पीडित प्राणियो के लिए जल के समान है,
भूखों के लिए भोजन के समान है,
समुद्र के मध्य मे डूबते हुए जीवो के लिए जहाज के समान है,
चतुष्पद—पशुओ के लिए आश्रम-स्थान के समान है,
दु.खो से पीडित —रोगीजनो के लिए औषध-बल के समान है,
भयानक जगल मे सहयोगियो के साथ गमन करने के समान है ।

मात्र यही नही, भगवती अहिसा तो इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, यह त्रस ओर स्थावर सभी जीवो का क्षेम कुशल-मगल करने वाली है ।

यह लोक-मगलकारी अहिसा जन-जन के कल्याण मे तभी सार्थक सिद्ध होगी, जब इसके सकारात्मक पक्ष को उभार कर जन-साधा-

रण के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा और करुणा एव सेवा की अन्तश्चेतना को जागृत किया जायेगा। मानव समाज मे से हिंसा, सघर्ष और स्वार्थपरता के विष को तभी समाप्त किया जा सकेगा, जब हम दूसरो की पीडा का स्व-सवेदन करेगे, उनकी पीडा हमारी पीडा वनेगी। इससे अहिंसा की जो धारा प्रवाहित होगी, वह सकारात्मक होगी और करुणा, मैत्री, सहयोग एव सेवा के जीवन-मूल्यो को विश्व मे स्थापित करेगी।

प्रस्तुत कृति मे श्री कन्हैयालाल जी लोढा ने अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष को अधिक स्पष्टता और आगमिक प्रमाणो के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। श्री कन्हैयालाल जी लोढा जैन-दर्शन के गम्भीर अध्येता हैं। उनकी लेखनी से प्रसूत यह ग्रन्थ अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करने मे सफल होगा। कृति के प्रकाशक श्री देवेन्द्रराजजी मेहता रोगियो और समाज के उपेक्षित एव प्रताडित वर्ग की सेवा के कार्य मे प्रारम्भ से ही जुडे हुए हैं, वे सकारात्मक अहिंसा की जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। प्रस्तुत कृति का प्रणयन भी उन्ही की प्रेरणा से हुआ है। कृति के उत्तरार्द्ध मे विभिन्न विचारको के विचारो का सकलन किया गया है। इससे भी अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की पुष्टि मे सहयोग मिलेगा।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से जन-जन मे निष्काम प्रेम, करुणा और सेवा की भावना जागृत हो एक इसी आशा के साथ।

निदेशक
पार्श्वनाथ शोधपीठ
आई टी आई रोड, वाराणसी

प्रथम-खण्ड

(कन्हैयालाल लोढा)

अहिसा का सकारात्मक रूप

मानवजीवन की विशेषता

ससार को देखने से ऐसा विदित होता है कि जिस प्रकार पशु-पक्षी, कीट-पतग, वनस्पति आदि प्राणी जन्म लेते हैं, खाते-पीते है, भोग-भोगते है और अन्त मे मर जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य भी जन्म लेता, खाता-पीता, भोग भोगता है और अत मे मर जाता है। फिर अन्य योनियो के जीवो से मनुष्य मे क्या अतर हुआ ? क्या विशेषता हुई ? इस जिज्ञासा पर गहराई से चिन्तन करने से यह तथ्य सामने आता है कि पशु का जीवन विषय-सुख, इन्द्रिय सुख के भोग भोगने तक ही सीमित होता है, वह इससे ऊपर नही उठ सकता है, वह भोग-योनि है। जबकि मनुष्य अपनी सुख-सामग्री का उपयोग दूसरो के दु ख दूर करने मे, उन्हे प्रसन्न बनाने मे कर सकता है, इस प्रकार विषय (भोग) सुख से ऊपर उठकर मनुष्य एक विलक्षण प्रकार की प्रसन्नता की, परमानन्द की उपलब्धि कर सकता है, जो पशु के लिए सहज सभव नही है। दूसरो के दु ख से करुणित हो उनके दु ख को दूर करने का भाव व प्रयास ही मानवता है। मानवता का ही दूसरा नाम दया या अहिंसा है ।

मानवता से विशेष प्रकार की प्रसन्नता मिलती है। यह प्रसन्नता विषय-भोग या इन्द्रिय-सुख की अपेक्षा विलक्षण है। कारण कि इन्द्रियो के विषय-भोग से मिलने वाले सुख के साथ नश्वरता अनित्यता, क्षीणता, नीरसता, पराधीनता, शक्तिहीनता, जडता आदि असख्य दोष व दु ख सदा लगे रहते है इसका विशेष विवेचन लेखक की "दु ख मुक्ति सुख प्राप्ति" पुस्तक के प्रकरण 2, 3, 4 मे किया गया है। इसके विपरीत मानवता से, करुणाभाव से, दूसरो के दु ख दूर करने से तथा दयाभाव से मिली हुई प्रसन्नता का सुख सदा सरस बना रहता है, क्षीण नही होता, अक्षय होता है। दूसरो को दु ख से बचाने व उनके दु ख दूर करने के उपाय या प्रयास को अहिसा कहा जाता है। आगे इसी "अहिंसा" के सबध मे विचार किया जा रहा है।

अहिंसा का अर्थ

'अहिंसा' शब्द हिंसा शब्द के पूर्व 'अ' (न हिंसा इति अहिंसा) लगने से बना है। "अ" (नञ्) का प्रयोग अभाव, विरोध (विलोम-विपरीत) अल्प आदि अनेक अर्थो मे होता है। जैसे 'अधर्म' शब्द को ही ले। अधर्म का अर्थ धर्म का अभाव तो है ही, साथ ही धर्म के विपरीत कार्य हिसा, झूठ, चोरी आदि पाप करना भी अधर्म ही है। यदि कोई 'अधर्म' का अर्थ 'धर्म न करने' जैसा रूप ही ले और हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप प्रवृत्तियो को न ले तो 'अधर्म' शब्द का ऐसा अर्थ करना अधूरा, एकागी एव भ्रान्तियुक्त होगा। ऐसे ही उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 20 गाथा 37 के उत्तरार्द्ध मे कहा है—

'अप्पा मित्तममित्त च दुप्पटिठय-सुप्पट्ठिओ'

इस गाथा मे सुप्रवृत्ति को आत्मा का मित्र और दुष्प्रवृत्ति को अमित्र कहा है। यहा अमित्र शब्द का अर्थ मित्र न होने तक ही सीमित नही है अपितु मित्र के विपरीत अर्थ वाचक 'शत्रु होने' के अर्थ मे लिया गया है। इसी प्रकार अहिंसा शब्द का अर्थ हिसा का ।व तो है ही साथ ही हिसा के विपरीत कार्य दया, दान, करुणा ।, वात्सल्य, भ्रातृत्व, मैत्री, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियाँ या सद्गुण भी है। यदि कोई 'अहिंसा' का अर्थ केवल हिसा न करने जैसा रूप ही ले और दया, दान आदि सद्प्रवृतियो को न ले तो अहिसा का ऐसा अर्थ अधूरा, एकागी (विकलाग) व भ्रान्तियुक्त होगा। परन्तु वर्तमान मे जैन-धर्म के कुछ सप्रदायो ने 'अहिंसा' शब्द का अर्थ न केवल हिसा न करने रूप निषेधात्मक अर्थ तक ही सीमित कर दिया है प्रत्युत वे दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृतियो व सद्गुणो रूप अहिसा के सकारात्मक अर्थ के द्योतक कार्यो का निषेध व विरोध भी करते है और इसकी पुष्टि मे कारण यह दिया जाता है कि सकारात्मक अहिसा के दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सब रूप प्रवृत्तिपरक हैं और प्रवृत्ति मे क्रिया होती है, क्रिया से कर्मबध होता है। अत दया, दान आदि से कर्मबध होता है। कर्मबध ससार के परिभ्रमण-रूप दु.ख का कारण है, अतः

प्रवृत्तिपरक होने से दया, दान आदि का अहिंसारूप धर्म मे स्थान नही हो सकता तथा उनका मानना है कि ये दया, दान आदि सद्-प्रवृत्तिया सोने की बेडी व शूली के समान हैं जबकि हिंसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तिया लोहे की वेडी व शूली के समान हैं। उनकी मान्यतानुसार सद्प्रवृत्तियो एव दुष्प्रवृत्तियो मे इतना ही अन्तर है। इस विचार-धारा का जैन-धर्मानुयायियो मे कुछ दशाब्दी से सक्रामक रोग के रूप मे बडी तेजी से प्रचार-प्रसार हुआ है व हो रहा है। इसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप से जैन-धर्म के प्राय. सभी सप्रदायो पर पडा है इसके परिणामस्वरूप जीवन मे से दया, दान, मैत्री, करुणा, अनुकपा सेवा, वात्सल्यभाव, उदारता आदि सगुद्गो की उपेक्षा एव लोप होने लगा है तथा निर्दयता, हृदयहीनता, निष्ठुरता, कठोरता, क्रूरता स्वार्थपरता, सकीर्णता आदि दुर्गुणो का पोषण होने लगा है। जिससे जीवन मानवता व कर्त्तव्यपरायणता से शून्य होता जा रहा है और ऊपर से तुर्रा यह है कि इसे उच्चस्तरीय अध्यात्म का रूप दिया जा रहा है।

उपर्युक्त बातो व इन्ही से सबन्धित अन्य बातो को दृष्टिगत करके प्रस्तुत पुस्तक मे जैनागम, कर्मसिद्धान्त, प्राचीन टीकाओ, मनो-विज्ञान, जीवन-व्यवहार आदि के परिप्रेक्ष्य मे यह विवेचन किया जाएगा कि दया, दान आदि अहिंसा के जितने भी सकारात्मकरूप सद्गुण व सद्प्रवृत्तिया हैं वे सब की सब स्वभाव है अत इनसे कर्मों का बध नही होता अपितु कर्मों का क्षय अवश्य होता है। कर्मक्षय के हेतु होने से ये सब धर्म हैं। सद्प्रवृत्तिया, सयम, त्याग, तप आदि जितने भी धर्म है उन सबसे पुण्य का उपार्जन या सृजन होता है। पुण्य से आत्मा के किसी भी गुण का लेशमात्र भी घात नही होता है, हानि नही होती है अपितु विशुद्धि होती है तथा पाप का क्षय होता है। अत' पुण्य किसी भी रूप मे त्याज्य नही है। वस्तुत पुण्य और धर्म एक ही सिक्के के दो पहलू है व पर्यायवाची हैं आगे इन्ही सब बातो पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

अहिंसा के दो रूप

गुण के दो रूप होते हैं—(1) नकारात्मक और (2) सकारात्मक

उदाहरणार्थ सत्य महाव्रत को ही ले। सत्य का नकारात्मक रूप है— झूठ न बोलना और सकारात्मक रूप है सत्य बोलना। यदि हम सत्य के सकारात्मक रूप 'सत्य बोलने' का निषेध करदे तो सत्य का नकारात्मक रूप ही शेष रह जायेगा 'न बोलना', कारण कि बोलना दो ही प्रकार का होता है—झूठ बोलना और सत्य बोलना। जब दोनो प्रकार के बोलने का निषेध हो जाता है तो न बोलना शेष रह जाता है। यदि अब हम न बोलने को ही सत्य माने तो जो जो जीव नही बोलते या इस समय नही बोल रहे है वे सब के सब सत्य गुण के धारी कहलायेगे जैसे पेड, पौधे, गू गे व्यक्ति आदि। परन्तु ऐसा मानना भयकर भूल है। 'कोई व्यक्ति नही बोल रहा है इसलिए सत्य गुण का पालन या अनुशीलन कर रहा है,ऐसा ज्ञानी की तो क्या कहे अज्ञानी से अज्ञानी भी नही मानता और उसका ऐसा न मानना उपयुक्त व उचित ही है। अत 'सत्य' गुण मे असत्य न बोलने के साथ सत्य बोलना भी जुडा हुआ है। उसी प्रकार अहिंसा गुण के भी ये दो रूप है। अहिंसा का नकारात्मक रूप है हिंसा न करना, किसी को न मारना, कष्ट न देना और सकारात्मक रूप है दया करना, रक्षा करना, कष्ट दूर करना आदि। यदि अहिंसा के सकारात्मक रूप का निषेध कर केवल निषेधात्मक रूप को ही माना जाय तो अहिंसा मात्र अभावरूप हो जायेगी। अभाव का अस्तित्व ही नही होता। जिसका अस्तित्व ही नही है उसे गुण कैसे कहा जाय?

अभिप्राय यह है कि गुण सद्भावात्मक होता है अभावात्मक नही। अतः गुण का प्रकटीकरण उसके विधेयात्मक रूप से ही सभव है। अभावात्मक रूप उस गुण के घातक एव उसके विपरीत दोष का ही होता है, गुण का नही। अनुकपा या करुणा गुण का प्रकटीकरण दया, दान आदि क्रियात्मक व विधेयात्मक रूप मे होता है, किसी जीव को न मारने मे या दुख न देने मात्र मे नही। यदि किसी जीव को न मारने को ही दया या अहिंसा माना जाय तो इस प्रकरण को पढते समय अर्थात् इस क्षण पाठक पशु, पक्षी, मनुष्य, वनस्पति आदि अनत जीवो को नही मार रहे हैं तथा भयकर से भयकर हिंसक प्राणी भी हिंसा करते समय गिनती के कुछ जीवो

की ही हिंसा करते हैं, शेष रहे अनतानत जीवो की हिंसा नही करते हैं। अत वे सब भी अहिंसक ही कहलायेगे। परन्तु ऐसा मन्तव्य उपयुक्त नही है। वास्तव मे करुणा, अनुकपा या दया का अर्थ किसी प्राणी को न मारने रूप अहिंसा तक ही सीमित नही है, प्रत्युत इसके विधेयात्मक रूप दान, सेवा, सहयोग, वात्सल्यभाव, मैत्री आदि भी इसमे सम्मिलित हैं। इन विधेयात्मक रूपो को निकाल देने पर अहिंसा का केवल निषेधात्मक रूप रह जाता है।

वस्तुत गुण का निषेधात्मक अर्थ वाला रूप दोष के निषेध या अभाव का द्योतक होता है। दोष का अभाव तो होना ही चाहिए। कारण कि इससे सद्गुण की अभिव्यक्ति की भूमिका तैयार होती है, पात्रता आती है। जिसके बिना गुण का विधेयात्मक रूप फलित या प्रकट हो ही नही सकता। अत गुण का सद्भाव विधेयात्मक अर्थ मे ही सन्निहित है, अभावात्मक अर्थ मे नही। तात्पर्य यह निकला कि गुण सद्भावरूप होता है, अभावरूप नही। अत अहिंसागुण दया या दानरूप होता है। दान आत्मा का निज गुण है। इसलिए वीतराग देव मे अनतदान माना गया है। आत्मा के निजगुणो मे दान-रूप विधेयात्मक दया व अहिंसा को स्थान दिया गया है, केवल निषेधात्मक अहिंसा को नही। जैसे 'अज्ञान' शब्द का अर्थ ज्ञान की कमी का द्योतक तो है ही साथ ही विपरीत ज्ञान का भी द्योतक है। ऐसे ही अहिंसा शब्द हिंसा की कमी का द्योतक तो है ही साथ ही हिंसा के विपरीत दया, दान, सेवा आदि का भी द्योतक है।

विधिपरक अहिंसा से रहित यदि केवल निषेधपरक अहिंसा को ही अपनाया जायेगा तो निष्ठुरता, स्वार्थपरता, क्रूरता, रूखापन, निष्क्रियता, अकर्मण्यता, असामाजिकता, सकीर्णता, आदि अगणित भयकर दोष उत्पन्न हो जायेगे जो उस व्यक्ति, समाज और विश्व के लिए घोर घातक सिद्ध होगे।

निषेधात्मक अहिंसा का अपना स्थान है। यदि अहिंसा हिंसा से विपरीत न हुई तो विधिपरक अहिंसा की लोक-कल्याण, समाज-सेवा, परोपकार आदि प्रवृत्तियो मे हिंसा का समावेश हो

जायेगा। इस प्रकार सेवा आदि सद्-प्रवृत्तियो में विकृति आ जायेगी, वे दूषित हो जायेगी। अत निवृत्ति-परक अहिंसा तो आवश्यक है ही, परन्तु उसे ही सम्पूर्ण अहिंसा मान लेना भ्रम है। अत साधक के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो की समान आवश्यकता है। कहा भी है—

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्त ॥

आचार्य नेमिचन्द्र

अर्थात् हिंसादि अशुभ कार्यो से निवृत्ति व दया आदि शुभ कार्यो मे प्रवृत्ति ही चारित्र है।

वस्तुत निष्क्रियता रूप अकर्मण्यता का नाम अहिंसा नही है। अहिंसा मे विश्वबन्धुत्व, भ्रातृत्वभाव, मातृत्वभाव, वात्सल्यभाव, मैत्रीभाव, करुणाभाव, अनुकपाभाव, सर्वहितकारी-भाव, सेवाभाव, आदि सन्निहित हैं। अहिंसा का क्षेत्र "जीओ और जीने दो" तक ही सीमित नही है अपितु दूसरो के प्रति करुणा कर उन्हे सहयोग देना भी अहिंसा है। इस विधेयात्मक अहिंसा के अभाव मे निषेधात्मक अहिंसा का विशेष अर्थ नही रह जाता है। किसी का बुरा न करना अच्छी बात है, परन्तु इससे अधिक महत्त्व की बात है किसी का भला करना। किसी का बुरा न करना निषेधात्मक अहिंसा है और उसका भला करना विधेयात्मक अहिंसा है। यह सभी का अनुभव है कि जो भला करता है वही भला व्यक्ति है। भला करने की शक्ति व सामर्थ्य होने पर भी जो भला नही करता है तथा किसी जीव को दु ख पाते, तडफते, बिलबिलाते देखता रहता है वह निष्ठुर व क्रूर है, अहिंसक नही।

निषेधात्मक अहिंसा के रूप है—किसी को न सताना, पीडा न पहुचाना, न मारना, हृदय को आघात न पहुचाना, किसी की हानि न करना, कटु वचन न बोलना, दास न बनाना, अधिक वजन न डालना, दुर्व्यवहार न करना, नकली दवाइया न बनाना व न बेचना, खाद्य पदार्थों मे अखाद्य पदार्थ की मिलावट न करना, धोखा न देना,

ठगी न करना, किसी का बुरा न चाहना, बुरा न कहना आदि। और विधेयात्मक अहिंसा के रूप हैं—दया, दान, करुणा, अनुकंपा, वात्सल्यभाव, भ्रातृत्वभाव, मातृत्वभाव, मैत्रीभाव, सेवाभाव, उदारता, सहृदयता, सवेदनशीलता आदि। ये दोनो परस्पर पूरक हैं। जो निषेधात्मक अहिंसा को नहीं अपनाता वह दुष्ट है, दुर्जन है। जो निषेधात्मक अहिंसा को अपनाता है वह सज्जन है और जो विधेयात्मक अहिंसा को अपनाता है वह महाजन है, महापुरुष है, उदार है। दुर्जनता को त्यागना तथा सज्जनता व उदारता को अपनाना ही मानवता है। मानवता से मानव की शोभा है। मानवता रहित मानव, मानव की आकृति मे दानव है। मानवता-युक्त मानव ही महापुरुष है।

इसी सदर्भ मे यह विचारणीय है कि भगवान् महावीर कृतकृत्य सर्वज्ञ हो गये थे उन्हे कुछ भी करना व जानना शेष नही रहा था। उनको ससार के जीवो को प्रवचन देने की क्या आवश्यकता थी? प्रवचन देकर उन्हे कौनसा पुण्य या लाभ प्राप्त करना था? फिर भी उन्होने ससार के समस्त जीवो की रक्षा व दया के लिए प्रवचन दिया। जैसा कि प्रश्न-व्याकरणसूत्र मे कहा है—

'सव्व जगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय'

वीतराग सर्वज्ञ भगवान का सर्व जन हिताय प्रवचन देना, लोगो को व्यक्तिगत रूप से बोध देना विधेयात्मक अहिंसा का जीता जागता प्रमाण है।

यही नही स्वय भगवान् महावीर ने सयम धारण करने के पश्चात् भी अपना देवप्रदत्त वस्त्र ब्राह्मण को दान दिया। तीन ज्ञान के धारी भगवान् महावीर ने तथा अन्य सब तीर्थंकर भगवान् ने दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक सब तरह के जीवो को बिना भेद-भाव के मुक्तहस्त से भरपूर दान दिया व आगे भी दान देते रहे। यदि दान देना ससार-भ्रमण का कारण, मुक्ति मे बाधक व सोने की शूली या बेडी होता तो भगवान् यह भूल कभी न करते। यदि उनकी छद्मस्थ अवस्था के कारण से ऐसी भूल हो गयी होती तो केवल ज्ञान होने के

पश्चात् इसे अपनी भूल के रूप मे प्रतिपादित करते और दान देने का निषेध करते तथा अन्य श्रावको को ऐसी भूल न करने के लिए व्रत लेने का विधान करते, परन्तु आगम मे ऐसा प्रतिपादन व विधान कही नही है, प्रत्युत दान देने का ही विधान है।

साराश यह है कि प्रवृत्ति-रूप अहिंसा की शुद्धि के लिए निवृत्ति रूप अहिंसा अनिवार्य है, जैसे वृक्ष के लिए भूमि अनिवार्य है। निवृत्तिरूप अहिंसा की भूमिका मे ही प्रवृत्तिरूपा अहिंसा का वृक्ष पनपता, फलता है। अर्थात् निषेधात्मक अहिंसा की धरती पर विधेयात्मक अहिंसा पनपती व पल्लवित होती है जिसके प्रेमरूप मधुर फल लगते है। भूमि के बिना वृक्ष नही लगता, वृक्षहीन भूमि निष्फल होती है। फलप्राप्ति के लिए भूमि और वृक्ष दोनो का होना आवश्यक है। इसी प्रकार मुक्ति-फल पाने के लिए निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनो प्रकार की अहिंसा आवश्यक है।

दया

अहिंसा के प्रश्नव्याकरणसूत्र के सवरद्वार के प्रथम अध्ययन मे गुणनिष्पन्न 60 नाम गिनाये है जो निम्नाकित है —

1. निर्वाण 2 चित्त की स्वस्थता 3. समाधि 4. शाति 5. कीर्ति 6 कान्ति 7 सुखद 8 विरक्ति 9. श्रुतज्ञान 10. तृप्ति 11 दया 12 विमुक्ति 13 क्षान्ति 14. सम्यक्त्व-आराधना 15. महती (बडी) 16. बोधि 17. बुद्धि 18. धृति-धैर्य 19 समृद्धि 20. ऋद्धि 21 वृद्धि 22 स्थिति 23. पुष्टि 24. आनन्द 25 भद्रा 26 विशुद्धि 27 लब्धि 28 विशिष्ट दृष्टि 29. कल्याण 30 मगल 31. प्रमोद 32 विभूति 33. रक्षा 34. मोक्षवास 35. अनास्रव 36. कैवल्य स्थान 37. शिव-निरुपद्रव 38 समिति 39 शील 40. सयम 41 शीलधर 42. सवर 43. गुप्ति 44. व्यवसाय 45. उन्नतभाव 46. भावयज्ञ (परोपकार) 47 आयतन (आश्रय) 48. यतना 49 अप्रमाद 50 आश्वासन 51 विश्वास 52 अभय 53 सब जीवो को अनाघात 54 भलाई

55 पवित्रता 56. शुचिता 57 पूजत्व 58 विमलता 59 प्रभाषा और 60 निर्मलतर ।

इस प्रकार से ये निज आत्मा के गुण द्वारा निष्पन्न अहिंसा भगवती के पर्यायवाची 60 नाम हैं । इनमे दया, रक्षा, पुष्टि, प्रमोद, आदि अनेक नाम विधि रूप अहिंसा के हैं । यह अहिंसाद्वार सवर-द्वार है । अत इसमे आए दया, रक्षा, प्रमोद आदि नाम सवररूप हैं । अत कर्मवध के कारण नही है । दया, रक्षा आदि से कर्मबध मानना सवर को वध मानना है जो आगमविरुद्ध है तथा तात्त्विक भूल है । सवर धर्म है । अत दया, रक्षा, आदि अहिंसा के विधि-परक रूप धर्म हैं । इन्हे धर्म न मानना धर्म को अधर्म मानना है, धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है । जैसा कि स्थानागसूत्र के ठाणा 10 मे कहा है—

दस विहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तजहा अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मा सण्णा सूत्र 993

अर्थात् दस प्रकार का मिथ्यात्व है यथा—1 अधर्म को धर्म श्रद्धे 2 धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व है ।

दया धर्म है, यह सिद्धान्त प्राचीनकाल मे सर्वमान्य रहा है यथा—
दयाधम्मस्सखतिए विप्पसीइज्ज मेहावी उत्तराध्ययन सूत्र 5/30
अर्थात् मेधावी साधक अपने को दया, धर्म और क्षमा से प्रसन्न रखे ।

"सव्वेहि भूएहिं दयाणुकपी " उत्तराध्ययन 21/13

साधु सब जीवो के प्रति दया एव अनुकम्पा का व्यवहार करता है ।

धर्मो जीव दया—पद्मनदि पचविंशति १७—अर्थात् प्राणियो पर दयाभाव रखना, धर्म है ।

"धम्मोदया विसुद्धो" बोध पाहुड 25, दर्शन पाहुड 2-2-20 अर्थात् 'दया' विशुद्ध धर्म है ।

दया सर्वप्राणिविषया भगवती आराधना, 1836

सर्व प्राणियो को दु:खी देखकर अत करण का आर्द्र होना दया है ।

'जीवाण रक्खाण धम्मो' कार्तिकेय अनुप्रक्षा 478, दर्शन पाहुड 9-8-5

"सब जीवो की रक्षा करना धर्म है ।
"सो धम्मो जत्थ दया" (नियमसार-वृत्ति)
जहा दया है, वहा धर्म है ।

"दयादु खार्तजन्तुत्राणाभिलाष , अनगारधर्मामृत, स्वोपज्ञ-टीका 4-1

दु खी जीवो के त्राण (रक्षा) करने की अभिलाषा दया है ।
"दयामूलो भवेद् धर्मो " महापुराण 5-21
धर्म का मूल दया है ।
"पढम नाण तओ दया" दशवैकालिक सूत्र 4-14
प्रथम ज्ञान पीछे दया अर्थात् ज्ञान का फल दया है ।

येषा जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते चित्ते जीवदया नास्ति तेषा धर्म कुतो भवेत् । मूल क्षमतेराद्य व्रताना धाम सपदाम् गुणाना निधिरिति । दया कार्या विवेकिभि.-पद्मनदिविशति, 37 एव 34

दयालुता रूप अमृत से परिपूर्ण जिन श्रावको के हृदय मे जिन भगवान् के उपदेश से प्राणी-दया आविर्भूत नही होती उनको धर्म कहाँ हो सकता है । जीवदया धर्मरूपी वृक्ष की जड है, व्रतो मे प्रधान व्रत है, ऐश्वर्य का घर है, और गुणो का भडार है । इसलिए विवेकी जनो को जोव-दया अवश्य करनी चाहिए ।

न तद्दान न तद्ध्यान न तज्ज्ञान न तत्तप ।
न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ।।

जहा दया नही है, वहा न दान है, न वहा ध्यान है, न वह ज्ञान है, न वह तप है, न वह दीक्षा है और न वह भिक्षा है ।

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाए भगवया सुकहिय—प्रश्नव्याकरण 2-2-22 अर्थात् भगवान् ने सब जीवो की रक्षा व दया के लिए प्रवचन फरमाया।

धर्मो दयामय प्रोक्त जिनेन्द्रैजितमृत्युभि (वरागचरित 15-10-7) जिनेन्द्रदेव ने धर्म को दयामय कहा है।

लज्जा-दया-सजम-बभचेर, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाण।
दशवै अ 9 उ 1 गा 13

कल्याणार्थी साधक के लिए लज्जा, दया, सयम, और ब्रह्मचर्य ये चारो विशुद्धि के स्थान है।

इस प्रकार दया धर्म है अत कल्याणकारी है इसकी पुष्टि मे अगणित सूत्र आगम व टीकाओ मे भरे है, यहा तो मात्र सकेत के रूप मे कुछ ही सूत्र उद्धृत किए गए है।

दया-रक्षा

इस प्रकरण के प्रारम्भ मे प्रश्नव्याकरणसूत्र मे अहिंसा के साठ नाम बताये है इनमे 'दया' और 'रक्षा' भी हैं। ये विधिपरक नाम है, निषेधपरक नही। अत दया व रक्षा का अर्थ 'बचाना' व रक्षा करना है। केवल न मारने तक ही दया व रक्षा का अर्थ सीमित नही है। यह बात अवश्य है कि दया या रक्षा करने अथवा बचाने मे 'न मारना' आ ही जाता है। इस प्रकार जो अहिंसा का अर्थ 'नही मारने' तक ही सीमित रखते है उसका भी समावेश दया मे हो ही जाता है। अत दया का क्षेत्र अहिंसा से अधिक व्यापक है। दया के दो पक्ष या रूप हुए। प्रथम पक्ष तो किसी जीव को न मारना और दूसरा मरते हुए जीव को बचाना।

उपर्युक्त दया या रक्षा के दोनो रूपो मे से किसी जीव को न मारने रूप प्रथम पक्ष को स्वीकार करना और मरते हुए जीव को बचाने रूप दूसरे पक्ष को स्वीकार न करना, दया या रक्षा का अधूरा अर्थ स्वीकार करना है—जो उचित नही है। अत दया का अर्थ मात्र "न मारना" स्वीकार करना दया को अधूरे रूप मे

स्वीकार करना है। दया के दूसरे पक्ष "जीव को बचाने" का निषेध करना दया शब्द का, दया धर्म का निषेध करना है। प्रकारान्तर से कहे तो हिंसा का बचाव करना है, जो पाप या दोष का रूप है।

जैन-आगम मे तीन योग और तीन करण से पाप के त्याग का विधान है। मन, वचन व काया ये तीन योग हैं तथा (1) करू नही (2) कराऊ नही (3) करते हुए का अनुमोदन करू नही, ये तीन करण है। अर्थात् हिसा, झूठ, चोरी, आदि पाप प्रवृत्तिया (दुष्प्रवृत्तिया) करना, कराना व अनुमोदन करना ये तीनो ही पाप हैं, बुरे कार्य है, दोष है। पाप-प्रवृत्ति को रोकना धर्म है। जिसे पाप प्रवृत्ति करने से रोका या बचाया जायेगा वह पाप से बचेगा। पाप करने से किसी को बचाने मे धर्म ही है, अधर्म नही है। किसी जीव को न मारना तथा मरने से बचाना इन दोनो कार्यो का एक ही परिणाम आता है। जीव के प्राणो की रक्षा ही प्राणी की रक्षा है, दया है। रक्षा व दया अहिसा-रूप धर्म है। धर्म को धर्म न कहना अधर्म है। धर्म को अधर्म मानने को जैन दर्शन मे मिथ्यात्व कहा गया है जो सबसे भयकर पाप है, घोर अमानवता है जिसका साधक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है। इसलिए दया धर्म की महत्ता बतलाते हुए कहा है—

दया सुखा री बेलडी, दया सुखा री खान।
अनता जीव मुकते गया, दया तणे फल जाण॥

अर्थात् दया का फल सुख है, दया सुखो की खान है। दया के फलस्वरूप अनत जीवो ने मुक्ति प्राप्त की है। यहा यह स्पष्ट कहा है कि दया का फल मुक्ति या मोक्ष है। दया के द्वारा मुक्ति की ओर गति तभी सभव है, जब उसके दोनो पक्ष बराबर काम करे। जिस प्रकार पक्षी एक पक्ष(पख) से या व्यक्ति एक चरण से गति करने मे असमर्थ होता है उसी प्रकार दया के एक पक्ष अहिसा से साधक मुक्ति की ओर गति करने मे असमर्थ रहता है। कारण कि कोई प्राणी तडफता रहे, छटपटाता रहे, मरता रहे और उसे देखकर हृदय करुणार्द्र न हो, अनुकपित न हो, द्रवित न हो, हृदय मे उसे बचाने का भाव न उठे

तो यह घोर निर्दयता है, दया नही है। यदि इसे भी दया माना जाय तो फिर निर्दयता किसे माना जाय ? फिर निर्दयता का कोई अर्थ ही नही रह जाता। यही नही बचाने का भाव उठे और बचाने की सामर्थ्य होते हुए भी बचावे नही तो उस भावना का उठना निरर्थक है। वह भावना निर्जीव व निष्प्राण है, अर्थशून्य है, मूल्यहीन है।

किसी मरते हुए या दुख पाते हुए जीव को मृत्यु व दुख से बचाना दया है,केवल उसे देखते रहना दया नही है। यदि देखते रहने कोही दया माना जाय तो ससार के सभी मनुष्य सभी प्राणी प्रतिपल ही अगणित प्राणियो को दुखी देख रहे हैं, वे सभी दयावान माने जायेगे जो कि किसी को भी स्वीकार्य नही है। अत दया शब्द की सार्थकता बचाने व रक्षा करने रूप सक्रियता मे है। दया सक्रियता की द्योतक है, निष्क्रियता या अकर्मण्यता की नही। अकर्मण्यता घोर प्रमाद है। यदि दया का अर्थ निष्क्रियता या अकर्मण्यता लिया जाये तो निद्रावस्था दया की सर्वोच्च अवस्था कही जायेगी। तात्पर्य यह है कि भाव या ज्ञान की सार्थकता उसके क्रियात्मकरूप मे ही है। "पढम नाण तओ दया" के इस सूत्र से भी यह फलित होता है कि ज्ञान का फल या क्रियात्मकरूप दया है, ज्ञान का सार दया है। दया के विना ज्ञान कार्यकारी नही होता। दयारहित ज्ञान से मुक्ति रूप इष्टसिद्धि नही मिल सकती।

काउट लियो टालस्टॉय रूस के वहुत वडे लेखक व विश्व के महान् विचारक थे। वे वडे दयालु थे। उनसे उद्योगपतियो द्वारा श्रमिको का शोषण देखा न गया। आर्थिक विषमता, गरीवी-अमीरी के भयकर अतर ने उनके हृदय को झकझोर दिया, उन्होने साम्यवाद के विचारो का वीज वपन किया। उनके विचारो का प्रभाव महात्मा गाधी व विश्व के लाखो लोगो पर पडा। उनका हृदय कोमल था। पशु-वध उनसे देखा नही जाता था। उन्होने मासाहार का त्याग कर दिया था। उनके प्रभाव ने पाश्चात्य देशो मे लाखो की सख्या मे लोग शाकाहारी हो गये थे।

एक वार टालस्टॉय की वहन उनसे मिलने आई। उसे मासाहार प्रिय था। उसे भोजन कराना जरूरी था। घर की महिलाओ के

स्वीकार करना है। दया के दूसरे पक्ष "जीव को बचाने" का निषेध करना दया शब्द का, दया धर्म का निषेध करना है। प्रकारान्तर से कहे तो हिंसा का बचाव करना है, जो पाप या दोष का रूप है।

जैन-आगम मे तीन योग और तीन करण से पाप के त्याग का विधान है। मन, वचन व काया ये तीन योग है तथा (1) करू नही (2) कराऊ नही (3) करते हुए का अनुमोदन करू नही, ये तीन करण है। अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, आदि पाप प्रवृत्तिया (दुष्प्रवृत्तिया) करना, कराना व अनुमोदन करना ये तीनो ही पाप है, बुरे कार्य है, दोष है। पाप-प्रवृत्ति को रोकना धर्म है। जिसे पाप प्रवृत्ति करने से रोका या बचाया जायेगा वह पाप से बचेगा। पाप करने से किसी को बचाने मे धर्म ही है, अधर्म नही है। किसी जीव को न मारना तथा मरने से बचाना इन दोनो कार्यो का एक ही परिणाम आता है। जीव के प्राणो की रक्षा ही प्राणी की रक्षा है, दया है। रक्षा व दया अहिसा-रूप धर्म है। धर्म को धर्म न कहना अधर्म है। धर्म को अधर्म मानने को जैन दर्शन मे मिथ्यात्व कहा गया है जो सबसे भयकर पाप है, घोर अमानवता है जिसका साधक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है। इसलिए दया धर्म की महत्ता बतलाते हुए कहा है—

दया सुखा री बेलडी, दया सुखा री खान।
अनता जीव मुकते गया, दया तणे फल जाण ॥

अर्थात् दया का फल सुख है, दया सुखो की खान है। दया के फलस्वरूप अनत जीवो ने मुक्ति प्राप्त की है। यहा यह स्पष्ट कहा है कि दया का फल मुक्ति या मोक्ष है। दया के द्वारा मुक्ति की ओर गति तभी सभव है, जब उसके दोनो पक्ष बराबर काम करे। जिस प्रकार पक्षी एक पक्ष(पख) से या व्यक्ति एक चरण से गति करने मे असमर्थ होता है इसी प्रकार दया के एक पक्ष अहिसा से साधक मुक्ति की ओर गति करने मे असमर्थ रहता है। कारण कि कोई प्राणी तडफता रहे, छटपटाता रहे, मरता रहे और उसे देखकर हृदय करुणार्द्र न हो, अनुकपित न हो, द्रवित न हो, हृदय मे उसे बचाने का भाव न उठे

तो यह घोर निर्दयता है, दया नही है। यदि इसे भी दया माना जाय तो फिर निर्दयता किसे माना जाय ? फिर निर्दयता का कोई अर्थ ही नही रह जाता। यही नही बचाने का भाव उठे और बचाने की सामर्थ्य होते हुए भी बचावे नही तो उस भावना का उठना निरर्थक है। वह भावना निर्जीव व निष्प्राण है, अर्थशून्य है, मूल्यहीन है।

किसी मरते हुए या दु ख पाते हुए जीव को मृत्यु व दु ख से बचाना दया है,केवल उसे देखते रहना दया नही है। यदि देखते रहने कोही दया माना जाय तो ससार के सभी मनुष्य सभी प्राणी प्रतिपल ही अगणित प्राणियो को दु खी देख रहे हैं, वे सभी दयावान माने जायेंगे जो कि किसी को भी स्वीकार्य नही है। अत दया शब्द की सार्थकता बचाने व रक्षा करने रूप सक्रियता मे है। दया सक्रियता की द्योतक है, निष्क्रियता या अकर्मण्यता की नही। अकर्मण्यता घोर प्रमाद है। यदि दया का अर्थ निष्क्रियता या अकर्मण्यता लिया जाये तो निद्रावस्था दया की सर्वोच्च अवस्था कही जायेगी। तात्पर्य यह है कि भाव या ज्ञान की सार्थकता उसके क्रियात्मकरूप मे ही है। "पढम नाण तओ दया" के इस सूत्र से भी यह फलित होता है कि ज्ञान का फल या क्रियात्मकरूप दया है, ज्ञान का सार दया है। दया के बिना ज्ञान कार्यकारी नही होता। दयारहित ज्ञान से मुक्ति रूप इष्टसिद्धि नही मिल सकती।

काउट लियो टालस्टॉय रूस के बहुत बडे लेखक व विश्व के महान् विचारक थे। वे बडे दयालु थे। उनसे उद्योगपतियो द्वारा श्रमिको का शोषण देखा न गया। आर्थिक विषमता, गरीबी-अमीरी के भयकर अतर ने उनके हृदय को झकझोर दिया, उन्होने साम्यवाद के विचारो का बीज वपन किया। उनके विचारो का प्रभाव महात्मा गाधी व विश्व के लाखो लोगो पर पडा। उनका हृदय कोमल था। पशु-वध उनसे देखा नही जाता था। उन्होने मासाहार का त्याग कर 'दिया था। उनके प्रभाव से पाश्चात्त्य देशो मे लाखो की सख्या मे लोग शाकाहारी हो गये थे।

एक बार टालस्टॉय की बहन उनसे मिलने आई। उसे मासाहार प्रिय था। उसे भोजन कराना जरूरी था। घर की महिलाओ के

समझ मे नही आ रहा था कि उस बहिन का मन पसद भोजन कैसे बनाया जाय, क्योकि उनके घर मे तो मास पकना ही नही था। टालस्टॉय की पत्नी ने अपने पति के समक्ष अपनी यह कठिनाई रखी तो टालस्टॉय बोले—चिन्ता करने की कोई बात नही, मै सब सभाल लू गा ।

टालस्टॉय जानते थे कि उनकी बहिन को मुर्गा पसद है । टालस्टॉय ने एक बडा सा सुन्दर मुर्गा मगवाया और उसे भोजन की मेज से बाध दिया तथा एक तेजधार वाला छुरा भोजन की मेज पर रख दिया ।

टालस्टॉय की बहिन भोजन करने आई और उसने देखा कि एक मुर्गा मेज से बधा हुआ है तो उसने विस्मित होकर टॉलस्टाय से पूछा कि भाई ! इस मुर्गे को इस मेज से क्यो बाध रखा है ?

टालस्टॉय ने कहा यह तो तुम्हारे भोजन की सामग्री है । हमारे यहा पर तो कोई मास खाते नही है और न हम मास को मानव के खाने योग्य भोजन मानते है, अत हमारे मे से तो कोई तुम्हारी पसद मुर्गे का आहार नही बना सकता । हमारा कर्त्तव्य तुम्हारा सत्कार करना है । अत यह मुर्गा और छुरा दोनो तुम्हारे सामने रख दिये है, आगे तुम्हारी जो इच्छा । यह सुनकर टालस्टॉय की बहिन विचार मे पड गई। उसे सूझ नही पड रहा था कि वह क्या करे, कभी वह भोले-भाले सुन्दर, प्यारे मुर्गे की ओर देखती और कभी छुरे की तेज धार की ओर देखती । मुर्गे की आखो की चमक व भोले भाले हाव-भाव से उसके हृदय मे दया की लहरे उठने लगी । उसने कहा कि मै इसे नही मार सकती । यह मुर्गा अपने रूप व हाव भाव से हृदय को प्रसन्न कर रहा है, मै इसके प्राण नही ले सकती । उसके हृदय मे कारुण्यभाव जगा और उसने सदा के लिए मासाहार छोड दिया । इस प्रकार टालस्टॉय के कारुण्यभाव के प्रभाव के कारण लाखो लोग शाकाहारी बन गये । विदेशो मे आज भी करोडो लोग शाकाहारी है और दिन प्रतिदिन पशु-पक्षियो के प्रति निर्दयता, क्रूरता के व्यवहार से उनके हृदय मे सवेदनशीलता अधिकाधिक

जागती जा रही है। विदेशो मे मासाहार के प्रति घृणा और शाकाहार के प्रति झुकाव बडी तेजी से बढ रहा है जबकि आर्य देश कहलाने वाले भारत मे इसके विपरीत हो रहा है। यह यहा के धर्मगुरुओ, राजनेताओ, सामाजिक कार्यकर्ताओ के लिए विचारणीय विषय है। विश्व के प्रसिद्ध विचारक जार्ज बर्नार्ड शा व विश्व विख्यात वैज्ञानिक आइस्टीन शाकाहारी ही थे।

जब गोशालक को भस्म करने के लिए उस पर वैश्यायन तापस ने तेजोलेश्या फैंकी थी उस समय भगवान् महावीर ने शीतलेश्या का प्रयोग कर उसे बचाया था। यदि भगवान् मे करुणाभाव न होता तो उसकी रक्षा करने के लिए शीतलेश्या की प्रवृत्ति न करते। उनकी ओर से गोशालक मरे या बचे उन्हे उससे क्या लेना देना था ? क्या आवश्यकता थी गोशालक की रक्षा करने की उन्हे ?

भगवान् महावीर के जीवनकाल की एक घटना है कि मगध सम्राट् श्रेणिक को अपनी पत्नी महारानी चेलना के दुश्चरित्र होने का सदेह हो गया। यह सदेह इतना बढ गया कि समस्त रानिया व नारिया श्रेणिक को दुश्चरित्र प्रतीत होने लगी। उन्होने अपने मत्री अभयकुमार को अन्त पुर जलाने का आदेश दिया जिससे सब रानियो के साथ चेलना भी जलकर राख हो जाय। इस बात की जानकारी महावीर को होते ही उन्होने सम्राट् श्रेणिक को प्रतिबोध दिया कि चेटक महाराजा की सातो पुत्रिया जिनमे चेलना भी है सभी पतिव्रता है, निर्दोष हैं। सदेह को त्यागो, सत्य को स्वीकार करो। भगवान् महावीर के उपदेश से श्रेणिक का सदेह दूर हो गया और भयकर हत्याकाण्ड बच गया।

क्या आवश्यकता थी चेलना को बचाने की, उन्होने यह क्यो नही विचारा कि विश्व मे अनन्त प्राणी प्रतिक्षण मर रहे है। चेलना भी मरे, उन्हे क्या ? परन्तु उन्होने करुणा करके एक अति भयकर अनर्थ होने से बचा लिया। यदि सभी रानियो को जला दिया जाता तो उनके पितृपक्ष (पीहर) के सब राजाओ के साथ वैर हो जाता और उनके साथ भयकर युद्ध होते, जिनमे लाखो करोडो लोगो के

हत्या होती। चेलना की हत्या की वह छोटी-सी चिनगारी सारे भारतवर्ष को युद्ध की ज्वाला मे झोक देती जिससे व्यर्थ ही करोडो निरपराध लोगो की हत्या हो जाती। जिस प्रकार कि आस्ट्रिया के एक व्यक्ति की हत्या की छोटी सी घटना ने द्वितीय महायुद्ध का रूप धारण कर विश्व मे कोहराम मचा दिया था।

भगवान् महावीर को केवल-दर्शन था। सम्पूर्ण दर्शन था। दर्शन है स्वसवेदन। भगवान् महावीर पूर्ण सवेदनशील थे। अत उनका अत करण प्राणी-मात्र के दु ख से द्रवित हो उठता था अतः जो भी उनके सपर्क मे आता उसके दु ख से द्रवित हो उसके दु खनिवारण के लिए वे प्रवृत्त हो उठते थे, उनका किसी प्रकार का अपना स्वार्थ या लाभ नही था। यही सच्ची दया का स्वरूप है। वीतराग प्रभु अनत दयालु होते है वे अपना जीवन व सर्वस्व जगत् के हित के लिए अर्पण कर देते है, अर्थात् दान कर देते है इसलिए अनतदानी व दयालु कहे जाते है। भगवान् महावीर ने सब जीवो की रक्षा के लिए व दया के लिए ही प्रवचन फरमाया है।

इसी प्रकार भगवान महावीर ने राजा चण्डप्रद्योत को धर्मदेशना दे रानी मृगावती को छुटकारा दिलाया। वीतराग भगवान् महावीर के जीवन की ये घटनाए और अन्य अनेक घटनाए तथा उनके विहारस्थ प्रवचन आदि विधेयात्मक अहिसा के ज्वलन्त प्रमाण है।

इन सभी घटनाओ मे विशेषता यह है कि इनमे पक्ष-विपक्ष मे से किसी व्यक्ति का भी अहित नही हुआ, प्रत्युत सब का हित ही हुआ है। सच तो यह है कि दया रूप अहिसा सबके लिए हितकारी होती है।

दया के द्योतक अनेक शब्द है—जैसे औपपातिकसूत्र निर्युक्ति मे कहा है—'अनुकपा कृपा दयेत्येकार्था' अर्थात् दया, कृपा और अनुकपा एकार्थक हैं। निशीथसूत्रचूर्णि 130 मे कहा है—अनुकम्पनमनुकपा दयायाम्। अर्थात् दु खियो के दु ख से अनुकपन रूप अनुकपा दया का ही रूप है। अत दया के अनुकपा, करुणा, सेवा आदि रूपो का आगे विस्तार से वर्णन किया जा रहा हैं। □

करुणा और अनुकम्पा

अचेतन-सचेतन मे कोई भिन्नता है, तो वह मुख्यत दो ही बातो मे है—1 सवेदन करना और 2 जानना। सवेदन करने को 'दर्शन' व जानने को 'ज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान और दर्शन गुण चेतन के मुख्य लक्षण हैं। अचेतन मे ये गुण नही होते हैं। ज्ञान भी दर्शन के बाद होता है। इसलिए ज्ञान से अधिक महत्त्व दर्शन का है। जिस प्राणी का जितना दर्शन-गुण विकसित है उस प्राणी की चेतना उतनी ही अधिक विकसित है। वस्तुत सवेदन गुण ही चेतना का प्रतीक है। शरीर मे भी जिस स्थल पर सवेदनशक्ति खो जाती है, उसे हम मूर्च्छित या अचेतन कहते हैं। प्राणी का जितना-जितना विकास होता जाता है, सवेदनशक्ति उतनी ही बढती जाती है। इस सवेदनशक्ति का अधिक विकास होने पर प्राणी अपने से भिन्न व्यक्तियो मे होने वाली सवेदना या वेदना का भी स्वय सवेदन करने लगता है। जिससे दूसरो को होने वाले दु ख से वह करुणित व अनुकपित होने लगता है। उनकी वेदना को वह स्वय सवेदन के रूप मे अनुभव करता है और उस वेदना या दु ख को मिटाने का प्रयास करता है इसे ही दया कहा जाता है। पर-पीडा का सवेदन 'करुणा' या 'अनुकम्पा' है, पर-पीडा को दूर करने के लिए अपना योगदान देना 'दया' है। 'दया' करुणा या अनुकम्पा का क्रियात्मक रूप है। पर-पीडा से करुणित व्यक्ति अपने दु ख से ऊपर उठ जाता है और अपनी सामर्थ्य का उपयोग दूसरो की सेवा मे करता है। करुणा जितने ऊँचे स्तर की होगी, जितनी गहरी होगी, उतनी ही विभु होगी तथा चेतना उतनी ही ऊँचे स्तर की होगी, गहरी होगी व विभु होगी।

जो साधक पर-पीडा से सवेदनशील होते हैं, वे सहज ही अपनी सामर्थ्य व शक्ति का उपयोग प्राणी मात्र का दु ख दूर करने मे करते हैं। उनका यह योगदान जैनागम मे अनन्त दान कहा गया है। ऐसे व्यक्ति मे अनन्त ऐश्वर्य, अनत सौन्दर्य और अनत सामर्थ्य की

भी अभिव्यक्ति होती है। ऐश्वर्य तो इस प्रकार का है कि उसे लेशमात्र भी कमी नही रहती है, अपने लिए ससार और शरीर की अपेक्षा नही रहती है। कमी अनुभव न होना ही लाभ है। लेशमात्र भी कमी न होना ही अनत लाभ है, अनत ऐश्वर्य है। करुणार्द्र व्यक्ति को ससार के सारे प्राणी भले लगते है, बडे सुन्दर लगते है, बडे प्यारे लगते है, जिससे उसका हृदय सौन्दर्य से भर जाता है। उसके लिए अपना दु ख कुछ भी शेष नही रहता। वह नश्वर भोगो से ऊपर उठ जाता है। फिर वह अपने अन्दर से आने वाले निज रस का आस्वादन करता है। यह रस सदा बना रहने वाला होने से अन्तहीन होता है। अत॰ यह अनत रस होता है। इस रस की क्षति कभी नही होती है। इसलिए इस निज रस का धनी अनत भोग का स्वामी होता है। उस करुणावान् व्यक्ति को सभी अपने लगते है, वह व्यक्ति भी सभी को अपना लगता है। यह आत्मीयभाव माधुर्य को प्रकट करता है। उसका माधुर्य, आत्मीयभाव सब प्राणियो के प्रति सदैव बना रहता है। मधुरता का यह रस प्रतिक्षण नया बना रहता है। यह अनत माधुर्य ही जैनागम की भाषा मे अनत उपभोग कहा गया है। अनन्त उपभोग की प्राप्ति के पश्चात् ससार और शरीर से कुछ भी पाना शेप नही रहता। वह कृतकृत्य हो जाता है। उसे पर की अपेक्षा नही रहती है। जहा पर की अपेक्षा होती है, वही असमर्थता होती है। जिसकी प्राप्ति मे पर की अपेक्षा नही है, पराधीनता नही है, जो स्वाधीन है, उसमे असमर्थता की गन्ध मात्र भी नही होती है। उसमे असमर्थता का अभाव हो जाता है। असमर्थता का अभाव हो जाने से वह अनत सामर्थ्यवान् होता है। इसी को आगम की भाषा मे अनतवीर्य कहा है।

इस प्रकार जो समस्त प्राणियो की पीडा से करुणित है, वह अनत दान, अनत भोग, अनत उपभोग और अनत वीर्य का स्वामी होता है। मोह के कम होने से करुणाभाव मे वृद्धि होती है तथा सवेदनशक्ति बढ जाती है। जडता मिटने से चेतना का विकास होता है। जो जितना विषय सुख मे आबद्ध है उसकी चेतना उतनी ही मूच्छित व जडतायुक्त है। वह अपने सुख मे

इतना डूबा रहता है कि दूसरो को दु ख होने पर भी उसमे उनके प्रति करुणा नही जागती है। वह दूसरो को दु खी करके भी अपना सुख भोगता रहता है। उसकी वह क्रूरता, करुणाहीनता, उसकी चेतना की मूर्च्छित अवस्था की ही द्योतक है। मोह के घटने पर ही स्वार्थभाव घटने लगता है। स्वार्थ-भाव के घटने पर ही करुणाभाव जागृत होता है। अत करुणा-भाव मोह के घटने या मिटने का द्योतक है। मोह के मिटने से कामना मिटती है, कामना के मिटने पर कभी कमी का अनुभव नही होता है, सदैव ऐश्वर्य व लाभ की अनुभूति होती है। कामना मिटने से कामना पूर्ति मे होने वाला राग और कामना-अपूर्ति मे होने वाला द्वेष मिट जाता है। राग-द्वेष के मिटने से भेद-भिन्नता मिटकर उसमे सबके प्रति माधुर्य भाव पैदा हो जाता है जो उसे निज रस (सुख) से भर देता है। यह निज रस की अनुभूति भोगोपभोग की उपलब्धि है। वह निज रस मे इतना निमग्न रहता है कि फिर उसे कुछ भी चाह नही रहती है। चाह नही रहने से कुछ भी पाना शेष नही रहता है। पाना शेष नही रहने से करना शेष नही रहता है। चाहना, पाना, करना शेष नही रहने पर जानना शेष नही रहता है। कुछ भी शेष नही रहने पर पराधीनता, असमर्थता शेष नही रहती है। असमर्थता का शेष न रहना ही वीर्य है। इस प्रकार मोह के मिटने से जडता, कामना, राग (ममता), द्वेष (भेद-भिन्नता) व असमर्थता का अन्त हो जाता है जिससे जीव को अनत दान, अनत लाभ, अनत भोग, अनत उपभोग, और अनत वीर्य की उपलब्धि होती है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वीतराग के पास एक दाना भी नही होता है, तब फिर वह क्या दान देता है? वह अनत दानी कैसे है? तो कहना होगा कि वीतरागी पुरुष ससार के समस्त प्राणियो को विषय-सुख की दासता के तथा पराधीनता के सुख मे आबद्ध देखता है। उसका हृदय इस पराधीनता की पीडा मे सवेदनशील होकर करुणित हो जाता है। सभी प्राणियो को पराधीनता की पीडा से छुडाने के लिए अर्थात् उन्हे मुक्ति प्राप्त कराने के लिए

ज्ञान-दान करने मे प्रयत्नशील रहता है । यही उसका अनत दान है ।

इस प्रकार वीतराग की सर्वदा सर्व कल्याणकारी भावना अनत दान है । वीतराग को लेशमात्र भी कमो का अनुभव नही होता, यही उसका अनत लाभ है । वीतराग को लेशमात्र भी नीरसता का अनुभव नही होता, यही उसका अनन्त भोग है । प्रतिक्षण उसे नवीन रस का अनुभव होता है, यही उसका अनन्त उपभोग है । वह कृतकृत्य होता है, उसे कुछ भी करना शेष नही रहता, अत. उसे लेशमात्र भी असमर्थता नही रहती, यही उसका अनन्त वीर्य है । ये पाचो उपलब्धिया मोह के सर्वथा क्षय होने पर सभव है । अत. मोहनीयकर्म के पूर्णत क्षय होने से कैवल्य की उपलब्धि होने पर उनकी भी उपलब्धि होती है ।

करुणा या अनुकम्पा का उद्गम-स्थल अन्त करण है । अन्त करण से अन्त करण का मिलना करुणा है । दूसरे के अन्त -करण के अनुभव को अपनी अनुभूति बना लेना सहानुभूति है । जिस समय सहानुभूति या करुणाभाव होता है, उस समय राग की, काम-वासना की लहरे उठना कम हो जाती है, मस्तिष्क का तनाव घट जाता है, अन्त प्रवेश होता है, वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है ।

करुणा का प्रारम्भ निकटवर्ती व पचेन्द्रिय आदि विकसित प्राणियो के प्रति उत्पन्न सहानुभूति से होता है । हम अपने निकटस्थ व परिचित व्यक्तियो के अन्त करण (हृदय) की दशा से परिचित होते है अत उन पर करुणा आ जाती है । जिससे हमारा सबध व परिचय नही है, उनके हृदय की दशा से हम अपरिचित होते है अत उन पर करुणा नही आती है । जैसे जैसे आत्मीयता का विकास होता जाता है, करुणा का क्षेत्र बढता जाता है । फिर क्रमश मनुष्य मात्र पर, पशु-पक्षी, कीट-पतग, आदि हिलते चलते जीवो पर व वनस्पति आदि स्थावर जीवो पर भी करुणा आने लगती है और अन्त मे प्राणिमात्र के प्रति करुणा

का भाव जागृत हो जाता है। कारण कि ससार के सभी प्राणी विकारी हैं। विकार या दोष स्वय दु ख रूप है तथा इनका फल भी दु ख रूप मे अवश्य भोगना पडता है। इस दृष्टि से सब प्राणी दु खी हैं, सब प्राणी करुणा के पात्र हैं। इस प्रकार ससार के अनतानत प्राणियो के दु ख का दर्शन करने से अनत करुणाभाव जागृत होता है। ऐसी अनत करुणा राग का आत्यन्तिक विनाश कर वीत-रागता का कारण बनती है, जो आत्मा के पूर्ण विकास की द्योतक है।

करुणा और मोह मे अन्तर

करुणा व मोह मे बडा अन्तर है। मोह का सबध भोग से है। भोग-प्राप्ति के लिए की गई प्रवृत्ति कामना-वासना रूप होने के कारण मोहयुक्त होती है। दूसरे के दु ख को दूर करने के लिए की गई प्रवृत्ति सेवारूप होने के कारण करुणायुक्त होती है। करुणा या सेवा को मोह मानना भारी भूल है। इसमे हृदय मे कठोरता आती है। ऐसा व्यक्ति हृदयहीन हो जाता है, कर्त्तव्य-विमुख हो जाता है। अत करुणा उपादेय है और करुणा का क्रियात्मक रूप सेवा ग्राह्य है तथा मोह हेय है और मोह का क्रियात्मक रूप 'भोग' त्याज्य है।

करुणा और मोह मे रात-दिन का अन्तर है। मोह मे दूसरो मे सुख पाने की इच्छा होती है। करुणा मे दूसरो के दु ख मे द्रवित होकर निजी सुख सामग्री को समर्पित करने की भावना होती है। करुणा सब दु खियो के प्रति समान होती है। उसमे जाति-पाति, धनी-निर्धन, छोटा-बडा, स्वजन-परजन, अपनापन-परायापन का भेद नही होता है।

करुणा आत्म-विकास का ही प्रतीक है। करुणा अन्तर्भाव मे उत्पन्न होती है। करुणावान् दूसरो के लिए अपनी वस्तुओ का, तन-मन के सुखो का त्याग करता है, भोगी दूसरो से वस्तुओ व तन-मन के सुखो को पाने के लिए लालायित रहता है। वह तन-

दिन इनकी भिक्षा मागता रहता है। अत· भिखारी होता है। सेवक दाता है। वह सतत प्रसन्नता विकीर्ण करता रहता है।

करुणा से हृदय द्रवित होता है। उसके साथ ही हृदय मे स्थित राग भी गल जाता है। जिस प्रकार ताप से ठोस पदार्थ द्रव मे, द्रव पदार्थ गैस मे परिवर्तित होकर अदृश्य हो जाता है इसी प्रकार करुणा अर्थात् सवेदनशीलता के ताप से प्रगाढ 'मोह' द्रवित होकर तरलता मे, तरल मोह वाष्प के रूप मे उडकर अदृश्य हो जाता है।

हृदयहीन व्यक्ति हिंसक पशुतुल्य होता है। उदाहरणार्थ शेर, चीता, गिद्ध आदि पशु-पक्षी का हृदय तडफते प्राणियो को खाने पर भी द्रवित नही होता है इसी प्रकार हृदयहीन व्यक्ति भी दूसरे मनुष्यो को बिलबिलाते, क्रन्दन करते, तडफते देख कर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे तत्पर रहते है, उनका हृदय नही पसीजता, यह पशु-प्रवृत्ति है।

जैन-धर्म मे करुणा को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है। षट्-खडागम की पुस्तक 13 के पृष्ठ 362 पर धवला टीका मे "करुणाए जीवसहावस्स" कहा गया है अर्थात् करुणा-भाव जीव का स्वभाव है। कारण कि करुणा कर्मजनित नही होती। स्वभाव को धर्म कहा है। जहा स्वभाव नही, वहा विभाव है। जहा विभाव है अर्थात् विकारीभाव है वहा धर्म नही है। जहा धर्म नही है वहा अधर्म है। आशय यह है कि करुणा के अभाव मे धर्म नही है, अधर्म है।

करुणा एक भाव है। जो भाव होता है वह अभाव रूप नही होता है अर्थात् करुणावान् मे दूसरो के दु ख दूर करने का भाव सदा बना रहता है। करुणा के विषय मे कहा है :—

(1) "दीनानुग्रहभाव कारुण्यम्"
(सर्वार्थसिद्धि 7-11) तत्त्वार्थवार्तिक 7-11

अर्थात् दीनो पर अनुग्रह-भाव रखना करुणा है।

(2) करुणाए कारण कम्म करुणेत्ति कि ण वुत्त ? ण, करुणाए जीव-सहावस्स कम्मजणिदत्तविराहादो ।

(धवला पुस्तक 13 पृष्ठ 362)

प्रश्न करुणा का कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, वह क्यो नही कहा ?

उत्तर नही, क्योकि करुणा जीव का स्वभाव है, अत उसे कर्म-जनित मानने मे विरोध आता है ।

(3) दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते ।।

(हेमचन्द्र, योगशास्त्र, चतुर्थ प्रकरण–120)

अर्थात् जो गरीव हैं या दुख दर्द से सतप्त है, भयभीत है या प्राणो की भीख मागते है ऐसे लोगो के कष्ट-निवारण की बुद्धि कारुण्य है ।

(4) कारुणिकत्व च वैराग्याद् न भिद्यते (स्याद्वादमजरी) अर्थात् वैराग्य से कारुण्य भिन्न नही है । जहा कारुण्य है वहा वैराग्य है अर्थात् राग का गलना है ।

जहाँ करुणा है वहाँ अनुकम्पा है । दुखियो, पीडितो को देखकर जिसका हृदय प्रकपित नही होता वह सहृदय न होकर निर्दय है । उसका हृदय पत्थर-हृदय है, उसमे जडता है, सवेदन-शीलता का अभाव है अर्थात् दर्शन–गुण पर भयकर आवरण है । उसके चिन्मयगुण का विकास नही हुआ है । सवेदनशीलता ही जीव का लक्षण है । जिसमे जितनी सवेदनशीलता की कमी है उसमे उतनी ही जडता है वह उतना ही अधिक अविकसित निम्न-स्तर का प्राणी है । सवेदनशीलता का विकास ही चेतना का विकास है । जिस प्राणी के हृदय मे जितनी अधिक सवेदनशीलता है उसके हृदय मे उतनी ही अधिक अनुकम्पा होगी । अनुकपा सम्यक्त्व

का लक्षण है जहा अनुकपा नही वहाँ सम्यक्त्व नही, अनुकपा-हीन प्राणी कभी सम्यक्दृष्टि नही हो सकता। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की प्राप्ति सभव नही है। अत साधक वही हो सकता है जो सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वही है जिसके हृदय मे अनुकपा है। जैसाकि कहा है—

प्रशमसवेगानुकपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षण सम्यक्त्वम्।
(धवला 1/1,1,4)

अर्थात् प्रशम, सवेग, अनुकपा और आस्तिक्य की अभि-व्यक्ति ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व कीदृश भवति ? पञ्चेति, पंचभि शमसवेगनिर्वेदा-नुकम्पास्तिक्यरूपैर्लक्षणै लिङ्गैर्लक्षितमुपलक्षित भवति।
धर्म सग्रह, अधिकार 2

सवेगो चिअ उवसम निव्वेओ तहय होइ अणुकपा अत्थिक्क चिअ एए सम्मत्ते लक्खणा पच। (वृहत्कल्पवृत्ति उ. 1, प्रकरण 2)

अर्थात् शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य इन पाच लक्षणो से युक्त सम्यक्त्व होता है।

सवेग. प्रशम· स्थैर्यम् असमूढत्वमस्मय. आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेया सम्यक्त्वभावना (महापुराण 29/97)

सवेग, प्रशम, स्थिरता, अमूढता, गर्व न करना, आस्तिक्य और अनुकपा ये सात सम्यक्त्व की भावनाए है।

अर्थात् 'अनुकपा' सम्यग्दर्शन के पाच लक्षणो (शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा एव आस्था) मे से एक लक्षण है। सम्यग्दर्शन मुक्ति का मार्ग होने से धर्म है अत अनुकपा भी धर्म है।

अनुकपा के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है :—

1. तिसिद बुभुक्खिद वा दुहिद दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि त किवया तस्सेस, होदि अनुकपा॥
(पचास्तिकाय 137)

तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दु खी को देखकर जो मनुष्य स्वय व्यथित होता हुआ उसके प्रति दया का व्यवहार करता है वह उसकी अनुकपा है ।

2 वाला य वुड्ढा य अपगा य, लोगे विसेमे अणुकपणिज्जा (वृहत्-कल्पभाष्य 4342)
वालक, वृद्ध और अपग व्यक्ति विशेष अनुकपा के योग्य होते है।

3 मा होह णिरणुकपा होह दाणयरा ।
अनुकपा रहित मत होओ, अपितु दान करो ।

4 सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकपा (तत्वार्थवार्तिक 1,2,30)
समस्त प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव अनुकपा है ।

5 त्रसस्थावरेषु दया अनुकपा (तत्वार्थश्लोकवार्तिक 1,2,12)
त्रस एव स्थावर प्राणियो पर दया करना अनुकपा है ।

6 अनुकपा दु खितेषु कारुण्यम् (तत्त्वार्थभाष्य, हरिभद्रसूरि वृत्ति, 1,2)
दु खी प्राणियो पर करुणा करना अनुकपा है ।

7 अनुग्रहवुद्धयार्द्रीकृतचेतस परपीडामात्मसस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा (तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेनगणिवृत्ति 6,13)
उपकार वुद्धि से दूसरो की पीडा को अपनी पीडा समझ कर दयालु व्यक्ति का अनुकपित होना अनुकम्पा है ।

8 धर्मस्य परम मूलमनुकपा प्रचक्षते (उपासकाध्ययन 230)
धर्म का परम मूल अनुकपा है ।

9 अनुकपा दु खितेषु अपक्षपातेन दु खप्रहाणेच्छा (योगशास्त्र, स्वोपज्ञविवरण 2,15)
विना पक्षपात के दु खियो का दु ख दूर करने की इच्छा अनुकपा है ।

क्लिश्यमानजन्तूद्धरणवुद्धि अनुकपा (भगवती आराधना मूला टीका 1696)

दु खी प्राणियो का उद्धार करने की वुद्धि अनुकपा है।
अनुकपा दु खितसत्त्वविषया कृपा (धर्मविन्दु, मुनिचन्द्र-वृत्ति 3, 7) दु खी प्राणियो पर कृपा अनुकपा है ।

10 अनुकपाखिलसत्त्वकृपा (अनगार धर्मामृत 2, 52)
अनुकपा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रह (लाटी सहिता 3-89, पचाध्यायी 2-44-6)

सर्वेषु प्राणिपु चित्तस्य दयार्द्रत्वमनुकपा (तत्त्वार्थवृत्ति) श्रुतसागरसूरि 1, 2)

समस्त प्राणियो पर चित्त की दयालुता अनुकपा है।

नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने अनुकपा का निषेध करने वालो को सावधान करते हुए कहा है—

अणुकपादाण पुण जिणेहि न कयाइ पडिसिद्ध ।
(व्याख्याप्रज्ञप्ति 8 36 की टीका)

अर्थात् जिनेन्द्रदेवो ने अनुकपा-दान का कभी निषेध नही किया है।



सेवा

जब हम विकास-क्रम की दृष्टि से प्राणी-जगत् को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि जिस प्राणी मे जितनी अधिक पारस्परिक सहयोग की भावना है, वह उतना ही अधिक विकसित है, अर्थात् उसके शरीर, इन्द्रिय और मन उतने ही अधिक विकसित हैं। विकास का यह क्रम वृक्ष केंचुए, चीटी, मक्खी, पशु-पक्षी मे स्पष्ट देखा जा सकता है। इनसे अधिक विकसित बन्दर हैं। उनमे सहयोग की इस भावना ने पारिवारिकता का रूप ले लिया है। वानर से नर अधिक विकसित हैं, अत मनुष्य जाति मे सहयोग की भावना परिवार से बढकर समाज व राष्ट्र के रूप मे प्रकट होती है।

सहयोग की भावना का आधार है आत्मीयता का भाव। आत्मीयता का विकास होता है आत्मा के विकास से। जिस प्रकार चन्द्रिका का विकास चन्द्र के विकास का द्योतक है, इसी प्रकार आत्मीयता का विकास आत्मा के विकास का द्योतक है।

स्वार्थ की कमी आत्मीय-भाव के विकास की द्योतक होती है। जिसमे जितनी अधिक स्वार्थपरता की कमी होगी, वह उतना ही अधिक विकसित होगा। स्वार्थपरक वृत्ति के अनेक रूप हैं। जो अत्यन्त स्वार्थी होते हैं वे अपने शरीर को ही सब कुछ मानते हैं, उनमे अपने बाल-बच्चों व परिवार के प्रति भी प्रेम नही पैदा होता है, वे पत्थर हृदय हैं, जडतुल्य हैं। प्राणी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुकूल प्रकृति (कुदरत) मे जन्म लेता है। इस प्राकृतिक नियमानुसार ऐसे पत्थर-हृदय, जड-प्रकृति के प्राणी स्थावर जगत् पृथ्वी, वनस्पति आदि मे जन्म ले तो आश्चर्य की बात नही है।

जीवन मे स्वार्थ-भावना जितनी घटती जाती है उतनी ही सहयोग की भावना बढती जाती है। प्राथमिक स्थिति मे सहयोग

का अर्थ होता है स्वय सुख पाने के लिए दूसरो को मुख पहुचाना। इसमे प्रतिफल पाने की भावना रहती है अत यह वणिक्-वृत्ति है। इसमे सौदा होता है, विनिमय होता है, परन्तु अपने ही शरीर तक सीमित अत्यन्त सकीर्ण स्वार्थ-वृत्ति की अपेक्षा यह अधिक अच्छी वृत्ति है। जैसे-जैसे इस वृत्ति का विकास होता है, वैमे-वैसे सहयोग देने की भावना वढती जाती है और प्रतिफल पाने की भावना घटती जाती है। फिर प्रतिफल की चाह के विना भी सहयोग देने की भावना जागृत होती है।

सेवा का स्वरूप—प्रतिफल की चाह किये विना दूसरो के हित के लिए कार्य करना या सहयोग देना ही सेवा है। महयोग देने मे प्रतिफल पाने की भावना जितनी कम होगी, वह सेवा उतनी अधिक शुद्ध व उच्चस्तर की होगी। प्रतिफल पाने की भावना स्वार्थपरता का ही एक रूप है अत स्वार्थपरता मेवा का दोष है, विकार है जिसे दूर करना आवश्यक है।

सेवा के सुख का निरालापन—सेवा या आत्मीय-भाव का अपना एक रस है, एक सुख है। यह रस या सुख इन्द्रिय भोग के रस से या सुख से भिन्न प्रकार का है। हम किसी दु·खी प्राणी की सहायता करते हैं और उसका दु ख दूर हो जाता है तो हमारे हृदय मे एक प्रकार का सुखानुभव होता है। यह सुख का अनुभव इन्द्रिय-भोग से प्राप्त होने वाले सुख के अनुभव से निराला, विशेप प्रकार का होता है। यही कारण है कि जैसे-जैसे सेवा के सुख का स्वाद आता है, इन्द्रिय भोग के सुख का स्वाद घटता जाता है, भोग-सुख छूटता जाता है।

इन्द्रिय व मन के भोग से उत्पन्न होने वाला सुख इन्द्रिय और मन के सक्रिय होने पर मिलता है। उसमे सुख का अनुभव इन्द्रियो की उत्तेजना पर निर्भर करता है। जब ज्वर मे जिह्वा-इन्द्रिय की स्वाद ग्रन्थियां उत्तेजित नही होती, उस समय कितना भी स्वादिष्ट भोजन किया जाय भोजन के स्वाद का सुख नही आ

सकता। साथ ही भोग-जनित सुख क्षणिक होता है जो भोगते समय ही प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। हलुआ खाने के स्वाद का सुख जो पहले ग्रास मे आता है, वह दूसरे ग्रास मे नही आता और चालीस-पचास ग्रास खा लेने के वाद तो स्थिति यह वन जाती है कि वह सुख ही दु ख-रूप प्रतीत होने लगता है तथा भविष्य मे हम हलुआ खाने की उस स्मृति को जागृत करके स्वाद का सुख नहीं पा सकते। परन्तु आत्मीय भाव या सेवा से प्राप्त सुख मे यह दोष नही है, इस सुख की उपलब्धि किसी प्रकार की उत्तेजना मे नही होती, परन्तु समता व शान्ति मे होती है। इन्द्रिय सुख-भोग के समान सेवा का यह सुख न तो उवाने वाला होता है और न क्षीण ही होता है प्रत्युत् सेवा जितनी ही की जाय, सुखानुभूति वढती ही जाती है और भविष्य मे भी जव भी सेवा-कार्य की स्मृति होती है, हृदय मे सरसता व प्रसन्नता की लहर दौडने लगती है।

भोगजन्य सुख का अन्त नीरसता मे होता है। समय वीतने के साथ उस सुख का रस सूखता जाता है, परन्तु सेवा से उपलब्ध सुख सदा सरस रहता है। सेवा द्वारा जिस दु खी व्यक्ति का दु ख दूर किया गया है, उस व्यक्ति के न रहने पर भी उसका दु ख दूर होने से हृदय मे जो प्रसन्नता होती है वह प्रसन्नता नष्ट नही होती। सेवा के रस या सुख की क्षति, पूर्ति, तृप्ति या निवृत्ति कभी नही होती है। वह अक्षय होता है। यह वाहर से पैदा नही होता, अन्दर से उद्भूत होता है। अत आध्यात्मिक सुख है, भौतिक नही। इस सुख की जड अन्त करण मे होती है। अत यह सदा सरस रहता है।

नीरसता ही कामना की जननी है। भोग-जनित व कामना-पूर्ति से प्राप्त सुख या रस का स्वभाव क्षीण होने का है, अत वह नष्ट हो जाता है जिससे अन्त करण मे नीरसता व खिन्नता आ जाती है। नीरसता व खिन्नता किसी को पसन्द नही है, अत नीरसता व खिन्नता से उत्पन्न अप्रसन्नतापन रूपी दु ख को मिटाने के लिए, सुख पाने के लिए नई कामना का जन्म होता है। क्योंकि

प्राणी की मान्यता है कि सुख इन्द्रिय-भोगो मे है, अत वह कामना-पूर्ति का प्रयत्न करता है। कामना-पूर्ति होने पर जो भोग का सुख मिलता है, वह क्षीण होता हुआ नष्ट हो जाता है तथा पुन वही नीरसता की स्थिति आ जाती है, इस प्रकार कामना पूर्ति व उत्पत्ति का दुष्चक्र चलता ही रहता है।

कामना-उत्पत्ति-पूर्ति का यह दुष्चक्र तभी टूट सकता है जब सुख की उपलब्धि कामना-पूर्ति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से हो और साथ ही वह स्थायी भी हो। ऐसा स्थायी सुख बाहर के भोग्य पदार्थों से तो मिलना कभी भी सभव नही है, क्योंकि वे पदार्थ स्वय ही अनित्य है तथा उनका वियोग अवश्यम्भावी है। अत आवश्यकता है ऐसे सुख की जो सुख अन्तर आत्मा से ही उपलब्ध हो व स्थायी हो। सेवा से प्राप्त सुख ऐसा ही सुख है। वह अन्तर से स्वय ही प्रकट होता है। अतः स्वाधीन भी है और स्थायी भी है। इस आतरिक सुख के आस्वादन से कामना-पूर्ति व भोगजनित विषय सुख के पीछे दौड़ने की भावना मे शिथिलता व गति मे धीमापन आता जाता है, राग की तीव्रता घटती जाती है, राग गलता जाता है, और भोग-सुख छूटता जाता है। इस प्रकार सेवा राग व भोग-वासना को गलाने का क्रियात्मक रूप है, अर्थात् सेवा प्रवृत्ति-परक साधना है। राग के गलने तथा मद होने से अन्तरात्मा मे शान्ति का अनुभव होता है। यह शान्ति आतरिक विश्रान्ति है। यह प्राकृतिक नियम है कि शान्ति या विश्रान्ति से शक्ति की वृद्धि होती है। अन्त करण की शक्ति ही चेतना की शक्ति है। चेतना-शक्ति का विकास चेतन प्राणी के विकास का द्योतक है। प्राणी की चेतना के विकास के प्रभाव से प्राणो का विकास होता है जो शरीर, इन्द्रिय, मन, आयु आदि प्राणो की प्राप्ति होने व इनका प्राणबल बढने के रूप मे प्रकट होता है।

भोगजन्य सुख और सेवाजन्य सुख मे एक अन्तर यह भी है कि भोगजन्य सुख जिन पदार्थों व परिस्थितियो से मिलता है, उनको सदैव बनाये रखने व वृद्धि करने की कामना निरन्तर बनी रहती है।

परन्तु, सेवाजनित सुख मे इसके विपरीत होता है—इसमे जिन दुःखी व्यक्तियो की सेवा की है ऐसे दुःखी व्यक्तियो की सख्या अधिक हो, अथवा उनका अधिक दुःख हो ताकि अधिक सेवा का अवसर मिले, ऐसी भावना नही होती । वह चाहता है कि ऐसी स्थिति रहे जिसमे प्राणियो को दुःख ही न हो अथवा हो तो कम से कम दुःख हो तथा सेवा कराने की स्थिति ही उत्पन्न न हो ।

सेवा व वैयावृत्त्य का महत्त्व बताते हुऐ आचार्य हरिभद्र 'आवश्यकसूत्र' की टीका मे फरमाते है कि एक बार भगवान् महावीर से गौतम गणधर ने पूछा—"भगवन् ! एक साधक अपना सर्वस्व आपको समर्पित कर आपके चरणो मे रहकर आपकी सेवा करता है और दूसरा साधक आपके चरणो मे, आपकी सेवा मे उपस्थित नही रहता है, परन्तु ग्लान, रोगी एव पीडित की सेवा करता है । इन दोनो मे से कौन धन्य है ?"

उत्तर मे भगवान् ने फरमाया—"हे गौतम ! मुझे अपनी पूजा, सेवा नही चाहिए । मै तो पीडित-ग्लान की सेवा को अपनी सेवा समझता हू । मेरी आज्ञा की आराधना करना, अनुपालन करना ही मेरी आराधना, दर्शन व सेवा है । जो व्यक्ति ग्लान, रोगी, पीडित, सतप्त व दुःखी की सेवा करता है वह धन्य है—जं गिलाणं पडिचरई, से धन्ने ।"

जो सेवा सुश्रूषा दूसरे व्यक्ति के आत्म-विकार दूर करने एव साधना मे सहयोग देने के उद्देश्य से की जाती है, वह वैयावृत्त्य है, उच्च-कोटि की सेवा है । इसका उद्देश्य आत्म-विकारो का क्षय करना है, कर्मो की निर्जरा करना है और इसका फल कर्म-क्षय के रूप मे मोक्ष की प्राप्ति है । जैसा कि कहा है—

पासगिग्रगोगेण वेयावच्चम्मि मोक्खफलमेव ।
आणाग्राराहणाग्रो ग्रणुकपदि चिमयम्मि ॥

अर्थात् भगवान् की आज्ञा का आराधक साधक प्रसगानुसार प्राप्त भोग सामग्री को अनुकपापूर्वक सेवा मे लगाता है तथा उसके फल रूप मे मोक्ष प्राप्त करता है ।

यही नही वैचयावृत्य से सर्वांगीरण विकास होता है। यथा—

1 वेयावच्चेण तित्थयरणामगोय कम्म वधइ। (उत्तरा० अ० 29) अर्थात् वैयावृत्य-सेवा से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म वधता है।

2. आत्मप्रयोजनपर एव जायते स्वाध्यायमेव कुर्वन्। वैयावृत्यकरस्तु स्व पर चोद्धरतीति मन्येत (भगवती आराधना 329) अर्थात् स्वाध्याय करने वाला केवल अपनी ही उन्नति करता है जबकि वैयावृत्य (सेवा) करने वाला स्वय की और अन्य की दोनो की उन्नति करता है।

3. सोउण वा गिलाण, पथे गामे य भिक्खबेलाए।
जति तुरिय ण गच्छति, लग्गति गुरूए स चउमासे॥
(निशीथसूत्र चूर्णी 10)

विहार करते हुए, गाँव मे रहते हुए, भिक्षाचर्या करते हुए यदि सुन पाए कि कोई भी साधु-साध्वी रुग्ण है तो शीघ्र ही वहा पहुचना चाहिए। जो साधु-साध्वी शीघ्र नही पहुचता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

वैयावृत्य आभ्यन्तर तप है, उस तप के स्वरूप को विभिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित किया गया है। यथा—

1. अद्धाण तेण सावद-रायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्च उत्त सगहसारक्खणो वेद।

जो मार्ग मे चलने से थक गये है, चोर, हिंसक पशु, राजा द्वारा व्यथित, नदी की रूकावट, मरी (प्लेग) आदि रोग तथा दुर्भिक्ष से पीडित है उनकी सार सभाल व रक्षा करना वैयावृत्य तप है।

2 वेयावच्च नियय करेह, उत्तमगुणधरताण।
सव्व किर पडिवाई, वेयावच्च अपडिवाई॥

उत्तम गुणधारक मुनिराजो की नित्य वैयावृत्य (सेवा) करनी चाहिये, क्योकि अन्य सभी गुण तो प्रतिपाती हैं, एक बार प्राप्त होने के बाद कदाचित् नष्ट हो जाते है, मगर वैयावृत्य अप्रतिपाती है।

3 आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन वैयावृत्त्य ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥ रत्नकरडश्रावकाचार, 117 वसुनदी श्रावकाचार 2333, पद्मनदी पचविंशति 2/50,

अर्थात् चार ज्ञान के धारक गणधर आहारदान, औपधदान, उपकरणदान और आवासदान से चार प्रकार का वैयावृत्त्य करते हैं, और वैयावृत्त्य धर्म है

वैयावृत्त्य को निर्जरा के वारह भेदो मे भी स्थान प्राप्त है। निर्जरा धर्म का अग है। अत वैयावृत्त्य अथवा सेवा भी धर्म है। कर्म-निर्जरा के लिए इनका वडा महत्त्व है।

अन वैय्यावृत्त्य या सेवा वह राजमार्ग है जिस पर भौतिकता व आध्यात्मिकता की गाडिया उत्कर्ष की ओर अग्रसर होती हैं, जिसके इधर-उधर, आस-पास किसी प्रकार की खाई व खड्डे का कोई भी खतरा नही है। अत जो साधक साधना के राजमार्ग पर चलना चाहता है उसके लिए सेवा उत्तम मार्ग है। सेवा सवर भी है और निर्जरा भी है। अन्न-जल, वस्त्र-पात्र, शिक्षा-चिकित्सा आदि से किसी को शान्ति पहुचाना, सेवा का क्रियात्मक पक्ष है। सेवा आध्यात्मिक एव भौतिक इन दोनो प्रकार की उन्नति का मार्ग है। सेवक भौतिक उन्नति से स्वर्ग का सुख एव आध्यात्मिक उन्नति से अपवर्ग का आनद पाता है। इसलिए सेवा-धर्म की महिमा मे महर्षियो ने कहा है—"सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य" अर्थात् सेवाधर्म अतिगहन है जिसकी महिमा का पार पाने मे योगी भी असमर्थ हैं।

इस सूत्र मे योगियो के लिए भी सेवा को गहन कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार योगी समदृष्टि होता है, शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है, सुख-दु ख, अपमान-सम्मान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ आदि की अनुकूलता-प्रतिकूलता मे समता से रहता है, उसी प्रकार सेवक भी शत्रु-मित्र के प्रति समता-भाव रखता है तथा [illegible] ही करता है। वह अपनी धन-सपति का त्याग भी करता है। अर्थात् योगी के सब गुण तो न्यूनाधिक रूप मे उसमे होते ही है साथ ही [illegible], तात्पर्य [illegible] समर्पण-भावना से त्याग करना

उसकी अपनी विशेषता है। इसीलिए सेवा-धर्म के पालन को योगियो के लिए भी गहन कहा है।

वस्तुत सेवक को अपने मन पर विशेष सयम रखना पडता है, अपने सुख का विशेष त्याग करना पडता है। उदाहरणार्थ रोगियो की सेवा को ही ले। सेवक को रोगी के मल-मूत्र, उल्टी-पीप आदि घृणित पदार्थ साफ करने होते है। उसे घृणा को जीतना होता है, रोगी की सुश्रुषा करने के लिए रात भर जागना होता है। क्षय, कोढ, हैजा आदि सक्रामक रोग से ग्रस्त रोगियो के सम्पर्क मे आना और स्वय के रोग-ग्रस्त होने की सम्भावना का खतरा उठा कर सेवा करना कितना महान् कार्य है। इसका प्रत्यक्षीकरण मदर टेरेसा के सेवा-स्थलो मे किया जा सकता है।

यह समझना कि सेवा वही कर सकता है जो धनी है, निर्धन सेवा नही कर सकता, समीचीन नही है। कारण कि जैन-धर्म मे सेवा के नौ प्रकार बताये हैं यथा—1 अन्न, 2 जल, 3 वस्तु, 4 पात्र, 5 विश्राम, 6 मन से दूसरे का भला चिन्तन करना, 7 मुख से मधुर वचन बोलकर शान्ति देना, 8 काया से सुश्रुषा करना और 9 नम्रता का व्यवहार करना, अहभाव का त्याग करना। इनमे से प्रथम पाच प्रकार की सेवा का सम्बन्ध वस्तुओ से है अत इनमे भले ही कोई असमर्थ हो, परन्तु अन्तिम चार का सम्बन्ध स्वय से है। अत इनसे सेवा करने मे प्रत्येक व्यक्ति समर्थ है। सेवा के इन रूपो का महत्व भी वस्तुओ द्वारा की जाने वाली सेवा से कम नही है। अत मानव का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सुविधा के अनुसार सेवा कर अपना व्यावहारिक एव आध्यात्मिक जीवन उन्नत बनाये।

वास्तविकता तो यह है कि भावात्मक सेवा असीम होती है और भावात्मक सेवा की अभिव्यक्ति क्रियात्मक सेवा मे होती है। दोनो प्रकार की सेवाए परस्पर पूरक है। भावात्मक सेवा प्राण और क्रियात्मक सेवा शरीर के समान मानव-जीवन के भिन्न अग हैं। सेवा ही मानव-जीवन की विशेषता है, सेवा रहित जीवन पशु जीवन है।

सेवा का भाव उन्ही मे उत्पन्न होता है, जो अपनी प्रसन्नता के लिये वस्तु अवस्था एव परिस्थिति की खोज नही करता है। क्योकि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से सुख चाहना अर्थात् उनका दास हो जाना सेवा नही होने देता है। भोगी ससार के पीछे दौडता है और सेवक के पीछे ससार दौडता है तथा उसे अपना प्यार प्रदान करता है। प्यार के आदान-प्रदान मे ही सच्चा सुख है। ससार मे सच्चा प्यार सेवक को ही मिलता है। भोगी ससार को प्यार करता है और सेवक को ससार प्यार करता है। सेवक को ससार की ओर से मिलने वाले प्यार के लिये लेशमात्र भी प्रयत्न नही करना पडता है। वह प्यार स्वत आता है और स्वत आने पर भी सेवक को बाध नही पाता है। परन्तु, सेवा सरिता के प्रवाह के समान सहज ही सेव्य की ओर बहती रहती है। सेवक पर किसी भी परिस्थिति का किंचित् भी प्रभाव नही पडता है। सेवक के हृदय से क्रियाजन्य रस की आसक्ति स्वत निवृत्त हो जाती है जिस निवृत्ति को योगी योग से, ज्ञानवान् विवेक से प्राप्त करता है, सेवक उसी को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग रूप सेवा से प्राप्त कर लेता है।

सेवा का भगवद्रूप—निर्धन, दीन, दरिद्र भी चेतनायुक्त होने से चिदानन्द प्रभु के, नारायण के ही रूप है। सेवा की आवश्यकता व अपेक्षा दरिद्र, दीन एव दुःखी को ही होती है, सम्पन्न व सुखी को नही। अत दरिद्र-नारायण की सेवा ही प्रभु की सेवा है। प्रभु की भक्ति के नौ प्रकार प्रसिद्ध हैं, यथा.—1 अर्चना 2 वदना 3 स्मरण 4 पाद-सेवन 5. श्रवण 6 कीर्तन 7 दासभाव 8 सख्यभाव और 9 आत्मभाव।

दरिद्र-नारायण अर्थात् गरीबो को आवश्यक वस्तुए समर्पण करना अर्चना है। उनके प्रति विनम्र व्यवहार करना, आदर-सत्कार करना वन्दना है। दुःख-निवारणार्थ उनका स्मरण करना स्मरण है। अपने आचरण द्वारा उनकी सेवा करना चरण-सेवा या पाद-सेवन है। दुःख-दर्द को ध्यान से सुनना श्रवण है। दुखियो के सद्गुणो की प्रशसा करना कीर्तन है। दुखियो के दास बनकर सेवा करना दासभाव व मित्र के समान सेवा करना सख्यभाव है तथा

दीन-दु खियो के प्रति आत्मीयता का व्यवहार करना आत्म-भाव भक्ति है। इस प्रकार दरिद्रनारायण की भक्ति भगवान् की नवधा भक्ति है।

जो दरिद्रो या दीनो की बन्धु के समान सेवा करता है वह दीनबन्धु है, पतितो का उत्थान करता है वह पतितपावन है, दीनो पर दया करता है वह दीनदयाल तथा जो दीनो का दु ख हरता है वह दु खहारी है। दीनबन्धु, दीनदयाल, दु:खहारी, पतितपावन ये सब प्रभु के पर्यायवाची शब्द हैं, परमात्मा के नाम हैं, अत जो दीन-दरिद्र की सेवा करता है, वह प्रभु-तुल्य बन जाता है, कारण कि उसमें प्रभु की विशेषताए आ जाती हैं। ससार मे जितने भी प्रभु के अवतार हुए हैं, वे सेवक ही हुए हैं। उनका सेवा का क्षेत्र मानव तक ही सीमित न होकर पशुओ तक व इससे भी अधिक व्यापक रहा है, यथा—श्रीकृष्ण गोसेवक थे। ईसामसीह भेड-पालक, मोहम्मद साहब बकरी-पालक थे। ये सभी महापुरुष अवतार की कोटि मे गिने जाते है।

भगवान् महावीर तथा बुद्ध ने सेवा द्वारा जन-कल्याण किया इसलिए महान् कहलाये। ससार मे महान् पद व सम्मान के अधिकारी या पात्र सदैव सेवक ही हुए है। वस्तुत सेवक भगवान् के अवतार ही हैं। सेवक मे जितनी भावना विभु होती जाती है उतनी ही निर्दोषता बढती जाती है। निर्दोषता या निर्विकारता प्रभु का ही गुण है। इस प्रकार सेवा प्रभु-प्राप्ति का उपाय है।

निर्दोषता—सेवक जब अन्य की सेवा करता है तो उसकी स्वय की सेवा स्वत होती रहती है। सेवा से राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ-भाव आदि दोष दूर होते है। इन दोषो के दूर होने से शान्ति, मुक्ति एव प्रसन्नता मिलती है जो उसकी अपनी सेवा है। कारण कि सुख-भोग की लालसा से रहित होने पर ही सेवा-भाव पैदा होता है। सेवा-भाव राग-द्वेष से रहित है। अत सेवा-भाव से किया गया कार्य या प्रवृत्ति रागनिवृत्ति का साधन है, रागवृद्धि का नही।

सम्मान, कीर्त्ति आदि सुख-भोग के प्रलोभन से की गई सेवा, सेवा नही, सेवा के रूप मे भोग है। सेवा के रूप मे किया गया भोग दोष

है। सेवक को इस दोष से बचना चाहिए। सेवा मे जितना अश त्याग का होगा वह उतनी ही निर्दोष होगी और सेवा मे जितना अश भोग का होगा वह उतनी ही दोषमय होगी।

उदारता—सेवा का एक फल यह भी होता है कि जिसकी सेवा की जाती है उसमे स्वत सेवा का भाव व उदारता जागृत होती है। सेवक मे त्याग एव उदारता दोनो होती है जो सेव्य मे भी इनका बीजारोपण करती है। वस्तुत दूसरो के अधिकारो की रक्षा करना और अपने अधिकारो का त्याग ही सेवा का स्वरूप है।

जो उदार होता है वह किसी का बुरा नही चाहता। जो किसी का बुरा नही चाहता वह सुखियो देखकर को प्रसन्न तथा दु खियो को देखकर करुणित होता है। सुखियो को देखकर प्रसन्न होने मे सुख-भोग की कामना क्षीण होती है। इस प्रकार सेवा, वासना-कामना के त्याग मे सहायक होती है। सेवा वही कर सकता है जो दूसरो के दु खो की अनुभूति स्वय करता हो, अत सेवा द्वारा दूसरो के दु खो को दूर करना अपने ही दु खो को दूर करना है। दूसरो को प्रसन्न करना अपने ही को प्रसन्न करना है।

सेवा सदैव अपने से अधिक दु खियो की ही होती है। यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि अपने से अधिक दु खियो को देखने पर अपने दु ख को सहन करने की क्षमता आती है, दु ख क्षीण होता है और भोग-वासना भी क्षीण होती है। हमारी सेवा रूप उदारता का प्रभाव जिसकी हम सेवा करते है, उस पर भी पडता है और वह ऐसा अनुभव करता है कि दूसरो को सहयोग देने का भी एक मूल्य है, दूसरो की सेवा करना अच्छा कार्य है। इससे उसमे उदारता की भावना तथा सेवा की प्रवृत्ति जागती है जिससे उसका भोगभाव एव स्वार्थभाव गलता है। अर्थात् सेवा से सेवक एव सेव्य दोनो को लाभ होता है। दोनो मे उदारता की भावना जागती है तथा दोनो अपने दोषो को दूर करने मे सफल होकर तुच्छ स्वार्थभाव से ऊपर उठते है।

उदात्तीकरण—आधुनिक मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण देन है — उदात्तीकरण का सिद्धान्त। यौन-वृत्तियो का [illegible] वृत्तियो मे [illegible]

गुण मे, बुराई का भलाई मे रूपान्तरण करना ही उदात्तीकरण कहा जाता है। उदात्तीकरण का सर्वोत्तम उपाय है अपने आपको लोकोपकारी सेवा-कार्यों मे लगाना। उदाहरण के लिए काम-शक्ति को ही ले। कामशक्ति तीन रूप मे प्रकट होती है—1. कामक्रीडाओ मे, 2 प्रेमी के प्रति प्रेम-प्रदर्शन मे और 3. वात्सल्य या सेवाभाव मे। पहला रूप शारीरिक है, दूसरा मानसिक और तीसरा आध्यात्मिक। पहला रूप प्रगाढ मोह का है, दूसरा उससे कम मोह का और तीसरा मोह-नाश का। उदाहरणार्थ जो बाल-विधवा हो जाती है उसे लघु शिशु पालनार्थ दे दिया जाता है, जिससे उसकी कामवासना का उदात्तीकरण होकर वात्सल्य मे रूपान्तरण हो जाता हैं। अर्थात् जो व्यक्ति अपना समय जितना अधिक सेवा मे लगाता है उसकी काम-वासना उतनी ही कम होती है। यदि वह सेवा रोगियो के प्रति की जाती है तो इससे एक और लाभ होता है। शरीर की अनित्यता और उससे होने वाले कष्टो पर बार-बार ध्यान जाने से शरीर के प्रति मोह घटता है जिससे काम-वासना भी शिथिल हो जाती है। साथ ही रोगियो की सेवा से हृदय मे द्वेष-भावनाओ की शक्ति भी क्षीण होती है। इस प्रकार सेवा राग-द्वेष को पतला करती है एव उन्हे मैत्री, वात्सल्य आदि मे रूपान्तरित कर देती है।

अपने को दूसरे की सेवा मे लगा देने से व्यक्ति अपने दु खो को भूल जाता है। अपने दु.खो पर विचार करने से दु ख गहरे होते हैं। जो व्यक्ति अपने दु खो को जितना अधिक याद करता है वह उन्हे उतना ही बढाता है और जो उनको जितना भुलाता है वह उन्हे उतना ही कम करता है। रोग के विषय मे भी यही तथ्य लागू होता है। रोग से मुक्त होने का एक उपाय यह भी है कि वह उसी प्रकार के रोग से पीडित लोगो की सेवा करे।

यह तथ्य है कि सेवक किसी से कुछ भी प्रतिफल पाने की चाह नही करता है। परन्तु, प्रतिफल न चाहने पर भी उसे निसर्गतः ही ही फल मिलता है। कारण कि यह प्राकृतिक नियम है कि बोया गया बीज करोडो-सैकडो गुना फल देता है। नीम के बोये गये कडवे

बीज से करोडो कडवी निम्बोलिया और आम के बोये गये बीज से हजारो मधुर आम के फल लगते हैं। इसी प्रकार सेवक की सेवा के लिए समस्त विश्व उद्यत रहता है, सच्चे सेवक को विश्व से शारीरिक आवश्यकता-पूर्ति के सिवाय किसी से भी कुछ नहीं चाहिये। दूसरे शब्दो मे कहे तो सेवक का जीवन सारे विश्व का जीवन होता है। जीवन का विस्तार विश्व के रूप मे हो जाना ही जीवन का पूर्ण विकास है। इससे बढकर कोई जीवन नहीं हो सकता है। इस प्रकार सेवक को उसकी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति से सैकडो गुना अधिक सब कुछ मिलता है। उसके जीवन मे कभी अभाव का अनुभव अर्थात् द्रारिद्रय का दुःख नही होता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। आवश्यकता की पूर्ति हो जाना और लेश मात्र भी अभाव न रहना ही सच्ची सपन्नता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सेवक से बढकर विश्व मे कोई अधिक सपन्न नही होता। आशय यह है कि सेवा से दारिद्रय का सपन्नता मे रूपान्तरण हो जाता है।

जिस राग या दोष के उदय को विवेक या ज्ञान के बल से न मिटाया जा सके उस राग का रूपान्तरण सर्व हितकारी प्रवृत्ति रूप सेवा से प्रीति मे हो जाता है। जैसे किसी को बोलने का राग है तो वह दूसरो के लिये हितकारी वचन बोलकर अपने राग को प्रीति मे बदल सकता है। खाने के राग का दूसरो को खिलाने मे, भोगासक्ति का भगवद्भक्ति मे, तोड-फोड आदि विध्वसात्मक प्रवृत्ति का रचनात्मक कार्य मे उदात्तीकरण किया जा सकता है।

आती है, प्रेम का वह रस हृदय को प्रफुल्लित कर देता है और विषयों के क्षणिक सुख को खा जाता है। इस प्रकार नीरसता का सरसता मे रूपान्तरण हो जाता है। कोई भी प्राणी रसरहित, नीरस जीवन नही जी सकता, कोई न कोई रस तो उसे जीवन मे चाहिये ही। यह नियम है कि जब तक जीवन मे निःस्वार्थ प्रेम का रस नही उमडेगा तब तक जीवन मे नीरसता आयेगी ही और नीरसता की भूमि मे वासना की उत्पत्ति होगी ही। अतः कामना-उत्पत्ति-रूप अशान्ति के दु ख से छुटकारा पाना है, विषय के क्षणिक पराधीन सुख से मुक्ति पाना है तो इसका उपाय है, राग के रस का प्रेम के रस मे रूपान्तरण करना।

प्रेम का क्रियात्मक रूप सर्वहितकारी प्रवृत्ति है, जिसे सेवा कहा जाता है। सेवा से हृदय का विषयरूप विष घुलता है, विषय का विष प्रेमरूप अमृत मे रूपान्तरित हो जाता है। सेवा उदयमान राग रूपी रोग को प्रेम मे रूपान्तरण करने की क्रियात्मक साधना है। साधु के लिये यद्यपि सयम और तपरूप निवृत्तिपरक साधना ही प्रमुख है फिर भी सर्वहितकारी, सर्व कल्याणकारी प्रवृत्ति के प्रेम से, उसका हृदय भी ओत-प्रोत रहता है। सेवा से जैसे-जैसे राग-द्वेष आदि दोष घटते जाते है वैसे-वैसे साधक का हृदय करुणा व प्रेम से अधिकाधिक भरता जाता है और वीतराग हो जाने पर अनत करुणा, अनत दान, अनत प्रेम (अक्षय रस) अनत ऐश्वर्य आदि उपलब्धिया प्राप्त हो जाती हैं।

मानवता—विषय-सुख जडता पैदा करता है अत· विषय-सुख के भोगी जीव मे जडता अधिक होती है। वह अपने विषय मे इतना आबद्ध होता है कि अपने सुख की प्राप्ति के लिए दूसरो की कितनी ही हानि हो, कितना ही दु·ख हो, उसका हृदय नही पसीजता है। उसे अपने विषय-सुख की पूर्ति के लिये दूसरो का शोषण, अपहरण, हिंसा आदि करने मे सकोच नही होता है। वह हृदयहीन होता है, उसका हृदय प्रस्तरवत् होता है। वह आकृति से भले ही मानव हो, उसमे मानवता नही होती। उसका मानव-जीवन पशु व पाषाण-

तुल्य ही बीतता है। वह मानवता के, मानव-धर्म के असीम रस के आस्वादन के अनुभव से वंचित रह जाता है।

मानवता की भूमि मे ही सवर, निर्जरा व पुण्यरूप साधनाएँ पनपती एव फलती-फूलती है। जहा मानवता ही नही वहा जीवन नही जटता है, धर्म नही धिक्कारता है। मानवता का भावात्मक-रूप करुणा है और क्रियात्मक रूप उदारता व सेवा है। जिस जीवन मे करुणा और सेवा नही वह मानव-धर्म से विमुख है। सेवा, गृहस्थ साधक के लिये भी सहज और सुगम साधना है, जो उसके रागादि दोषो को कम करती हुई, गलाती हुई, उसे त्याग और सयम की ओर, मुक्ति की ओर आगे बढाती है। वही गृहस्थ श्रेष्ठी या सेठ कहलाता है जो सेवाभावी हो, उदारमना हो, धन होने से कोई सेठ नही होता है। धन तो वेश्या और कसाई के पास भी होता है परन्तु वे श्रेष्ठ या सेठ नही कहे जाते और आदर के पात्र भी नही होते है।

कल्याण सेवा करने मे है, सेवा लेने मे नहीं—सेवा करना अच्छा है, परन्तु किसी से सेवा लेना अर्थात् सेवा का सुख भोगना विषय-भोग ही है जो लगता तो बडा ही मधुर है, परन्तु भयकर विष है। कारण कि जिससे सेवा का सुख भोगा जाता है उस व्यक्ति के प्रति राग-भाव जागृत होता है एव उसका ऋण-भार आ जाता है। उस ऋण से छुटकारा पाने का उपाय है, सेवा करना। किसी के अहसान का बदला सेवा से ही चुकाया जा सकता है। यही कारण है कि माता-पिता, पुत्र, पौत्र पति पत्नी आदि की बीमारी अवस्था मे जितनी सेवा की जाती है, उनके मरने पर उतनी ही मोहजन्य वेदना कम होती है पछतावा कम होता है, स्मृति शीघ्र धूमिल हो जाती है। और जो उनकी सेवा करने से वंचित रहता है, उनका मोह बना रहता है, बार-बार स्मृति आती है, हृदय कचोटता है। इस प्रकार [illegible] सेवा भी मोह गलाने मे कारण बनती है। जहां तक हो, साधक को चाहिए कि वह सेवा लेने से बचे। इसलिए जैनधर्म मे साधु को गृहस्थ से भार उठाना वस्तु मगवाना आदि से [illegible] [illegible] किया गया है।

सेवा लेने का सकल्प करना, सेवा लेने का सुख भोगना बधन-कारी है, परन्तु यदि कोई अपनी प्रसन्नता के लिए सेवा करता है तो उसके सकल्प को पूरा करने के लिए, उसकी प्रसन्नता के लिए साधक सेवा को स्वीकार कर सकता है। यह सेवा लेना सेवा करना है। कारण कि यह सेवा अपने सुख के लिए नही दूसरो को प्रसन्नता देने के लिए है। ऐसी सेवा लेना बधनकारी व ऋणरूप नही होती क्योकि उसमे सेवा लेने का भाव नही रहता और न सेवा के सुख भोगने का ही भाव रहता है। उस सेवा मे न कर्तृत्व-भाव है और न भोक्तृत्व-भाव। परन्तु, ऐसी सेवा लेने मे भी यह खतरा तो बना ही रहता है कि साधक अपने मन को मिथ्या ही सतोष देता रहे कि वह दूसरो की सकल्पपूर्त्ति के लिए ही उसे सेवा का अवसर दे रहा है और भीतर ही भीतर वह सेवा का सुख भोगता रहे। इसलिए जहा तक बन सके साधक अपने को दूसरो से सेवा लेने से बचावे।

मुक्ति-प्राप्ति—मुक्ति है बधन से छुटकारा पाना। बधन है पराधीन होना और पराधीनता वहाँ होती है जहा मोह और आसक्ति होती है। मोह और आसक्ति मिटने पर पराधीनता मिट जाती है और स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, यही मुक्ति है। स्वाधीनता की अनुभूति तब ही सभव है जब हमारा सुख पराश्रित न रहे। पराश्रय से छुटकारे के दो मार्ग है। प्रथम निवृत्तिपरक एव द्वितीय प्रवृत्तिपरक। निवृत्ति का अर्थ है कुछ न करना। साधक जब इस सत्य को समझ लेता है कि करते-करते [illegible] क का सारा जीवन बीत गया, परन्तु करने से जो फल [illegible] तो क[illegible] का अत हुआ और न सुख की वृद्धि ही हुई [illegible] रना [illegible] का त्यो शेष है और जीवन मे अ[illegible]। करना कुछ अर्थ रखता ही नह[illegible] विवेक को स्वीकार कर लेता है [illegible] होकर मुक्त हो जाता है।

ससारी प्राणी रागयुक्त होने [illegible] सकता अत उसको मुक्ति का प्र[illegible] प्रवृत्तिपरक मार्ग मे सेवा का

प्रवृत्ति करता है वह नवीन राग से नहीं बंधता है और उदयमान राग से रहित हो जाता है इसलिए प्रवृत्ति की सार्थकता सेवा में है। इस सेवा से ही पराश्रय का अंत संभव है।

अतः प्रवृत्तिमार्गी को पराश्रय या पराधीनता का अंत करने एवं स्वाधीनता प्राप्ति के लिए पराश्रय में सुख भोगने की भावना को पर-सेवा की सद्भावना में परिवर्तित करना होगा क्योंकि जिस वस्तु का उपयोग किसी व्यक्ति की सेवा में किया जाता है उस वस्तु की आसक्ति मिट जाती है और जिस व्यक्ति की सेवा की जाती है उसके प्रति मोह मिट जाता है। जिसके प्रति आसक्ति व मोह नहीं रहता उससे संबंधविच्छेद हो जाता है अतः सेवारूप प्रवृत्ति हमें पराश्रय-पराधीनता से मुक्त करने में समर्थ है। यही सच्ची मुक्ति है।

सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण

सेवा लेने का सकल्प करना, सेवा लेने का सुख भोगना बधनकारी है, परन्तु यदि कोई अपनी प्रसन्नता के लिए सेवा करता है तो उसके सकल्प को पूरा करने के लिए, उसकी प्रसन्नता के लिए साधक सेवा को स्वीकार कर सकता है। यह सेवा लेना सेवा करना है। कारण कि यह सेवा अपने सुख के लिए नही दूसरो को प्रसन्नता देने के लिए है। ऐसी सेवा लेना बधनकारी व ऋणरूप नही होती क्योकि उसमे सेवा लेने का भाव नही रहता और न सेवा के सुख भोगने का ही भाव रहता है। उस सेवा मे न कर्तृत्व-भाव है और न भोक्तृत्व-भाव। परन्तु, ऐसी सेवा लेने मे भी यह खतरा तो बना ही रहता है कि साधक अपने मन को मिथ्या ही सतोष देता रहे कि वह दूसरो की सकल्पपूर्त्ति के लिए ही उसे सेवा का अवसर दे रहा है और भीतर ही भीतर वह सेवा का सुख भोगना रहे। इसलिए जहा तक बन सके साधक अपने को दूसरो से सेवा लेने मे बचावे।

मुक्ति-प्राप्ति—मुक्ति है बधन से छुटकारा पाना। बधन है पराधीन होना और पराधीनता वहाँ होती है जहा मोह और आसक्ति होती है। मोह और आसक्ति मिटने पर पराधीनता मिट जाती है और स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, यही मुक्ति है। स्वाधीनता की अनुभूति तब ही सभव है जब हमारा सुख पराश्रित न रहे। पराश्रय से छुटकारे के दो मार्ग है। प्रथम निवृत्तिपरक एव द्वितीय प्रवृत्तिपरक। निवृत्ति का अर्थ है कुछ न करना। साधक जब इस सत्य को समझ लेता है कि करते-करते अब तक का सारा जीवन बीत गया, परन्तु करने से जो फल मिला उससे न तो करने का अत हुआ और न सुख की वृद्धि ही हुई और अब भी करना ज्यो का त्यो शेष है और जीवन मे अभाव का दुःख भी विद्यमान है। अत करना कुछ अर्थ रखता ही नही है। जो व्यक्ति इस सत्य अर्थात् विवेक को स्वीकार कर लेता है वह साधक सहज निवृत्ति को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है।

ससारी प्राणी रागयुक्त होने के कारण बिना प्रवृत्ति के रह नही सकता अत उसको मुक्ति का प्रवृत्तिपरक मार्ग अपनाना पडता है। प्रवृत्तिपरक मार्ग मे सेवा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो सेवा-रूप

प्रवृत्ति करता है वह नवीन राग से नही बधता है और उदयमान राग से रहित हो जाता है इसलिए प्रवृत्ति की सार्थकता सेवा मे है। इस सेवा से ही पराश्रय का अत सभव है।

अत प्रवृत्तिमार्गी को पराश्रय या पराधीनता का अत करने एव स्वाधीनता प्राप्ति के लिए पराश्रय से सुख भोगने की भावना को पर-सेवा की सद्भावना मे परिवर्तित करना होगा क्योकि जिस वस्तु का उपयोग किसी व्यक्ति की सेवा मे किया जाता है उस वस्तु की आसक्ति मिट जाती है और जिस व्यक्ति की सेवा की जाती है उसके प्रति मोह मिट जाता है। जिसके प्रति आसक्ति व मोह नही रहता उससे सबधविच्छेद हो जाता है अत सेवारूप प्रवृत्ति हमे पराश्रय-पराधीनता से मुक्त करने मे समर्थ है। यही सच्ची मुक्ति है।

सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण

व्यक्तियो का समुदाय ही समाज है। अत जैसे व्यक्ति होते हैं, वैसा ही समाज का निर्माण होता है अर्थात् जो गुण-दोष व्यक्तियो मे होते हैं वे ही गुण-दोष उनसे निर्मित समाज मे आ जाते हैं। समस्त सामाजिक बुराइयो व दोषो की जड समाज के व्यक्तियो की स्वार्थपरक सकीर्ण प्रवृत्तिया हैं तथा समाज की समस्त अच्छाइयो की जड समाज के लोगो की सेवावृत्ति है। वस्तुत समाज का प्राण या मूल तत्त्व पारस्परिक स्नेह व सेवाभाव है। सेवाभाव के अभाव मे समाज सुन्दर नही रहता, वह स्वार्थी व्यक्तियो का समुदाय मात्र रह जाता है। इसलिए सेवा सुन्दर समाज का अनिवार्य तत्त्व है।

व्यक्तियो के साथ सद्-व्यवहार करता है। उसके
व्यक्तियो के हृदय मे उसके प्रति सद्भाव स्वत:
यह सद्भाव का बीज पनपता है, पल्लवित होता है
के मधुर तथा सुन्दर फल लगते हैं। इस प्रकार
समुदाय से सुन्दर एव स्वस्थ समाज का निर्माण

व्यक्ति और समाज के बीच वही सबध
वाटिका के बीच मे है। व्यक्ति माली है और
जिस प्रकार वाटिका ... वाटिका पर
उसका कर्त्तव्य है ... की सेवा
व्यक्ति का जीवन ... और
वह समाज की सेवा करे ...
है तो प्रकारान्तर से ...
ससार मे प्राप्त सामग्री से स
प्रकारान्तर से अपनी ही ह

सेवा रूपी सिक्के के दो
सुन्दर समाज का निर्माण करना
व भोगवासना का त्याग कर अ
सर्वहितकारी प्रवृत्ति का अत स
निवृत्ति से अपना कल्याण होता है
हितकारी प्रवृत्तिरूप सेवा की स।
सुन्दर व्यक्तित्व और सुन्दर समाज
सेवा के ये दोनो ही पहलू महत्त्वपूर्ण है।

जिस प्रकार एक दाना बोने से फलरूप
उसी प्रकार हम दूसरो का जो कुछ बुरा-भला क
गुना अधिक होकर हम ही को मिलता है।
है। अत हम सेवा करके पहले स्वय मे सुन्दरता
लेंगे तो हमारी सुन्दरता स्वय हमारे साथियो
सुगन्धित व सुन्दर बनाने मे सहायक होगी। हमारी व
उदारता, प्रियता, हमारे साथियो मे भी कर्तव्यनि
स्वार्थता का भाव पैदाकर उन्हे सुन्दर बना देगी।

समुदाय समाज का ही अंग होता है। इस प्रकार हमारी कर्तव्य-परायणता, उदारता, प्रियतापूर्वक की गई सेवा-प्रवृत्ति समाज में कर्तव्यपरायणता, उदारता एवं प्रियता उत्पन्न कर सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक सिद्ध होगी। सच्चा सेवक सामग्री के सुख-भोग का त्यागी होता है अतः वह उसका उपयोग सर्वहितकारी प्रवृत्ति में करता है जिससे स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। पर-पीड़ा से पीड़ित सेवकों ने ही भौतिक उन्नति एवं आदर्श समाज का निर्माण किया है। भोगी व स्वार्थी व्यक्तियों ने तो संघर्ष, संहार व संकट को ही जन्म दिया है।

जहां केवल स्वार्थपरता है वहां समाज का निर्माण नहीं होता। यही कारण है कि पशुओं का कोई अपना समाज या संस्था नहीं होती। मानव सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता का आधार है पारस्परिक सहयोग अर्थात् सेवा है। मानव-समाज की सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि पारस्परिक सहयोग या सेवा-कार्य पर ही निर्भर है। मानव-समाज में जितनी मानवता या सेवा-परायणता की वृद्धि होगी, उतनी सुख व समृद्धि में भी वृद्धि होगी, सुन्दर समाज का निर्माण होगा। अतः मानव मात्र का कर्तव्य है कि वह अपने को प्राप्त तन, मन, धन आदि समस्त सामग्रियों का उपयोग सेवा में करे। इसी में मानव का व मानव-समाज का हित निहित है।

व्यक्तियो के साथ सद्-व्यवहार करता है। उसके सद्-व्यवहार से उन व्यक्तियो के हृदय मे उमके प्रति सद्भाव स्वत: प्रकट होता है फिर यह सद्भाव का बीज पनपता है, पल्लवित होता है तथा उस पर प्रेम के मधुर तथा सुन्दर फल लगते हैं। इस प्रकार सुन्दर व्यक्तियो के समुदाय से सुन्दर एव स्वस्थ समाज का निर्माण होता है।

व्यक्ति और समाज के बीच वही सबध है जो माली और वाटिका के बीच मे है। व्यक्ति माली है और समाज वाटिका है। जिस प्रकार वाटिका का माली वाटिका पर निर्भर करता है और उसका कर्त्तव्य है कि वह वाटिका की सेवा करे। इसी प्रकार व्यक्ति का जीवन समाज पर निर्भर है और उसका कर्त्तव्य है कि वह समाज की सेवा करे। यदि माली वाटिका की सेवा नही करता है तो प्रकारान्तर से अपनी ही हानि करता है। इसी प्रकार व्यक्ति ससार मे प्राप्त सामग्री से समाज की सेवा नही करता है तो वह प्रकारान्तर से अपनी ही हानि करता है।

सेवा रूपी सिक्के के दो पहलू है—1 सर्वहितकारी प्रवृत्ति से सुन्दर समाज का निर्माण करना और 2 प्राप्त वस्तु आदि की ममता व भोगवासना का त्याग कर अपना कल्याण करना। कारण कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति का अत सहज निवृत्ति मे होता है। सहज निवृत्ति से अपना कल्याण होता है। यही नही सहज निवृत्ति से सर्व-हितकारी प्रवृत्तिरूप सेवा की सामर्थ्य आती है। इस प्रकार सेवा से सुन्दर व्यक्तित्व और सुन्दर समाज दोनो का निर्माण होता है। सेवा के ये दोनो ही पहलू महत्त्वपूर्ण है।

जिस प्रकार एक दाना बोने से फलरूप मे कई दाने मिलते है, उसी प्रकार हम दूसरो का जो कुछ बुरा-भला करते है वह कितने ही गुना अधिक होकर हम ही को मिलता है। यह प्राकृतिक विधान है। अत हम सेवा करके पहले स्वय मे सुन्दरता का बीज-वपन करेंगे तो हमारी सुन्दरता स्वय हमारे साथियो को पुष्प की तरह सुगधित व सुन्दर बनाने मे सहायक होगी। हमारी कर्तव्यपरायणता, उदारता, प्रियता, हमारे साथियो मे भी कर्तव्यनिष्ठा, उदारता व स्वार्थता का भाव पैदाकर उन्हे सुन्दर बना देगी। साथियो का

समुदाय समाज का ही अंग होता है। इस प्रकार हमारी कर्तव्य-परायणता, उदारता, प्रियतापूर्वक की गई सेवा-प्रवृत्ति समाज में कर्तव्यपरायणता, उदारता एवं प्रियता उत्पन्न कर सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक सिद्ध होगी। सच्चा सेवक सामग्री के सुख-भोग का त्यागी होता है अतः वह उसका उपयोग सर्वहितकारी प्रवृत्ति में करता है जिससे स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। पर-पीड़ा से पीड़ित सेवकों ने ही भौतिक उन्नति एवं आदर्श समाज का निर्माण किया है। भोगी व स्वार्थी व्यक्तियों ने तो संघर्ष, संहार व संकट को ही जन्म दिया है।

जहां केवल स्वार्थपरता है वहां समाज का निर्माण नहीं होता। यही कारण है कि पशुओं का कोई अपना समाज या संस्था नहीं होती। मानव सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता का आधार ही पारस्परिक सहयोग अर्थात् सेवा है। मानव-समाज की सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि पारस्परिक सहयोग या सेवा-कार्य पर ही निर्भर है। मानव समाज में जितनी मानवता या सेवा-परायणता की वृद्धि होगी, उतनी सुख व समृद्धि में भी वृद्धि होगी, सुन्दर समाज का निर्माण होगा। अतः मानव मात्र का कर्तव्य है कि वह अपने को प्राप्त तन, मन, धन आदि समस्त सामग्रियों का उपयोग सेवा में करे। इसी में मानव का व मानव-समाज का हित निहित है।

सत्प्रवृत्ति के साथ रहे हुए त्याग मे हैं, जिससे व्यक्ति के दोष गलते है। सम्मान के लिए दिया गया दान, दाता के लिए मान कषाय की वृद्धि का हेतु होने से उतना हितकर नही है, जितना निष्काम भाव से करुणार्द्र होकर दिया गया दान। परन्तु, जिसे दान दिया जा रहा है उसके लिए तो वह हितकर है। इस प्रकार एक पक्ष के लिए हितकर होने से भी यह अच्छा है। भोगी व्यक्ति के लिए किसी वस्तु का दान देना या न देना दोनो ही बध के कारण हैं। वस्तु का दान न देने पर तो वस्तु के प्रति रही हुई उसकी ममता व भोग की कामना उसके बधन का कारण बन ही रही है अत. दान न देने मे अहित ही है। बध का कारण भोगेच्छा है,वस्तु नही। फिर भी दान न देने से तो अपना व जगत् इन दोनो मे से किसी का भी हित नही है। जबकि सम्मान के लिए दान देने मे भी जगत् का हित सभव है तथा उस दान से दाता के हृदय में प्रेम, करुणा, अनुकम्पा-भाव जागृत होने की सम्भावना है। अत वह दाता के अपने हित मे भी निमित्त बन सकता है। इस प्रकार सम्मान के लिए दान देना, दान न देने की अपेक्षा हितकर है। दूसरी बात यह है कि दाता के कषाय की वृद्धि या कर्मबध का कारण प्रदत्त वस्तु नही है, प्रत्युत उसका मान कषाय है। अत सम्मान के लिए दिया गया दान भी अहितकर नही है। स्मरण रहे दान के साथ रहा हुआ कषाय बुरा है, दान नही। सेवा का एक लाभ यह है कि क्रियात्मक सेवा करने से भावनात्मक सेवा की स्फुरणा होती है। दूसरो की प्रसन्नता से उसे निर्विकार प्रसन्नता का रस मिलता है। जिससे उसमे उदारता का भाव जगता है जो सेवक के लिए कल्याणकारी है। साथ ही साथ जिसकी सेवा की जाती है उसमे भी सेवक के प्रति आत्मीयता का, मैत्री का, प्रेम का भाव जगता है वह उसके लिए हितकारी है। तात्पर्य यह है कि सेवा न करने के बजाय सेवा किसी भी रूप मे करना अच्छा है। इससे हानि तो कुछ है नही लाभ ही लाभ है और करुणार्द्र होकर प्रतिफल की इच्छा रहित सेवा करना इससे भी लाख गुणा अच्छा है। अर्थात् सम्मान आदि भौतिक लाभ के लिए भी सेवा करना अच्छा ही है। परन्तु, उससे अधिक अच्छा है निष्काम भाव से सेवा करना।

□

दान

दया का ही दूसरा रूप दान है। दान का लक्षण बताते हुए वाचक श्री उमास्वाति ने कहा है—

“अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्” तत्त्वार्थसूत्र 7-33 अर्थात् अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। अनुग्रह की व्याख्या करते हुए कहा है “स्वपरोपकारो अनुग्रह” अर्थात् अपना और दूसरे का उपकार 'भला' करना अनुग्रह है। सर्वार्थसिद्धि-टीका में कहा है 'परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्” अर्थात् दूसरे का उपकार हो, इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है। त्याग को जैनागम में धर्म कहा है अतः 'दान' धर्म है। धर्म होने से मुक्ति का मार्ग है, यथा—

अर्थात् सर्व तीर्थकरो ने दान, शील, तप और भाव-रूप चार प्रकार का धर्म कहा है तथा इसे ही श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूप मे दो प्रकार का भी कहा है। चार प्रकार के धर्मों मे भी सर्व प्रथम स्थान दान का है।

यह सर्व विदित है कि भोगी व्यक्ति स्वार्थी होता है, वह अपने सुख को ही सब कुछ समझता है, भले ही उसकी स्वार्थपूर्ति से दूसरो को कितना ही कष्ट पहुचता हो या उनका अहित होता हो। इसके विपरीत त्यागी व्यक्ति उदार होता है, उसे अपने सुख व सुख-सामग्री का वितरण कर दूसरो के दु ख को दूर करने, उन्हे प्रसन्न देखने मे प्रसन्नता होती है। भोगी व्यक्ति इन्द्रियो का दास होता है। इन्द्रियो की दासता पशुता की द्योतक है। इन्द्रियो का दास स्वार्थी होता है। अत स्वार्थपरता पशुता की सूचक है। स्वार्थी व्यक्ति हृदयहीन होता है। उसमे जडता होती है, सवेदनशीलता, सहयोग व परोपकार की भावना नही होती। जड व चेतन मे अन्तर है तो वह सवेदनशीलता का ही है। जिसमे सवेदनशीलता नही है वह जड है, जिसमे सवेदनशीलता है वह चेतन है। सवेदनशीलता का विकास ही चेतना का विकास है। सवेदनशील व्यक्ति मे ही परोपकार या दान की भावना जगती है। अत परोपकार या दानभावना की जागृति व वृद्धि चेतना के विकास की वृद्धि की द्योतक है। करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, भ्रातृत्व, मैत्री आदि भाव सवेदनशीलता के ही परिचायक है, इन्ही का क्रियात्मक-रूप परोपकार, दान या सेवा है। वात्सल्यभाव सम्यक्त्व का अग या आचार है और सम्यक्त्व धर्म है। अत. अनुकम्पा और वात्सल्य भी धर्म ही है। करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्री आदि भाव किसी कर्म का फल या उदय नही है अपितु स्वत सहज जागृत होते है अत स्वभाव है। जो स्वभाव-रूप होता है वह धर्म है। अत. ये स्वभाव धर्मरूप है। धर्म कर्मबन्ध का कारण कदापि नही होता है प्रत्युत कर्म-क्षय का कारण होता है। अत करुणा आदि भावो को कर्म-क्षय का कारण न मानना और कर्म-बध का कारण मानना भूल है जैसा कि आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

भिन्न दानेन भोगाप्तिस्ततो भवपरम्परा ।
धर्माधर्मक्षयान् मुक्तिर्मुमुक्षोर्नेष्टमित्यदः ॥
नैव यत्पुण्यबन्धोऽपि धर्महेतुः शुभोदय ।
वह्नेर्दाह्य विनाश्येव नश्वरत्वात् स्वतो मत ॥

प्रथम द्वात्रिंशिका, 7

जिज्ञासा—दान से भोग की प्राप्ति होती है अत इससे भव-परम्परा बढती है जबकि मुक्ति की प्राप्ति धर्म और अधर्म के क्षय से होती है । अत मुमुक्षु के लिये दान इष्ट नही है ।

या दान कर्मबन्ध का कारण होता तो साधक जैसे-जैसे आगे बढता जाता है उसके अधिक से अधिक कर्मबध होता जाता है और अनन्त-दानी वीतराग केवली के अनन्त कर्मबध होता है। यदि दान जीव के लिये किसी भी गुण का घात करने वाला होता अर्थात् घातक होता तो साधक को वीतराग नही होने देता, वीतरागता मे बाधक होता।

पशु और मानव मे अन्तर है तो उदारता का ही है। जहाँ उदारता है वहाँ मानवता है। उदारता व मानवता रहित मानव आकृति से भले ही मनुष्य हो, प्रकृति से पशु ही है। अत जहाँ मानवता नही, वह मानव ही नही है। जो मानव नही है, वह मुक्ति का अधिकारी ही नही है। मुक्ति का अधिकारी वही है जो मानव है। कारण कि मानवता के अभाव मे शील, सयम, तप, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, एव सम्यक्चारित्र सभव ही नही है। जैसे भूमि के अभाव मे बीज पनप नही सकता उसी प्रकार मानवता-उदारता रूप दान के अभाव मे धर्म का पौधा पनप नही सकता। इसलिये दान को मुक्ति के मार्ग मे प्रथम स्थान दिया है।

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी है कि शील, तप, सयम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अन्य साधनाओ का लाभ तो साधक को स्वय को ही मिलता है, परन्तु दान का लाभ स्व को, पर को, विश्व को व सबको मिलता है। विशेषत. दीन, दु खी, अनाथ, रोगी, अपग, दरिद्र आदि जीव दान से ही उपकृत होते है। दानी व्यक्तियो से ही सुन्दर परिवार व समाज का निर्माण होता है। जिस परिवार मे ऐसे स्वार्थी व्यक्ति होते हैं जो परिवार के सदस्यो के हित का ध्यान नही रखते है, अपनी स्वार्थपूर्त्ति व सुख-सुविधा मे लगे रहते हैं, उस परिवार मे रात दिन कलह, सघर्ष, द्वन्द्व व तनावमय वातावरण रहता है, वह घर नरक बन जाता है। इसके विपरीत जिस परिवार मे उदारचेता व्यक्ति होते हैं जो स्वय दु ख उठाकर भी परिवार के सदस्यो के लाभ व सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं उस घर मे प्रेम की गगा बहती है जिसकी सरसता से सारा परिवार रस मे सराबोर हो जाता है। वहा स्वर्गीय वातावरण होता है।

अर्थात् जगत् मे अति विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रेम-पूर्वक सुपात्र के लिये दिया गया दान जितना उन्नत फल देता है उतना घर की अनेक वाधाओ व पापपुञ्ज से कुवडे हुए अर्थात् शक्तिहीन हुए गृहस्थ के व्रतो से उन्नत फल नही मिलता है। अर्थात् गृहस्थ के लिये 'दान' श्रेष्ठ धर्म है तथा उत्तम फल देने वाला है।

दान मे वस्तु का महत्त्व उतना नही है जितना भावना का है। चित्त की जिस प्रकार की चेतना है, सद्भाव की जैसी न्यूनाधिकता से दान दिया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। कहा भी है "यादृशी भावना यस्य तादृशी सिद्धिर्जायते" अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है।

दान धर्म समस्त सद्गुणो का मूल है, अत पारमार्थिक दृष्टि से इसका विकास अन्य सद्गुणो के उत्कर्ष का बीज है और व्यावहारिक दृष्टि से मानवीय जीवन-व्यवस्था के सामजस्य का आधार है।

दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दोवि गच्छति सोग्गइ ॥

दशवैकालिकसूत्र—अ 5 उ 1 गा 100

अर्थात् निष्काम भाव से दान देने वाला व निष्काम भाव से दान लेने वाला ये दोनो ही दुर्लभ है। निष्काम भाव से दान देने वाला व लेने वाला दोनो सद्गति को जाते है।

दान से, दान देने वाले तथा दान स्वीकार करने वाले दोनो का हित होता है। देने वाले का हित तो उस देय वस्तु से राग, सुखासक्ति व ममता का क्षयरूप त्याग है। इससे उदारता रूप महान् गुण प्रकट होता है। दान स्वीकारकर्ता का हित यह है कि इसमे दाता को उदारता के प्रतिप्रियता का उदय होता है, उसके हृदय मे उदारता की महिमा व रुचि जागृत होती है जिससे उसमे समस्त सद्गुणो का विकास होता है।

वीतराग केवली अनन्तदानी होते हैं। 'दान' करुणा रूप स्वभाव का ही क्रियात्मक रूप है। केवली सभी को उपदेश देते हैं, उनमें अभव्य जीव भी होते हैं और उनमें कुपात्र-सुपात्र का कोई भेद नहीं होता है। अतः दाता की दृष्टि में दान में कुपात्रता-सुपात्रता का भेद होता ही नहीं है। यदि कुपात्रता-सुपात्रता का भेद होता तो सर्वज्ञ के प्रवचन में से अभव्य जीवों को निकाल दिया जाता, पर ऐसा होता नहीं है। कुपात्रता-सुपात्रता तो दान ग्रहण करने वाले व्यक्ति में अपनी व्यक्तिगत होती है। कोई दाता किसी को हितकारी अच्छी वस्तु दान में दे और वह उसका दुरुपयोग करे इसमें दाता का कोई दोष नहीं है। दाता तो दान सामने वाले के हित के लिए ही देता है। दाता का यह दान स्व पर हितकारी व सर्व-कल्याणकारी होता है। दान मुक्ति का कारण होने से धर्मरूप ही है। दिगम्बर विद्वान् जिनेन्द्रकुमार वर्णी, एवं रतनचन्दजी मुख्तार ने प्रस्तुत पुस्तक में दिए गए अपने लेख में दान को धर्म लिखा है सो उपयुक्त ही है। धर्म के साथ पुण्य बन्ध ... लगा हुआ है जैसे काया के साथ छाया।

प्रयोग होता । परन्तु, त्याग के साथ दान भी अभीष्ट है। इसलिए वीतराग भगवान् "अनन्तदानी" गुण से विभूषित है।

जहा राग होता है, वहा भोग होता है, स्वार्थ होता है। जिस वस्तु से राग है उस वस्तु से ममता होती है, उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है, उसके साथ फलासक्ति होती है अत· वह वस्तु दी नही जा सकती है। फलत रागयुक्त मानव पूर्ण त्यागी नही हो सकता, पूर्ण दानी भी नही हो सकता। वह राग की पूर्ति करने वाली वस्तु को बचा कर रखेगा, परन्तु वीतराग को लेश मात्र भी राग नही होता है। अत· उसे अपने लिए कोई भी वस्तु तन, मन, इन्द्रिय, वचन आदि नही चाहिए। उससे इन सबकी प्रवृत्ति जगत्हित के लिए होती है। यही अनन्तदान है। यही विधेयात्मक अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

जैनागम स्थानागसूत्र के दशवे स्थान मे दान के दश स्थान गिनाये है, जिनमे अनुकम्पा और करुणा को भी दान मे स्थान दिया गया है। आगमो मे दान के अनेक उदाहरण आते है, यथा–सभी तीर्थंकर अपनी दीक्षा के पूर्व एक वर्ष तक मुक्त हस्त से दान देते है। श्रावक परदेशी राजा ने दानशाला खुलवायी, श्राविका रेवती ने भगवान् महावीर को बिजोरापाक का दान देकर व श्रेयासकुमार ने भगवान् ऋषभदेवको इक्षुरस का दान देकर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को दान देकर अपना जीवन धन्य बनाया।

जैनधर्म मे नव प्रकार के पुण्य कहे गये है, यथा—अन्न, जल, आवास, शय्या, वस्त्र, मन, वचन, काया और नमस्कार। इन नव प्रकार के पुण्य या पावन कार्यों के वर्तमान मे विशेष और अतिमहत्वपूर्ण रूप भी सामने आये है, जैसे—कायपुण्य मे पहले काया की क्रिया द्वारा दूसरो की सेवा करना ही सम्मिलित होता था। आज तो काया का अग या अश भी दान मे दिया जा सकता है, जैसे—रक्तदान, नेत्रदान, गुर्दादान आदि। रक्तदान से व्यक्ति मृत्यु से बच जाता है। अत यह जीवनदान है, मानव को जीवन देना है।

5 जे एण पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करतिते (सूत्रकृतांग), जो अनुकंपा दान का प्रतिषेध करता है वह असहायों की वृत्ति का छेदन करता है।

6. जे पुरालच्छि संचदि ण य देदि पत्तेसु।
सो अप्पाण वंचिदि मणुयत्तणिप्फल तस्स।।

जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करता है, दान नहीं देता वह अपनी आत्मा की वंचना करता है, उसका मनुष्य-जन्म लेना वृथा है।

7. दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति।
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमपैति दानात्
तस्माद्धि दान सतत प्रदेयम् (धर्मरत्नप्रकरण-सटीक)

दान से प्राणी वशीभूत होते हैं। दान से वैर नाश को प्राप्त होता है। पराया व्यक्ति भी दान से बन्धुता को प्राप्त होता है। इसलिए सतत दान देना चाहिए।

8 कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया अतिरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति। —परमात्मप्रकाश-टीका 2/111

प्रश्न होता है कि श्रावकों का दानादिक ही परमधर्म कैसे है? तो उत्तर में कहना होगा कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के आधीन हैं, इससे उनके आर्त्त-रौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके कोई ठिकाना ही नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि कषायभाव की कमी के लिए दान भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

□

5 जे एण पडिसेहति वित्तिच्छेय करतिते (सूत्रकृताग), जो अनुकपा दान का प्रतिषेध करता है वह असहायो को वृत्ति का छेदन करता है।

6 जे पुराणलच्छि सचति रण य देदि पत्तेसु।
सो अप्पाण वचिदि मणुयत्ताणिप्फल तस्स ।।

जो मनुष्य लक्ष्मो का सचय करता है, दान नही देता वह अपनी आत्मा की वचना करता है, उसका मनुष्य-जन्म लेना वृथा है।

7 दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति ।
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि वन्धुत्वमपैति दानात्
तस्माद्धि दान सतत प्रदेयम् (धर्मरत्नप्रकरण-सटीक)

दान से प्राणी वशीभूत होते हैं। दान से वैर नाश को प्राप्त होता है। पराया व्यक्ति भी दान से बन्धुता को प्राप्त होता है। इसलिए सतत दान देना चाहिए।

8 कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया अतिरौद्रध्यानरताना निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति । —परमात्मप्रकाश-टीका 2/111

प्रश्न होता है कि श्रावको का दानादिक ही परमधर्म कैसे है? तो उत्तर मे कहना होगा कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के आधीन है, इससे उनके आर्त्त-रौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते है। इस कारण निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके कोई ठिकाना ही नही है। कहने का अभिप्राय यह है कि कषायभाव की कमी के लिए दान भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

□

होता है, मोह होता है, वत्सलता नही। अत वत्सलता नि.स्वार्थ प्रेम की ही द्योतक है।

वत्स माता के सयोग या सेवा के बिना एक दिन भी नही जी सकता, पुत्र पैदा हुआ और पैदा होते ही उसे दूध चाहिये। यदि माता उसे दूध न पिलाये तो वह जिन्दा नही रह सकता। माता का उसे दूध पिलाना अनिवार्य है। दूध पिलाना ही नही हर प्रकार की सहायता करना माता का कर्त्तव्य है। जो माता ऐसा नही करती वह वात्सल्यधर्म नही निभाती है अत "वात्सल्य" शब्द सक्रिय सहायता का ही द्योतक है। यही अहिंसा का विधिपरक रूप है। तीर्थ कर भगवान् तीन करण तीन योग से अहिंसा के पालक होते हैं। आगम मे उनके लिए वात्सल्य विशेपण का प्रयोग विशेप रूप से किया है। इसमे स्पष्ट है कि भगवान् सर्वहितकारी प्रवृत्ति करते ही थे, जैसा कि प्रश्नव्याकरणसूत्र सवर-द्वार एक मे कहा है— 'ऐसा भगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदसणधरेहिं सील-गुण–विणय-तव सजम-नायकेहि तित्थकरेहिं सव्वजगवच्छलेहिं तिलोगमहिएहिं जिणचदेहिं सुट्ठुदिट्ठा' अर्थात् अपरिमित ज्ञान-दर्शन धारण करने वाले, शील, विनय, तप, सयम के नायक तीर्थकर, सर्वससार के जीवा के प्रति वात्सल्यकारक, तीनो लाको मे पूजनीय, वीतराग देव अहिंसा के विशिष्ट रूप मे ज्ञाता द्रष्टा भी है। वीत-राग भगवान् जगत्वत्सल हैं, इस प्रकार का उल्लेख आगमो मे अन्यत्र भी मिलता है।

वात्सल्यभाव अहिंसा का विधेयात्मक रूप है। इसे अनुराग भी कहते हे। राग का शोधन या परिष्कार अनुराग है। राग आत्मा के पतन का कारण है। यही राग जव अनुराग का रूप धारण कर लेता है तो आत्मा के उत्थान का कारण वन जाता है। राग हमेशा स्थूल या भौतिक पदार्थो के प्रति होता हे और अनुराग प्राणी के आत्मगुणो के प्रति होता है। राग जड-पदार्थो से सम्वन्ध जोडना है अत जड़ता पैदा करता है। अनुराग चैतन्य से सम्वध जोडता है, अत· चिन्मयता का विकास करता है। अनुराग का अन्त विराग मे

होता है। विराग की चरमसीमा वीतराग अवस्था है। सेवा या परोपकार की प्रवृति का क्रियात्मक रूप विराग है। तात्पर्य यह है कि सेवा या वात्सल्यभाव की उपयोगिता का महत्त्व जीवन के विकास क्रम मे आदि से अन्त तक है।

मोह-भाव और वात्सल्य-भाव मे वहुत अन्तर है। मोह मे दूसरो से सुख पाने की भावना रहती है, वात्सल्य मे दूसरो को सुख पहुचाने की, उनका दु ख दूर करने की भावना रहती हे और उनसे प्रतिफल मे सुख मिले यह भावना नही रहती। मोह मे सुख के आदान-प्रदान की भावना रहती है और वात्सल्य मे अपने को प्राप्त सुख के साधनो को दूसरो के हित मे वितरण करने की भावना रहती है, जो ऐन्द्रिक सुख की दासता से मुक्ति दिलाने मे सहायक होती है। मोह मे स्वार्थपरता होती है और वात्सल्य मे उदारता होती है। उदारता या आत्मीयता की भावना से जिसके साथ उदारता का व्यवहार किया जाता है, उसमे भी उदारता एव आत्मीयभाव की जागृति होती है, जो उसके आत्म-विकास मे सहायक होती है।

वात्सल्य का क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही राग पतला होगा। जिस प्रकार रवर का गुब्बारा जितना फैलता जाता है उतना ही पतला होता जाता है और चरम सीमा पर फैलने पर फूट जाता है, इसी प्रकार जिसका मोह या राग जितना-जितना पतला होता जाता है आत्मीयभाव उतना ही उतना विस्तृत होता जाता है और फैलता जाता है। उसका आत्मीयभाव परिवार से पडौस मे पडौस से समाज मे, समाज से सम्पूर्ण मानव जाति मे, मानव जाति मे पशु पक्षियो मे, कीट-पतगो मे, वनस्पति आदि स्थावर जीवो मे फैलता हुआ प्राणी मात्र तक फैल जाता है और सर्वहितकारी-भाव का रूप ले लेता है। अन्त मे मोह और राग का क्षय होकर क्षीणमोह या वीतराग अवस्था प्राप्त हो जाती है।

वात्सल्य या आत्मीयभाव का क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा को शास्त्रीय भाषा मे वैयावृत्य कहा गया है।। वैयावृत्य (सेवा) को आभ्यन्तर तप मे स्थान दिया गया है। आभ्यन्तर तप का कर्म क्षय

या निर्जरा मे सबसे अधिक महत्त्व है। फलितार्थ यह है कि सेवा रूप वात्सल्यभाव का कर्मों को क्षय करने मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए सम्यक्त्व के आठ अगो मे वात्सल्यभाव को भी अग माना है।

जिस प्रकार वात्सल्यभाव मे माता अपने पुत्रो की समान भाव से सेवा करती है, उसके हृदय मे किसी पुत्र के प्रति भेदभाव नही होता है फिर भी वह जानती है कि जो पुत्र अधिक दु.खी है उसे अधिक सहायता की अपेक्षा है, वह अन्य पुत्रो से प्रथम व अधिक सहायता पाने का पात्र है। अत वह अपने पुत्रो मे जो अधिक कमजोर है, दु खी है उसकी सेवा को प्राथमिकता देती है, इसी प्रकार समाज मे जो सबसे अन्तिम स्तर पर निर्बल है, दरिद्र है वे अधिक सहायता के पात्र है। अत इस अतिम स्तर के वर्ग की सेवा करके उसे ऊँचा उठाना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। अन्त्योदय मे यही वात्सल्य-भावना काम करती है।

किसी जीव को बचाने मे वात्सल्यभाव होता है। वात्सल्य भगवद्गुण है। भगवान् जगत्वत्सल होते है। जैसे माता मे अपने वत्सो के प्रति हित की भावना होती है तथा उसका प्रत्येक कार्य अपने पुत्रो के हित के लिए होता है, उसी प्रकार जगत्वत्सल प्रभु मे सर्वहित की भावना होती है। यदि माता के दो पुत्र परस्पर लडते हैं, एक दूसरे को मारते है या कष्ट पहुचाते है तो वह उन्हे रोकती है, उन्हे अवाछनीय घटना से बचाती है। इसमे माता का एक पुत्र के प्रति राग और दूसरे पुत्र के प्रति द्वेष हो, सो नही है। उसे सब पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। वह सभी का हित चाहती है। उसका यह कार्य श्रेष्ठ है, राग द्वेष रूप पाप कार्य नही है, क्योकि यह कार्य उसकी सुखासक्ति अर्थात् राग को गलाने वाला है। इसी-लिए वात्सल्य को कल्याणकारी-मगलकारी कहा है। बचाने वाले के हृदय मे जिसको बचाया जाता है उसके प्रति और जिससे बचाया जाता है उसके प्रति अर्थात् सबके प्रति वात्सल्यभाव होता है जो भगवद्गुण है।

मनुष्य और अन्य प्राणियो मे एक बहुत बडा अतर है। अन्य प्राणियो को उनकी माता जन्म देती है, परन्तु उनको इतना वात्सल्य नही दे सकती जितना मानव की माता। इसका एक मुख्य कारण यह है कि मानेवतर प्राणियो की माता को अपना भोजन स्वय जुटाना पडता है जिसके लिए अपने बच्चो को छोडकर इधर-उधर भागदौड करनी पडती है। उसे अपने शरीर की रक्षा के लिए ही अपनी सारी शक्ति, श्रम व समय लगाना होता है। दूसरा कारण भाषा, भावाभिव्यक्ति के साधन, बुद्धि आदि भी उसके पास इतने अधिक व उच्चस्तर के नही होते हैं जितने मानव के पास। इन कारणों से मानवेतर प्राणियो की माता के वात्सल्य-भाव से मानव की माता का वात्सल्यभाव श्रेष्ठ है। यही माता की श्रेष्ठतम शक्ति है और सम्पत्ति भी है। यदि मानव की माता मे वात्सल्य-भाव नही होता तो वह पशुकोटि का प्राणी होती। मानव को वात्सल्यभाव की यह जन्म-घुट्टी उसे अपनी माता के स्तनपान के साथ ही मिलती है। इस वात्सल्यभाव का ही दूसरा नाम मानवता है। वात्सल्य का विकास ही मानवता का विकास है। वात्सल्य या मानवता के अभाव मे 'मानव' मानव नही रह जाता है और न पशु ही रह जाता है अपितु राक्षस बन जाता है जो पशुता की तुलना मे असख्य गुणा अधिक भयकर बुरा है, क्योकि पशु अपनी ओर से किसी को हानि पहुचाने का सकल्प नही करता है वह सुरक्षा का खतरा उत्पन्न होने पर या भूख लगने पर ही दूसरो पर आक्रमण करता है, सग्रह के लिए नही जबकि स्वार्थी मनुष्य सग्रह के लिए विश्व का शोषण करने व हानि पहुचाने की तैयारी करता ही रहता है। उसका हृदय अत्यन्त कठोर व महाक्रूर होता है।

वात्सल्यभाव मे प्रेम होता है। प्रेम स्वयभू होता है, वह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नही होता है। जो किसी से किसी अपेक्षा को लेकर पैदा होता है वह स्वार्थ है, प्रेम नही। प्रेम मे किसी भी प्रकार की कोई भी अपेक्षा नही होती है। प्रेम सर्वथा नि स्वार्थ होता है। प्रेम व्यापक होता है, सबके प्रति समान होता है, प्रेम मे न्यूनाधिकता नही होती। जहा प्रेम मे न्यूनाधिकता है वहा द्वेष है। जहा द्वेष का

भाव होता है वहा प्रेम नही होता है। प्रेम तो जाति-पाँति, सप्रदाय धर्म, वर्ग, समाज, वाद, मत, आदि के भेद के बिना सबके प्रति समान होता है। माता का भी सपूत-कपूत का भेद किए बिना पुत्र के प्रति अपार प्यार उमडता है। वह उसका दु:ख दूर करने के लिए अपना सर्वस्व तक अर्पण करने को तैयार रहती है। गाय अपने बछडे की रक्षा के लिए सिह से मुकाबला कर अपने प्राण भी न्यौछावर कर देती है। ऐसा वात्सल्यभाव समस्त प्राणियो के प्रति जागृत हो जाना ही ईश्वरीय प्रेम है। जितना-जितना राग घटता जाता है उतनी ही प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत: होती जाती है। राग ही प्रेम का घातक और बाधक है। अत राग के त्याग मे ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। जितनी राग, मोह या विषय-भोग मे कमी होती जाती है उतनी ही चेतना का भोग-उपभोग गुण प्रकट होता जाता है। इसे ही जैन-दर्शन मे भोगान्तराय व उपभोगान्तराय का क्षयोपशम कहा है।

वात्सल्य के इसी महत्त्व के कारण उसे सम्यग्दर्शन का अग भी कहा गया है, यथा—

> निस्सकिय निक्कखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
> उवगूहथिरीकरणे वच्छलपभावणे अट्ठ ॥
>
> (उत्तराध्ययनसूत्र-8-31)

अर्थात् नि शकित, नि.काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण है। मूलाचार (अ 20), सर्वार्थसिद्धि (6-24), राजवार्त्तिक (6.24), पचाध्यायी (479-80) आदि मे भी इनका उल्लेख है। समयसार (177) एव वसुनन्दिश्रावकाचार (49) मे सवेग, निर्वेद, निदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा वात्सल्य ये आठ गुण सम्यक्त्व युक्त जीव के बताए गए है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'वात्सल्य' व 'अनुकपा' ये दोनो सम्यग्दर्शन के अग या आचार है। सम्यग्दर्शन

मोक्ष-मार्ग का साधन होने से धर्म है। अत: वात्सल्यभाव भी धर्म ही है। वात्सल्यभाव प्रवृत्तिपरक है अत. कुछ लोग इसे धर्म न मानकर केवल पुण्य ही मानते हैं। परन्तु, सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अग को धर्म न माना जाय तो फिर सम्यग्दर्शन के अन्य अग नि शकित नि काक्षित आदि को भी धर्म नही मानना होगा, जो आगम-विरुद्ध है। अत वात्सल्यभाव धर्म है। वात्सल्य का ही एक रूप आत्मीयता है।



आत्मीयता और सहानुभूति

जैसे चन्द्रिका का विकास चन्द्र के विकास का द्योतक है उसी प्रकार आत्मीयता का विकास आत्मा के विकास का द्योतक है। जैसे-जैसे आत्मा का विकास होता जाता है वैसे-वैसे आत्मीयता का विकास होता जाता है। आत्मीयता का क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा के विविध रूप हैं—दान, दया, वत्सलभाव, मैत्रीभाव आदि। अर्थात् अहिंसा के जितने भी सकारात्मक रूप हैं, उन सबका प्राण या हार्द आत्मीयता ही है। जैसे हम स्वयं अपने आपको प्यारे लगते हैं वैसे ही सभी प्राणियों का हमें प्यारा लगना आत्मीयता है। आत्मीयता चेतन प्राणियों के प्रति होती है, जड़ या पुद्गल के प्रति नहीं होती। आत्मीयता आत्मा या परमात्मा का गुण है। आत्मीयता को ही प्रेम कहा जाता है। आत्मीयता का क्रियात्मक रूप ही मानवता है।

जिसमें मानवता नहीं वह आकृति से भले ही मानव हो, प्रकृति से तो पशु ही है। जो अपने ही भोग में रत रहता है, अपने इन्द्रिय सुख को ही सब कुछ समझता है, वह पशु है। पशुयोनि भोग-योनि है। मानव मानवता के कारण पशु से उच्च व श्रेष्ठ होता है। मानवता है स्वयं दुःख सहन करके भी दूसरों के दुःख को बटाना, अपने को उपलब्ध सुख की सामग्री का स्वयं भोग न कर दूसरों की सहायता में लगाना, सब प्राणियों को अपने समान समझ कर अपनत्व से उनकी सहायता करना तथा उनकी प्रसन्नता को बढ़ाना एवं स्वयं प्रसन्न होना। यही सबके प्रति अपनत्वभाव या आत्मीयता है। मानवता तथा आत्मीयता का क्रियात्मक रूप ही अहिंसा का क्रियात्मक रूप है। मानवता, आत्मीयता, उदारता, बंधुता, मित्रता, वत्सलता ये सब समानार्थक शब्द हैं एवं अहिंसा के सकारात्मक रूप हैं।

अहिंसा के सकारात्मक रूपों के विकास ही में प्राणी का वास्तविक विकास है। इसी से सच्चा सुख, अक्षय सुख मिलता है।

मोह, राग, विषय-भोग, कामनापूर्ति, काम, क्रोध, मद, लोभ से मिलने वाला सुख क्षणिक सुख है। उसके साथ नश्वरता, पराधीनता, जडता, शक्तिहीनता, नीरसता, अभाव आदि सुख ऐसे ही लगे रहते हैं, जैसे काया के साथ छाया। ऐसे दु खगर्भित सुख को पाने का ध्येय अविकसित प्राणी ही बनाते है, विकसित प्राणी तो अक्षय, अखड, सनातन, शाश्वत, अनत सुख पाने को अपने जीवन का ध्येय बनाते है तथा उसकी उपलब्धि के लिए खोज व पुरुषार्थ करते हैं, ऐसा सुख आत्मीयता या प्रेम के अतिरिक्त अन्यत्र कही सभव नही है।

आत्मीयता मे ही सच्चा सुख है। इस तथ्य को भारत के तत्त्वद्रष्टा ऋषि महर्षियो ने अति प्राचीनकाल मे ही खोज लिया था। उन्होने इसे क्रियात्मक रूप देने के लिए अपने निकटवर्ती लोगो मे इसका प्रसार प्रारम्भ किया जो क्रमश परिवार, समाज, सघ, राष्ट्र आदि के रूप मे प्रकट हुआ। व्यक्ति के सबसे निकट उसके परिवार के लोग रहते हैं अत उनके प्रति आत्मीयभाव रखकर स्वय दु ख पाकर भी उनका भरण-पोषण करे, उनके दु ख को दूर करे, उन्हे सुख पहुचाने के लिए सदैव तत्पर रहे, इसे ही उसका कर्त्तव्य भी कहा गया है। जिस परिवार के सब सदस्यो मे यह आत्मीयभाव है, उस घर मे प्रेम के रस की सरिता बहती है। उस घर मे दिव्य आनद के पयोधर उमडे रहते हैं। उसमे देवता निवास करते है, वह घर वस्तुत. स्वर्ग है। आत्मीयता का रस अक्षय एव अविनाशी रस है, अत यह अमरत्व रूप है और अमरलोक ही स्वर्ग-लोक है।

परिवार के सब लोगो के पारस्परिक आत्मीयभाव से रहने को सभ्य कहा जाता है। जहा सभ्यता है वहाँ ही सच्ची सम्पन्नता, सम्पदा है। किसी को धन कितना ही मिल जाय उससे इन्द्रियो का क्षणिक सुख ही मिल सकता है, जो प्रतिक्षण क्षीण होकर कुछ ही समय मे नष्ट हो जाता है, नीरसता मे बदल जाता है, परतु उसे अक्षय सुख नही मिल सकता। यही कारण है कि किसी घर मे धन व सुख की सामग्री कितनी ही बढे उससे शान्ति व प्रसन्नता नही बढती है। जीवन मे नीरसता ज्यो की त्यो बनी रहती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण

अमेरिका के वृद्धाश्रमो मे जाकर देखा जा सकता है। वहा पर अनेक करोडपति रहते हैं। उन करोडपतियो से जब कोई भारतीय मिलता है और उन्हे भारत के पारिवारिक जीवन का परिचय देता है कि भारत मे वृद्ध माता-पिता की सतान उनकी पूर्ण सेवा करती है, उन्हे प्रसन्न रखने का हर सभव प्रयत्न करती है और वृद्धजन भी अपने पुत्रो, पौत्रो, पौत्रियो के साथ आत्मीयता से, प्रेम से अपना जीवन सरसतापूर्वक विताते है। यह परिचय जब वे वृद्धजन सुनते है तो उनका हृदय विह्वल हो जाता है और आखो से आसू टपकने लगते है क्योकि उनकी सतान कई दिनो मे आकर औपचारिक रूप से कुछ मिनट तक मिल लेती है, परन्तु भारतीयो की भाँति उनमे आत्मीयता की भावना नही होती है। इससे यह फलित होता है कि धन भले ही अरबो-खरबो का हो उससे सरमता नही आती ।

सरसता तो आत्मोयता मे ही आती है। आत्मीयता के अभाव मे जीवन मे नीरसता ही रहती है। नीरसता से होनता की भावना पैदा होती है। नीरसता और हीनता से बढकर अन्य कोई दु ख नही है। इस प्रकार अमेरिको लोगो का जीवन दु खभरा है। भारत के लोगो की स्थिति इसके विपरीत है। भारत मे लगभग आधे मनुष्य गरीबी की रेखा से निम्न स्तर पर जी रहे हैं। उन्हे न भरपेट खाने को मिलता है और न तन पर पूरे कपडे हैं। पैरो मे जूते नही, धूप से बचने के लिए छाता नही, ऐसी दोनहीन स्थिति मे जेठ माह की भयकर धूप व गर्मी मे तथा झुलसा देने वाली लू के मध्य मे, नगे पैर औरते जगल मे से लकडी काटनी है फिर लकडी का भार अपने सिर पर रखकर जिस प्रसन्नता के साथ गाना गाती आती है, वह दृश्य देखते ही बनता है। इतनी गरीबी मे भी इतनी प्रसन्नता का कारण है उनके निजी व पारिवारिक जीवन मे आत्मीयता का होना। पारस्परिक आत्मीयता से उन्हे यह विश्वास होता है कि रोग, शोक, भूख-प्यास आदि दु खो के समय पूरा परिवार उनके साथ है। परिवार के एक व्यक्ति को कुछ भी मिलेगा तो वह पूरे परिवार को मिलेगा। घर का मुखिया तो पहले परिवार के सब सदस्यो को खिलाकर पीछे खाता है। भारत मे दाम्पत्य जीवन मे

तो इतना प्रेम और विश्वास है कि पति कमाकर जो भी लाता है वह सबका सब पत्नी के सुपुर्द कर देता है तथा पत्नी मे पति व पूरे परिवार के प्रति इतनी आत्मीयता होती है कि भोजन स्वय बनाती है, परन्तु पूरे परिवार को खिलाकर जो बचा-खुचा, ठडा-बासी भोजन होता है उसे वह खाती है। इन सबकी प्रसन्नता की जड है परिवार के सदस्यो मे पारस्परिक प्रेम, आत्मीयता एव विश्वास। इसके विपरीत अमेरिका, यूरोप आदि देश धन से सम्पन्न होकर भी मन से विपन्न हैं, दरिद्र हैं। फलत नीरसता मे जीवन जीते है। नीरसता को दबाये व भुलाये रखने के लिए मद्य पीते हैं अथवा विभिन्न प्रकार के नये-नये इन्द्रिय भोगो मे लिप्त रहते है फिर भी नीरसता उनका पीछा नही छोडती। कितनी दयनीय स्थिति है धन से सपन्न परन्तु मन से दरिद्र इन लोगो की ? जबकि भारतवासी धन से निर्धन परन्तु मन से सम्पन्न होने से सदैव प्रसन्नता मे रहते हैं। उन्हे वृद्धावस्था बिताने के लिए वृद्धाश्रम (Old House) नही ढूढने पडते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मीयता से परिवार मे वास्तविक सपन्नता, सरसता व प्रसन्नता आती है। यही परिवार की सच्ची समृद्धि भी है। आज से पचास वर्ष पहले जिस घर मे परिवार के अधिक सदस्य मिलकर रहते थे उसे ही सम्पन्न व श्रेष्ठ परिवार समझा जाता था।

जिसमे आत्मीयता का विकास होता है वह सबको अपने समान समझता है, सब मे निज स्वरूप का अनुभव करता है। निज स्वरूप का अनुभव करने से उनके प्रति प्रियता जागृत होती है। जिसके प्रति प्रियता होती है तो व्यक्ति को उसकी प्रसन्नता मे ही अपनी प्रसन्नता का अनुभव होता है। उससे प्रिय का दु ख सहा नही जाता। उसमे सर्वभूतात्मभाव आ जाता है। जैसा कि ईशोपनिषद् मे कहा है —

> यस्य सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
> सर्वभूतेषुचात्मान ततो न विजुगुप्सते॥

अर्थात् जिसमे आत्मीयभाव है वह सब प्राणियो को अपने स्वरूप में देखता है और सब प्राणियो मे अपने को ही देखता है

किसी से घृणा नही करता है, सब उसे अपने ही लगते है। उसकी दृष्टि मे पराया कोई रहता ही नही है, स्वपर का भेद मिट जाता है। वह अपना सर्वस्व सबको समर्पित कर देता है। जहा किसी से किसी भी प्रकार का सुख पाने की अपेक्षा है वहाँ ममत्वभाव है और जहा अपना सुख समर्पण करने मे प्रसन्नता है वहाँ आत्मत्व-भाव है। आत्मत्वभाव मे ममत्वभाव नही रहता।

सहानुभूति

आत्मीयता के विकास का मापन है सवेदनशीलता। जिस हृदय मे दूसरे के दुख को देखकर उस दुख की अनुभूति होने लगती है वह सवेदनशील हृदय है। सवेदनशील हृदय मे ही सहानु-भूति होती है। सहानुभूति करने वाला व्यक्ति दूसरे की वेदना सहन नही कर सकता, उसे दूर किए विना उसे चैन नही पडता, अपने समक्ष आये पीडित व्यक्ति की पीडा का अनुभव कर वह उसे दूर करने मे यथासम्भव सहयोग देता है।

आगमो मे कहा है कि जिस जीव का दर्शनगुण जितना विकसित है उसमे उतनी ही सवेदनशीलता है। सवेदनशीलता उसके विकास की द्योतक है। सहानुभूति सवेदनशीलता की द्योतक है। इस प्रकार सहानुभूति आत्मा के विकास की द्योतक है। जहा सहानुभूति नही वहा चेतनता नही, जडता, मूर्च्छा या मोह है। वस्तुतः सवेदनशीलता का विकास ही चेतना का विकास है। पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय की चेतना अर्थात् सवेदनशीलता अधिक विकसित है। इसी प्रकार एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की सवेदनशीलता क्रमश अनतगुणी विकसित है। अर्थात् ये अपने सम्पर्क मे आने वाले अपने सजातीय जीवो के प्रति अधिक सवेदनशील होते है, अधिक सहानुभूति दिखाते है। चतुरिन्द्रिय मे पचेन्द्रिय पशु-पक्षी बहुत अधिक सवेदन-शील होते है। वे अपनी सन्तान की रक्षा के लिए प्राण तक दे देते है। सिह का आक्रमण होता है तो पशुओ मे भगदड मच जाती है। सब अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागते है। परन्तु, हरिणी अपने नन्हे शिशु को बचाने के लिए उसे छोडकर नही जाती

है और सिंह का सामना करने को उद्यत हो जाती है। बन्दरो, मधुमक्खियो आदि मे पारिवारिक भाव देखा जाता है। मानव मे यह भाव अत्यधिक विकसित होता है। उसकी प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति होती है। यदि उसकी सहानुभूति परिवार तक ही सीमित है तो उसे नर न समझकर वानर ही समझना चाहिये उसका विकास वानर तक ही हुआ है। जो मानव परिवार के प्रति भी सहानुभूति नही रखता है वह मानव वानर से भी गया बीता है, वानर से भी कम विकसित है। चेतना के विकास की द्योतक सहानुभूति या सवेदनशीलता है, भौतिक सम्पत्ति नही। भौतिक सम्पत्ति कितनी ही हो, किन्तु हृदय मे सवेदनशीलता या सहानुभूति न हो, उद्योग आदि मे दूसरो का शोषण करने, कष्ट देने मे जिसे सकोच न हो, अपने पास पडौस के लोगो को भूखा-नगा देखकर भी कार मे गुलछर्रे उडाता फिरे ऐसे कठोर हृदय वाला व्यक्ति मानवाकृति मे पशु ही है। वह चाहे फिर उद्योगपति, खरबपति, नरपति, राष्ट्रपति, नेता, विद्वान्, लेखक, वक्ता, प्रवचनकार ही हो वह मानवाकृति मे पशुता और दानवता का प्रतीक है। उसे मानव कहना मानवता को लज्जित करना है, मानव जाति का अपमान करना है।

धर्म वह है जिससे आत्म-विकास हो। आत्म-विकास वहाँ है जहा सवेदनशीलता है। जहा सवेदनशीलता है वहा आत्मीयता है। इस प्रकार जहा आत्मायता है वहा धर्म है।

जो अपनी देह और इन्द्रियो के भोग मे तत्पर रहता है, वह पशु है। भोग पशुता का ही प्रतीक है। जो अपनी देह व इन्द्रिय भोग के सुख को ही जीवन मानता है वह घोर स्वार्थी होता है। वह अपने विषय सुख मे इतना गृद्ध होता है कि उसे अन्य की तो क्या कहे, अपने परिवार के लोगो के कष्ट की भी परवाह नही होती। उसका आत्म-विकास अपनी देह तक ही सीमित होता है, उसकी वृत्तिया व विचार अपने ही व्यक्तिगत सुख तक सिमटे होते हैं। ऐसा सकीर्ण हृदय वाला व्यक्ति इन्द्रिय विषयो के क्षणिक व नश्वर सुख मे ही अपना जीवन खो देता है। वह परमात्मा के परमानन्द रूप

अक्षय-अखण्ड-अनन्तसुख का रसास्वादन नही कर पाता है। वह अभाव-ग्रस्त तथा नीरसता,शुष्कता, क्षुद्रता, सकीर्णता व पराधीनता मे ही अपना जीवन बिता देता है। अक्षय, अखण्ड, अनन्तसुख से वञ्चित ही रह जाता है। रोता आया, रोता रहा और रोता ही मर जाता है, या यो कहे कि रोता पैदा हुआ, जिन्दगी भर विषय सुख पाने के लिए रोता रहा, और मरा तब भी रोता हुआ ही मरा। मानव की यह दशा घोर दयनीय है, दु'खद है, हृदय को कम्पित करने वाली है।

सहानुभूति, सवेदनशीलता और आत्मीयता जहा है वहा ही सज्जनता है। सज्जन का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है। जैसे मक्खन थोडे से ताप से ही पिघल जाता है उसी प्रकार सज्जन का हृदय दूसरे के थोड़े से सताप से ही पिघल जाता है, द्रवित हो जाता है। करुणा की धार बहने लगती है। उससे दूसरे का दु ख सहा नही जाता। सन्त तुलसीदास ने भी कहा है—'सन्त हृदय नव-नीत समाना।'

दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने वाले, सज्जनो एव सन्तो के अगणित उदाहरण भरे पडे है। उनमें से यहा कुछ प्रस्तुत है—

(1) श्री रामकृष्ण परमहस ने एक कुत्ते को पिटते हुए देखा तो उनकी सहानुभूति अत्यन्त तीव्र हुई उन्हे भी वैसी ही सवेदना का अनुभव हुआ फलस्वरूप उनकी पीठ पर बेंत से पिटाई के तीन निशान हो गए एव वह वेदना कई दिनो तक सहन करनी पडी।

(2) सन्त तुकाराम ने भोजन के लिए थाली मे रोटी रखी ही थी कि एक कुत्ता आया और रोटी लेकर भाग गया। सन्त तुकाराम भी घी की कटोरी लेकर उसके पीछे भागे कि मैं घी से विना चुपडी रोटी नही खाता हू तो तुम विना घी के रोटी कैसे खाओगे, अत. इसे घी से चुपडने दो।

(3) वाल्मीकि के बाण से क्रौंच पक्षी के बिंधने के कारण उसके साथी पक्षी ने विलाप किया। विरह की वेदना से बार-बार

रुदन किया। उसे देखकर वाल्मीकि का हृदय सवेदना से भर गया, करुणा से द्रवित हो गया। उसी दिन से उनका हृदय परिवर्तन हो गया और वे डाकू से कवि बन गए।

(4) महात्मा गाधी ने एक वृद्ध स्त्री को अपनी फटी व मैली साडी को बदलने के लिए कहा तो उस स्त्री ने उत्तर दिया कि 'मै कैसे बदलू, मेरे पास तो केवल यही साडी है, जो मैं पहने हुए हू'। वृद्धा की यह बात सुनकर गाधीजी का हृदय दया से द्रवित हो गया उनके हृदय पर इस देश की गरीबी का बडा प्रभाव हुआ। उसी दिन से उन्होने पूरे वस्त्र पहनना छोड दिया। आधी धोती पहनने और आधी से तन ढकने का निश्चय कर लिया।

(5) श्रीकृष्ण हाथी पर बैठकर भगवान् नेमीनाथ के दर्शनार्थ जा रहे थे। मार्ग मे एक वृद्ध पुरुष गिरता पडता ईंटो के बहुत बडे ढेर मे से एक-एक ईंट उठा कर घर मे रख रहा था। ईंट का वजन उससे सहा नही जा रहा था। श्रीकृष्ण से उसका दुःख सहा नही गया, उनके हृदय मे करुणा उमडी और उन्होने एक ईंट को उठाकर वृद्ध पुरुष के घर मे रख दिया। जुलूस मे चल रहे सारे लोगो ने श्रीकृष्ण का अनुकरण किया। फलस्वरूप देखते ही देखते ईंट का ढेर वृद्ध के घर मे पहुँच गया। श्रीकृष्ण वासुदेव बडे राजा थे। उनका सब काम उनके सेवक एव दास करते थे। अपने हाथ से कोई काम नही करना ही उनके गौरव, सम्मान व अहभाव का द्योतक था, परन्तु श्रीकृष्ण करुणाभाव से अपने सम्मान व अहभाव को भूल गये। करुणा व सहानुभूति से उनका अहभाव गल गया। उन्होने सम्मान-अपमान का, अपने कष्ट का कोई विचार न कर वृद्ध की करुणाभाव से सेवा कर उसकी वेदना दूर कर दी। □

सकारात्मक अहिंसा धर्म है

सामान्य जन तो दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो को धर्म ही मानते है, परन्तु कुछ बुद्धिवादी व्यक्ति यह युक्ति देते हैं कि दया, रक्षा, वात्सल्य, सेवा आदि अहिसा की विधिपरक सद्प्रवृत्तियाँ कर्मबध की हेतु होने से ससार मे भ्रमण कराने वाली है। अत. मुक्ति मे बाधक होने से धर्म रूप नही है। धर्म तो निवृत्ति रूप ही होता है। परन्तु, उनकी यह मान्यता न तो आगम-सम्मत है और न युक्तियुक्त। इसी पर आगे विचार किया जा रहा है।

प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती है —(1) दुष्प्रवृत्ति और (2) सद्प्रवृत्ति। हिसा, झूठ, चोरी, विषय भोग आदि दुष्प्रवृत्तियो को पाप कहा जाता है जो उपयुक्त ही है। ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ दु ख देने वाली व भव-भ्रमण कराने वाली होने से सर्वथा त्याज्य है। दया, दान, वात्सल्य, वैयावृत्य आदि सद्प्रवृत्तियाँ आत्मा के विकारो को दूर करने वाली, आत्मा को पवित्र करने वाली तथा कर्मो का क्षय करने वाली है अत इन्हे धर्म कहा जाता है।

दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ गुण रूप है और हिंसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तियाँ दोष रूप है, गुण और दोष दोनो परस्पर मे विरोधी हैं। गुण स्वभाव रूप होते है और दोष विभाव रूप। स्वभाव कभी भी कर्मबध का कारण नही होता है, कर्म-बध का कारण विभाव ही होता है। स्वभाव को धर्म और विभाव को पाप कहा जाता है। अत गुणरूप दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ धर्म है और हिसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तिया अधर्म या पाप है। दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो से कर्मो का क्षय होता है। कर्मो का क्षय मुक्ति मे हेतु है। मुक्ति प्राप्ति मे हेतु होने से दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ या गुण धर्म है। इन्हे कर्मबन्ध का व ससार-भ्रमण का कारण मानना, इनको अधर्म मानना है। धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है।

जैनागमो मे दया, दान, वात्सल्य, मैत्री, वैयावृत्य (सेवा,) प्रमोद, मृदुता, ऋजुता, नम्रता आदि सद्प्रवृत्तियो को शुभ योग कहा है और शुभ योग को सवर कहा है। इन्हे सवर कहने का कारण यह है कि इनसे कर्मबध नही होता, लेकिन वास्तविकता यह है कि इनसे कर्म-क्षय भी होता है। अत ये प्रवृत्तिया सवर और निर्जरारूप है। सवर और निर्जरा धर्म है। उदाहरणार्थ— (1) नम्रता के द्योतक नमस्कारमत्र को ही ले। इसमे स्पष्ट कहा है कि अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचो को नमस्कार करने रूप शुभयोग या सद्प्रवृत्ति सब पापो का नाश करने वाली है, अर्थात् धर्म है क्योकि नमस्कार रूप नम्रता से अहभाव गलता है। अहभाव गलने से सब कर्मों का क्षय होता है। (2) वात्सल्य को ले— वात्सल्य सम्यग्दर्शन का अग व आचार है, सम्यग्दर्शन कर्म-क्षय मे हेतु है, धर्म है अत वात्सल्य धर्म है। (3) मैत्री, प्रमोद, करुणा-भाव रूप सद्प्रवृत्तियो को तत्त्वार्थसूत्र मे सवररूप धर्म मे स्थान दिया गया है (4) आर्जव—सरलता, मार्दव-मृदुता (हृदय की कोमलता), लाघव (विनम्रता) आदि सद्प्रवृत्तियो को धर्म के दस भेदो मे स्थान दिया गया है (5) अनुकम्पा को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है। सम्यगदर्शन सवर रूप धर्म है। अत अनुकम्पा सवर है। (6) वीतराग केवली को अनतदानी कहा है अत दान वीतराग धर्म का ही अग है।

सद्प्रवृत्तियो एव शुभ योग से कर्मबन्ध नही होता है वरन् कर्मक्षय होता है, यह मान्यता जैन-धर्म की मौलिक मान्यता है और प्राचीन काल से परम्परा के रूप मे अविच्छिन्न धारा मे चली आ रही है। 'शुभयोग सवर है' यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे तो आज भी ज्यो की त्यो विद्यमान है, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय मे वर्तमान मे यह सर्वमान्य नही रही है। आज दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ अनुयायी इसे माने अथवा न माने परन्तु प्राचीन काल मे तो दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी यह मान्यता सर्वमान्य ही रही है। इसके अनेक प्रमाण ख्यातिप्राप्त दिगम्बराचार्य श्री वीरसेन स्वामी रचित प्रसिद्ध धवला टीका एव जयधवला टीका मे देखे जा

जा सकते है । इन्ही मे से कषाय पाहुड की जयधवला-टीका से एक प्रमाण यहा उद्धृत किया जा रहा है—

'सुह-सुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो उत्त -
ओदइया वन्धयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।
भावो दु परिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ ॥
जयधवला पुस्तक, 1 (पृष्ठ 5)

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामो से कर्मो का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता । कहा भी है—

'औदयिक भावो से कर्म-वन्ध होता है । औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावो से मोक्ष होता है तथा पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष इन दोनो के कारण नही है ।'

उपर्युक्त उदाहरण मे टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने जोर देकर स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि क्षायोपशमिक-भाव (शुभयोग) मोक्ष का हेतु है । इससे कर्म क्षय होते हैं, कर्मबन्ध नही होते है । कर्मबन्ध का कारण तो एक मात्र उदयभाव ही है ।

उपर्युक्त मान्यता पर इस जयधवला के मान्यवर सम्पादक श्री फूलचन्दजी शास्त्री ने इस गाथा पर 'विशेपार्थ' के रूप मे अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि शुभ परिणाम कषाय आदि के उदय से ही होते है, क्षयोपशम आदि से नही, इसलिए जबकि औदयिक-भाव कर्मबन्ध के कारण है, तो शुभ परिणामो से कर्मबन्ध ही होना चाहिये, क्षय नही ।

'शुभभाव' कषाय के उदय से होते है । सम्पादक महोदय की उपर्युक्त यह मान्यता केवल एक सम्पादक महोदय की ही हो सो नही है । यह मान्यता कुछ शताब्दियो से जैन-धर्मानुयायियो के अनेक सम्प्रदायो मे घर कर गई है । कारण कि शुभभावो की उत्पत्ति का कारण यदि कषाय के उदय को न माना जाय तो 'शुभभाव से कर्म-बन्ध होता है' यह उनकी मान्यता पुष्ट नही होती ।

यहा प्रथम यह विचार करना है कि शुभभाव की उत्पत्ति का कारण कषाय का उदय अर्थात् औदयिकभाव है या नही इस सम्बन्ध मे निम्नांकित तथ्य चिन्तनीय है—

कषाय अशुभभाव है। अशुभ भावो के उदय से शुभ परिणामो की उत्पत्ति मानना मूलत ही भूल है। यह भूल ऐसी ही है जैसे कोई कटु नीम का बीज (निम्बोली) बोये और उसके फल के रूप मे मधुर आमो का उपलब्ध होना माने। नियम यह है कि जैसा बीज होता है वैसा ही फल आता है, अत कषाय रूप अशुभ परिणामो के उदय के फलस्वरूप शुभ परिणामो की उत्पत्ति मानना भूल है।

यदि शुभभावो की उत्पत्ति का कारण कषाय के उदय को माना जाय तो अशुभभावो की उत्पत्ति का कारण किसे माना जाय ? फिर तो अशुभभावो की उत्पत्ति का कारण शुभभावो को मानना होगा, जो युक्तियुक्त नही है। यदि शुभभाव और अशुभ-भाव इन दोनो भावो की उत्पत्ति का कारण कषाय के उदय को माना जाय तो एक ही कारण से दो विरोधी कार्यो की उत्पत्ति या दो विरोधी फलो की प्राप्ति माननी पडेगी जो उचित नही है तथा युक्तियुक्त भी नही है।

यदि केवल शुद्धभाव को ही कर्मक्षय का कारण माना जाय और शुभभावो से कर्मक्षय न माना जाय तो वीतराग के अतिरिक्त अन्य कोई कर्मक्षय कर नही सकता। कारण कि वीतराग को छोडकर अन्य किसी के शुद्धभाव सम्भव ही नही है क्योकि वीतराग के अतिरिक्त शेष सब प्राणियो के नियम से कषाय का उदय रहता ही है। जहा तक कषाय का उदय है वहा तक शुद्धभाव नही हो सकते और शुद्धभाव के अभाव मे कर्मो का क्षय नही हो सकता। इस प्रकार दसवे गुणस्थान तक कर्मक्षय का कोई उपाय ही शेष न रहेगा। कर्मक्षय के अभाव मे तप, सयम, निर्जरा के अभाव का प्रसग उत्पन्न हो जायेगा जिससे साधना के मार्ग का ही लोप हो जायगा जो आगमविरुद्ध है। इस आपत्ति का निवारण शुभभाव को कर्मक्षय का कारण मानने से ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त

जा सकते है। इन्ही मे से कपाय पाहुड की जयधवला-टीका से एक प्रमाण यहा उद्धृत किया जा रहा है—

'सुह-सुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो उत्त -
ओदइया वन्धयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु परिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ ॥
जयधवला पुस्तक, 1 (पृष्ठ 5)

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामो से कर्मो का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता। कहा भी है—

'औदयिक भावो से कर्म-बन्ध होता है। औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावो से मोक्ष होता है तथा पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष इन दोनो के कारण नही है।'

उपर्युक्त उदाहरण मे टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने जोर देकर स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि क्षायोपशमिक-भाव (शुभयोग) मोक्ष का हेतु है। इससे कर्म क्षय होते हैं, कर्मबन्ध नही होते है। कर्मबन्ध का कारण तो एक मात्र उदयभाव ही है।

उपर्युक्त मान्यता पर इस जयधवला के मान्यवर सम्पादक श्री फूलचन्दजी शास्त्री ने इस गाथा पर 'विशेपार्थ' के रूप मे अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि शुभ परिणाम कषाय आदि के उदय से ही होते है, क्षयोपशम आदि से नही, इसलिए जबकि औदयिक-भाव कर्मबन्ध के कारण है, तो शुभ परिणामो से कर्मबन्ध ही होना चाहिये, क्षय नही।

'शुभभाव' कषाय के उदय से होते है। सम्पादक महोदय की उपर्युक्त यह मान्यता केवल एक सम्पादक महोदय की ही हो सो नही है। यह मान्यता कुछ शताब्दियो से जैन-धर्मानुयायियो के अनेक सम्प्रदायो मे घर कर गई है। कारण कि शुभभावो की उत्पत्ति का कारण यदि कषाय के उदय को न माना जाय तो 'शुभभाव से कर्म-बन्ध होता है' यह उनकी मान्यता पुष्ट नही होती।

शुभभाव कषाय मे कमी होने से होता है। कषाय की कमी कर्मबन्ध का कारण नही है, प्रत्युत कर्मक्षय का कारण है। वास्तविकता तो यह है कि शुभभावो की विद्यमानता मे जो कर्मबन्ध होते है वे शुभभावो के साथ रहते हुए कषाय के उदय रूप अशुभ भावों के कारण से होते है, न कि शुभभावो से। कषाय से ही स्थिति बन्ध होता है। स्थिति-बन्ध के अभाव मे कर्मबन्ध का कोई अर्थ ही नही है। तात्पर्य यह है कि कर्मों की स्थिति-बन्ध का कारण कषाय रूप औदयिक भाव है न कि शुभभाव। अत शुभभाव या क्षायोपशमिक भाव को कर्मबन्ध का कारण मानना युक्तियुक्त नही है, अपितु भ्रान्तिपूर्ण है।

आगम व कर्म-सिद्धान्त मे घाती कर्मो की किसी भी प्रकृति को शुभ नही कहा है, समस्त प्रकृतियो को अशुभ कहा है। अत कषाय-भाव का उदय कभी कही पर भी शुभ माना ही नही गया है। इसके विपरीत कषाय मे कमी होने को शुभ माना गया है और इसी को क्षयोपशम भाव भी माना है। इससे स्पष्ट है कि शुभभाव या क्षायोपशमिक भाव कषायो की या पाप-प्रकृतियो की कमी होने मे होते है उदय से नही। अत शुभभाव की उत्पत्ति कषाय के उदय से या किसी भी अशुभ कर्मोदय मे मानना आगम-विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि शुभभावो के साथ जो कषाय का उदय रहता है वह कषाय रूप अशुभभाव का उदय, शुभभाव की उत्पत्ति मे निमित्त, उपादान या अन्य किसी भी प्रकार का कारण नही है।

शुभभाव या क्षायोपशमिक भाव आत्म-विशुद्धि रूप होते है। ये आत्मिक पवित्रता के द्योतक है, अत. पुण्य रूप है। वे कर्मक्षय के कारण है अत धर्मरूप है। शुभभाव किसी भी अश मे किसी भी आत्मिकगुण का लेश मात्र भी घात नही करते है। अत आत्मा के लिए किंचित् भी घातक नही हैं और न किसी भी रूप मे हेय ही है। तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ के शुभभाव व शुभयोग कषाय के उदय मे नही प्रत्युत कषाय की कमी व क्षय मे होता है।

कुछ लोगो की यह मान्यता है कि शुभभाव मे प्रशस्त राग होता है, जो बन्ध का कारण है। परन्तु उनकी यह मान्यता आगमानुकूल

अन्य कोई समाधान नही है अत 'शुभभाव से कर्मवन्ध होता है' यह मान्यता आगम व युक्ति से विरुद्ध है।

यदि आशिक शुद्धता को भी शुद्धभाव माना जाय तो सभी प्राणियो के सदैव शुद्धभाव मानना होगा। कारण कि कोई भी प्राणी पूर्णरूप से अशुद्ध हो ही नही सकता। कोई भी प्राणी यदि पूर्ण अशुद्ध हो जाय तो उसका चैतन्य स्वभाव नष्ट हो जायगा और वह जड हो जायगा। जैसा कि 'कषाय पाहुड' पुस्तक, । पृष्ठ 55 मे कहा है—"ण च कम्मेहि णाणस्स दसणस्स वा णिम्मूलविणासो कीरइ, जाव दव्वभाविगुणाभावे जीवाभावप्पसगादो।" अर्थात् यदि कहा जाय कि कर्म ज्ञान और दर्शन का निर्मूल विनाश कर देते है, तो यह कहना ठीक नही है। क्योकि ऐसा मानने पर यावत् जीव-द्रव्य के अभाव का प्रसग प्राप्त होगा, सो उपयुक्त नही है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी प्राणी कभी भी पूर्ण अशुद्ध हो ही नही सकता, आशिक अशुद्ध ही होता है। यह आशिक अशुद्धि प्रथम गुणस्थान से दसवे गुणस्थान तक रहती है और यह नियम है कि अशुद्धि या अशुद्ध भाव से कर्मक्षय कदापि सम्भव नही है। इससे यह मानना पड़ेगा कि वीतराग के अतिरिक्त अन्य कोई कर्मक्षय कर ही नही सकता, जो मूल भूल है। अत छद्मस्थ के कर्मक्षय का उपाय शुभभाव ही हो सकता है। शुभभाव से ही कर्मक्षय होकर सम्यक्त्व की उपलब्धि होती हे। औपशमिक और क्षायिक भावो की उत्पत्ति मे शुभभाव ही सहयोगी होते है, सक्लिष्ट भावो की विद्यमानता मे औपशमिक और क्षायिक भावो की उत्पत्ति सम्भव ही नही हे।

'शुभभाव' कपाय के उदय से नही, कपाय की कमी या मदता से होते ह, कारण कि कपाय का उदय, वन्ध, सत्ता सव अशुभ या पाप है। कपाय के उदय रूप अशुभभाव को शुभभाव मानना पाप को पुण्य मानना है। पाप को पुण्य समझना तात्त्विक भ्रान्ति व मिथ्यात्व ह।

मार्ग मानते है। वे मिथ्यात्वी हैं तथा धर्म के, सत्य के व मानवता के विरोधी हैं।

अब विचार यह करना है कि शुभभाव से कर्म-क्षय होने की प्रक्रिया क्या है ? इस पर विचारने के लिए हमे प्राचीन कर्मग्रथो व उनकी टीकाग्रो पर ध्यान देना होगा। प्राचीन कर्मग्रथो व उनकी टीकाग्रो मे शुभभाव व शुभयोग के स्थान पर 'विशुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिससे ग्रात्मा विशुद्ध हो वही 'विशुद्धि' है। ग्रात्मा की शुद्धि होती है कषायो मे कमी होने से। ग्रर्थात् वर्तमान मे जितने अशो मे कषाय का उदय है उन कषायाशो मे कमी होना विशुद्धि है। यही ग्रात्मा का पवित्र होना भी है। इसलिए विशुद्धि को धर्म व पुण्य भी कहा गया है। इसके विपरीत वर्तमान मे जितने कषायाश हैं उनमे वृद्धि होने को सक्लेश कहा गया है। सक्लेश से ग्रात्मा का ग्रध पतन होता है जो पाप का द्योतक है। ग्रत जैन-ग्रन्थो व टीकाओ मे सक्लेश (कषाय-वृद्धि) को पाप कहा है।

कषाय-युक्त प्रवृत्ति ही मोह है। ग्रत कषाय की कमी या वृद्धि होना मोह (मोहनीयकर्म) की कमी या वृद्धि होना है। कषाय या मोह की कमी होना ही भावो की विशुद्धि है। यही भावो की विशुद्धि शुभभाव है। शुभभाव का क्रियात्मक रूप शुभ-प्रवृत्ति या शुभयोग या सद्प्रवृत्ति है। यह सब आत्मशुद्धि का प्रतीक होने से धर्म रूप है। इस रूप मे शुभभाव, शुभयोग, धर्म और पुण्य पर्यायवाची हैं, विरोधी नही है। ग्राचार्य ग्रकलक तथा पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र ग्र 1 सूत्र 10 की टीका मे कहा है कि विशुद्धि से प्रीति का उदय, उपेक्षाभाव की जागृति तथा ग्रज्ञान का नाश होता है। ये तीनो ही मुक्ति प्राप्ति मे सहायक हैं ग्रर्थात् शुभभाव रूप सद्प्रवृत्तिया मुक्ति-प्राप्ति मे हेतु है। दया, दान, करुणा, वात्सल्य व मैत्री रूप भावो की विशुद्धि के प्रभाव से कर्मक्षय कैसे होते हैं यहा इसी पर विचार किया जा रहा है।

कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि कषाय मे कमी होने से भावो मे विशुद्धि ग्राती है। आयु-कर्म को छोडकर शेष सात कर्मो

नही है कारण कि राग का उदय मोहनीय-कर्म से होता है और मोहनीयकर्म व इसकी किसी भी प्रकृति को कर्मग्रन्थ व आगम मे कही पर भी शुभ नही कहा गया है अत 'राग शुभ या प्रशस्त भी होता है' यह मान्यता कर्म-सिद्धान्त व जैनागम से मेल नही खाती है। वीतराग देव, गुरु, धर्म, व गुणीजनो के प्रति जो अनुराग होता है वह राग नही प्रमोद है, प्रमोद सवर है। गुणीजनो के स्मरण व सान्निध्य से जो प्रसन्नता होती है वह भोग नही स्वभाव है। राग व भोग विकार है और प्रेम, प्रमोद व प्रसन्नता का भाव सहज स्वभाव है। प्रेम, प्रमोदभाव, प्रसन्नता व अनुराग को राग मानना भूल है। राग त्याज्य होता है, अनुराग नही। राग मे आकर्षण और भोग होता है, अनुराग में प्रमोद व प्रसन्नता होती है।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ (तटस्थता) ये चारो ही भावनाएँ या भाव 'शुभभाव' है। शुभभाव होने से स्वभाव है, विभाव या दोष नही। स्वभाव गुणरूप होता है, दोषरूप नही और विभाव दोप रूप होता है, गुणरूप नही। मैत्री, प्रमोद करुणा आदि भाव गुण हैं, दोष नही। दोष नही होने से ये विकार या विभाव रूप नही है। विकार या दोष कभी शुभ नही हो सकता। इसी प्रकार शुभ कभी दोषरूप नही हो सकता। अत शुभत्व 'गुण' का द्योतक है, दोष का नही। दोष से ही कर्मवध होते है, गुण से नही। अत शुभभाव रूप मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकपा, वात्सल्य आदि भावो से या गुणों से कर्म-वध व ससार-भ्रमण मानना भूल है। इस भूल के रहते मानवता का जागरण ही सभव नही है।

जहाँ मानवता का ही अभाव है वहाँ सयम, तप, सवर-निर्जरा रूप धर्म व मोक्ष कदापि सभव नही है। वहाँ तो पशुता व दानवता है जिसका मानव-जीवन मे कोई स्थान ही नही है। अत जो मैत्री, प्रमोद, करुणा, वात्सल्य सेवा आदि शुभ भावो व सद्-गुणो को कर्मवध व ससार-भ्रमण का कारण मानते है वे गुण को दोप, स्वभाव को विभाव, निर्जरा या मोक्ष के मार्ग को ससार का

के विकास से जड़ता मिटती है जिससे वेदना के अनुभव की स्पष्टता बढ़ती जाती है। शुभभाव से ममता पुष्ट होती है। फलत असाता-वेदनीय का प्रभाव घटता है।

पहले कह आये है कि शुभ भाव से दर्शनगुण का, दर्शनगुण से स्वसंवेदन का विकास होता है। संवेदनशक्ति के विकास से अर्थात् संवेदनशक्ति के सूक्ष्म होने से स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय का विकास होता है व शरीर की क्रियाओ की सरचना होती है अर्थात् नाम कर्म से मात्र इन्द्रियो का सर्जन व निर्माण होता है जबकि दर्शनगुण से उनमे संवेदनशक्ति आती है।

कषायो की विशुद्धि से 'पर' का महत्त्व व मूल्य घटता है और स्व का महत्त्व व मूल्य बढता है जिससे उच्च गोत्र का अनुभव होता है। यह बोध होता है कि 'पर' के आधार पर अपना मूल्यांकन करने मे मूल्य 'पर' का होता है और अपना मूल्य घट जाता है या नही रहता है जिससे हीन भावना होती है। पर के आधार पर अपना मूल्यांकन न करने पर अर्थात् मद के नष्ट होने पर आत्म तुष्टि होती है जो उच्चगोत्र की द्योतक है।

यह सर्वविदित है कि भावो की विशुद्धि से शुभ आयु के अनुभाग का उत्कर्ष होता है। भावो की विशुद्धि रूप शुभभाव से दर्शन-गुणरूप स्व-संवेदन स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। संवेदन-शीलता की वृद्धि से क्रूरता मिटकर करुणाभाव की जागृति होती है। करुणा का क्रियात्मक रूप सेवा या उदारता है। उदारता 'दान' की द्योतक है। अत शुभभाव से औदार्य या दानगुण का विकास होता है जो दानान्तराय कर्म की कमी (क्षयोपशम) का द्योतक है।

शुभभाव से आई कषाय की कमी से कामना, ममता, अहंता, कर्तृत्वभाव, भोक्तृत्वभाव मे कमी आती है। कामना की कमी से, अभाव के अनुभव मे कमी होती है जो लाभान्तराय के क्षयोपशम का द्योतक है। ममता की कमी से 'परभाव' मे कमी आती है एव 'स्वभाव' की अभिव्यक्ति होती है। जिससे निज रस की अभिवृद्धि

की सत्ता मे स्थित समस्त प्रकृतियो के स्थिति-बध का नियम से अपवर्तन होता है जिससे पूर्वबद्ध स्थितिबध मे अवश्य ही कमी होती है। साथ ही सात कर्मो की समस्त पाप-प्रकृतियो के अनुभाग बध मे भी नियम से अपकर्षण होता है, अर्थात् पूर्वबद्धपाप-कर्मो के अनुभाग मे कमी होती ही है। इस प्रकार शुभभाव से पूर्व मे बधे हुए पापकर्मो की स्थिति और अनुभाग मे न्यूनता आने रूप कर्मो का क्षय होता ही है जो जीवन के लिए कल्याणकारी व उपादेय है। यह तो हुआ शुभयोग व सद्प्रवृत्तियो से पूर्व मे अर्जित कर्मो की सामूहिक रूप मे समस्त प्रकृतियो की स्थिति घटने और समस्त पाप-प्रकृतियो के अनुभाग घटने रूप समुच्चय कर्मक्षय का सिद्धात, आगे शुभभाव के प्रभाव से प्रत्येक कर्म का क्षय कैसे होता है इस पर विचार किया जा रहा है।

कषाय मे कमी या विशुद्धि रूप शुभभावो से मोह मे, मोहनीय कर्म मे कमी आती है जिससे आचरण मे निर्मलता आती है, अर्थात् चारित्रगुण की वृद्धि होती है।

'शुभभाव' से कषाय मे कमी होने के कारण विकल्पो मे कमी आती है, निर्विकल्पता मे वृद्धि होती है और समता पुष्ट होती है। निर्विकल्पता की वृद्धि व समता की पुष्टि से दर्शन गुण की अभिव्यक्ति, दर्शनगुण मे वृद्धि व विकास होता है जिससे दर्शना-वरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

दर्शन-गुण के विकास से तत्त्व का साक्षात्कार व विवेक का उदय होता है जिससे ज्ञान गुण का विकास होता है अर्थात् ज्ञाना-वरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है। यह नियम है कि 'ज्ञान' दर्शनपूर्वक ही होता है। अत दर्शन गुण जितना प्रकट होगा ज्ञान गुण भी उतना ही प्रकट होगा। दर्शन-गुण की अभिव्यक्ति की वृद्धि के बिना ज्ञानगुण की अभिव्यक्ति मे वृद्धि सम्भव नही है।

शुभभाव से दर्शन-गुण का विकास होता है। दर्शन-गुण के विकास से स्व-सवेदनशक्ति का विकास होता है। सवेदन-शक्ति

अहोभाग्य मानते हैं। अत उनके सहयोग व सेवा के लिए सदा उद्यत रहते हैं। यह उसके शुभभाव का अवान्तर व आनुषगिक फल है। यह उत्कृष्ट भौतिक विकास का द्योतक है। यद्यपि शुभभाव वाले व्यक्ति को किसी से सेवा की अपेक्षा नही होती है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति से स्वत होती रहती है। वह अभाव से रहित सदा ही वैभवसपन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि कषाय की कमी रूप शुभभाव, सद्प्रवृत्तिया या क्षायोपशमिक भाव से घाती कर्मा का क्षयोपशम रूप क्षय होता है और अघाती कर्मों की शुभ-प्रकृतियो के अनुभाग का उत्कर्षण होता है। कषाय के क्षय रूप शुद्धभाव व शुभयोग से चारो घाती कर्मों का क्षय हो अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतदान, अनतलाभ, अनतभोग, अनत उपभोग, अनतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व व चारित्र की उपलब्धि होती है। अर्थात् प्राणी का आध्यात्मिक व भौतिक रूप से सर्वाङ्गीण विकास होता है। फिर उसे कुछ पाना व जानना शेष नही रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है।

सकारात्मक अहिंसा साधना है अत इसमे महत्त्व अपने विषय-भोग एव कषायजन्य सुखो के त्याग का है। अत सकारात्मक अहिंसा मे उन्ही सद्प्रवृत्तियो का स्थान है जो राग, द्वेष, ममत्व, अहत्व गलाने मे सहायक हैं। इसके विपरीत जिनमे राग-द्वेष कषाय आदि बढे वे बाहर से भले ही सद्प्रवृत्तिया प्रतीत हो, किन्तु वस्तुत वे सकारात्मक अहिंसा रूप नही है। साधक इस तथ्य को सदैव स्मरण रखकर सकारात्मक अहिंसा की समीचीन साधना करे।

होती है, भोगेच्छा मे कमी होती है । फलत· भोग के अभाव के अनुभव मे कमी होती है, जो भोगान्तराय के क्षयोपशम की द्योतक है। अहत्व मे कमी आने से 'पर' के प्रति राग घटता है । राग घटने से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। रागजन्य भोग का रस विनश्वर है, परन्तु प्रेमरस नित्य नूतन रहता है, उसका बार-बार भोग किया जा सकता है जो उपभोगान्तराय के क्षयोपशम का द्योतक है। भोक्तृत्वभाव की कमी से कर्तृत्वभाव मे कमी आती है तथा त्याग का सामर्थ्य आता है जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का द्योतक है।

इस प्रकार शुभभाव से मोहनीय, दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय कर्म की पाप-प्रकृतियो का क्षयोपशम व क्षय होता है साथ ही अघातीकर्म की शुभ (पुण्य)-प्रकृतियो के अनुभाग का उत्कर्ष होता है। बध किसी भी प्रकार का नही होता है क्योकि कर्मबध का कारण राग और द्वेष ही है जो अशुभ ही है। उनका शुभभाव मे कोई स्थान ही नही है।

यही नही शुभभाव से अशुभ (पाप)-प्रकृतियो का सक्रमण (रूपान्तरण) शुभ (पुण्य)-प्रकृतियो मे होता है । अर्थात् पाप प्रकृतियो-दुष्प्रवृत्तियो का उदात्तीकरण होकर वे शुभ-प्रवृत्तियो मे परिणत होती है तथा शुभभाव से अशुभ-प्रकृतियो की स्थिति व अनुभाग मे अपकर्षण (कमी) होता है व शुभ-प्रकृतियो के अनुभाग का उत्कर्षण होता है जो आत्मा के उत्कर्ष का ही द्योतक है।

शुभभाव से सर्वहितकारी प्रवृत्ति होती है जिससे सबके हृदय मे शुभभाव करने वाले के प्रति प्रमोदभाव होता है व प्रसन्नता देने की भावना रहती है। इस प्रकार परस्पर मे अनुराग, प्रमोद व प्रेम का आदान-प्रदान होता है जो राग गलाने मे, कर्म क्षय करने मे सहायक है तथा शुभभावो मे जाने-अनजाने जिन व्यक्तियो का हित होता है उनके हृदय मे हित करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रेम उमडता है तथा वे उसकी सेवा व सहायता करने मे प्रसन्नता का अनुभव करते है, उसके सकल्प व कार्यो को सम्पन्न करने मे अपना

अहोभाग्य मानते है। अत उसके सहयोग व सेवा के लिए सदा उद्यत रहते हैं। यह उसके शुभभाव का अवान्तर व आनुषगिक फल है। यह उत्कृष्ट भौतिक विकास का द्योतक है। यद्यपि शुभभाव वाले व्यक्ति को किसी से सेवा की अपेक्षा नही होती है। उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति प्रकृति मे स्वत होती रहती है। वह अभाव से रहित सदा ही वैभवसम्पन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि कषाय की कमी रूप शुभभाव, सद्प्रवृत्तिया या क्षायोपशमिक भाव से घाती कर्मो का क्षयोपशम रूप क्षय होता है और अघाती कर्मों की शुभ-प्रकृतियो के अनुभाग का उत्कर्षण होता है। कषाय के क्षय रूप शुद्धभाव व शुभयोग से चारो घाती कर्मो का क्षय हो अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतदान, अनतलाभ, अनतभोग, अनत उपभोग, अनतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व व चारित्र की उपलब्धि होती है। अर्थात् प्राणी का आध्यात्मिक व भौतिक रूप से सर्वाङ्गीण विकास होता है। फिर उसे कुछ पाना व जानना शेष नही रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है।

सकारात्मक अहिंसा साधना है अत इसमे महत्त्व अपने विषय-भोग एव कषायजन्य सुखो के त्याग का है। अत सकारात्मक अहिंसा मे उन्ही सद्प्रवृत्तियो का स्थान है जो राग, द्वेष, ममत्व, अहत्व गलाने मे सहायक है। इसके विपरीत जिनमे राग-द्वेष कषाय आदि बढे वे बाहर से भले ही सद्प्रवृत्तिया प्रतीत हो, किन्तु वस्तुत. वे सकारात्मक अहिंसा रूप नही है। साधक इस तथ्य को सदैव स्मरण रखकर सकारात्मक अहिंसा की समीचीन साधना करे।

मैत्रीभाव

मैत्रीभाव मे हृदय प्रेम-रस से ओतप्रोत रहता है। जहा मित्रता (प्रेम) का रस है वहा परमानन्द के सागर मे प्रसन्नता की लहरे अठखेलिया करती रहती है। क्षति, पूर्ति, अपूर्ति, निवृत्ति रहित नित-नूतन रस उमडता रहता है। इस रस से पूरित हृदय मे कामना, राग, द्वेष, मोह आदि उत्पन्न नही होते।

मित्रता मे प्रेम होता है, राग नही होता है। राग वही होता है जहा अन्य से, पर से सुख लेने की या सुख पाने की इच्छा होती है। जबकि प्रेम मे अपना सुख-वितरण करने का, त्यागने का भाव होता है, सुख लेने का नही। मित्रता मे स्वय कष्ट पाकर भी मित्र का दु ख दूर करने का, मित्र की प्रसन्नता बढाने का, मित्र का हित करने का भाव होता है। मित्र, मित्र की प्रसन्नता के लिए, हित के लिए अपने विषय सुख को त्यागने तथा कष्ट उठाने को तैयार रहता है और बदले मे मित्र से लेश मात्र भी सुख पाने की चाह नही रखता है। मित्र मे निःस्वार्थ त्याग होता है। नि स्वार्थ त्याग ही धर्म है। वही साधना है। अत मित्रता त्याग का, धर्म का, साधना का जीता जागता रूप है।

मित्र से मित्र की सहायता किये बिना नही रहा जाता। मित्र भूखा प्यासा रहे और स्वय भोजन करता रहे, मित्र रोगी रहे, कष्ट पाता रहे उसकी सेवा सुश्रुषा न करे, मित्र खड्डे मे गिर जाय उसे उठावे नही, उसकी सहायता न करे फिर भी मित्र होने का कोई दावा करता रहे तो ऐसी मित्रता का कोई अर्थ नही है। इसे मित्रता कहना भूल है। ऐसी मित्रता मित्रता नही शत्रुता है, मित्रता का उपहास करना है, घोर क्रूरता है, अमानवीयता है, पशुता है, जिसका मानव-जीवन मे कोई स्थान नही है।

मैत्रीभाव का नाम ही प्रेम है। जहा प्रेम है, वहाँ राग नही। जहा राग है वहा प्रेम नही। प्राणी मात्र को रस या सुख स्वभाव

मे ही अभीष्ट है। इसका स्रोत है प्रेम, मैत्रीभाव। मैत्री या प्रेम का विकृत रूप ही राग है। राग मे दूसरे से सुख पाने की इच्छा रहती है। यह नियम है कि लेने वाले से देने वाले का महत्त्व अधिक होता है। लेने वाला देने वाले से हीन होता है और देने वाला लेने वाले से महान् होता है। अत जहा राग है, विषय-सुख का भोग है वहा हीनता है, दीनता है, पराधीनता है। इसके विपरीत प्रेम या मैत्रीभाव मे दूसरो को प्रसन्नता प्रदान करने की, सेवा की, सहायता की उदात्त भावना रहती है। उदात्त भावना व उदारता से हृदय मे प्रसन्नता निवास करती है। जिसके हृदय मे प्रसन्नता निवास करती है उसे अन्य किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से प्रसन्नता पाने की आवश्यकता ही नही होती। जिसे अन्य से सुख पाने की आवश्यकता नही होती उसके हृदय मे कामना या इच्छा की उत्पत्ति नही होती, अन्य से सुख लेने की, अर्थात् भोग की भावना ही नही होती। अत भोग से बचने, भोग से मुक्ति पाने का उपाय है प्रेम या मैत्रीभाव। भोग से मुक्ति ही समस्त दोषो से, दुखो से, शरीर से, ससार से मुक्ति है। यही सच्ची मुक्ति है।

जहा छोटे बडे का भेद है वहा प्रेम या मित्रता नही हो सकती। प्रेम या मित्रता वही सभव है जहा समानता का भाव है। समानता मे समता और समता मे समानता ओतप्रोत है। समानता या समता विषमता को खा जाती है। विषमता ही समस्त द्वन्द्वो व दुखो का कारण है। अत विषमता के अन्त मे ही समस्त द्वन्द्वो दोषो व दुखो का अन्त है। यही मुक्ति है। अत मुक्ति मैत्री (प्रीति) की देन है यह कहना अत्युक्ति नही होगा।

है, केवल यह निषेधात्मक सूत्र देकर ही नही रह गये है अपितु इसके साथ मेरा सब जीवो के साथ मैत्रीभाव है यह विधेयात्मक सूत्र भी दिया है। यदि आगमकार को केवल अहिंसा का निषेधात्मक रूप ही अभीष्ट होता तो मेरा किसी से वैर नही है" इतना सा सूत्र ही पर्याप्त होता और सब जीवो के प्रति मेरी मित्रता है इस सूत्र भाग को इस सूत्र के साथ मे जोडने की आवश्यकता ही नही थी। इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार को मित्रता रूप अहिंसा का सकारात्मक पक्ष भी अभीष्ट था। कारण कि मैत्रीभाव से रहित निर्वैर भाव का कोई अर्थ ही नही रह जाता। फिर निर्वैरभाव वैर के अभाव का द्योतक रह जाता है जिसका कोई खास महत्त्व नही है। यदि इसे ही महत्त्व की बात माने तो हम सब बडे महत्त्वशाली है, कारण कि अनतानत प्राणियो के प्रति हमारा वैर नही है। किन्तु वैर न होने से हमारा उन प्राणियो के साथ मैत्रीभाव है यह नही कहा जा सकता।

निर्वैर होना अच्छी बात इसलिए है कि इससे मित्रता की पात्रता व सामर्थ्य आता है अत मैत्रीभाव ही महत्त्वपूर्ण है। यही नही, मैत्रीभाव के विना निर्वैरता टिकती ही नही है। कारण कि जिस हृदय मे प्रेम की सरिता नही बहती वह हृदय शुष्क एव नीरस होता है। नीरसता ऊब पैदा करती है। अतः सच्चे अहिसक साधक के हृदय मे सदैव यह भाव उमडा रहता है कि सबका भला हो, सबका मगल हो, सबका कल्याण हो, सबका हित हो, सब सुखी रहे। यही सच्चा मैत्रीभाव है। जैसा कि सामायिक पाठ मे कहा गया है "सत्त्वेषु मैत्री" अर्थात् सब प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव रहे।

मित्रता वहाँ ही होती है जहा वैर नही है, प्रेम है, सहयोग की भावना है, आत्मीयता है। आत्मीयता का अर्थ है सब प्राणियो को अपने समान समझना। अत मित्रता मे समानता का व्यवहार होता है। जहा किसी से सुख पाने की इच्छा होती है वहा भोग होता है, मित्रता नही होती है। मित्रता वही होती है जहा मित्र की प्रसन्नता के लिए अपना सुख नि.स्वार्थ भाव से अर्पित कर दिया जाता है और उससे वह स्वय प्रसन्न होता है।

मित्रता आत्मीयता की द्योतक है। अत 'मित्ती मे सव्वभूएसु' का अर्थ हुआ सब प्राणियो के प्रति आत्मीयभाव, अपनेपन का भाव अर्थात् सर्वात्मभाव। आत्मीयभाव मे परायेपन का भाव नहीं रहता। सर्वात्म-भाव मे कोई भी जीव पराया नहीं रहता। अत प्राणी मात्र के प्रति सहायता का भाव होता है। वस्तुत सक्रिय सहायता ही सेवा है। सेवा मे सक्रिय सर्वहितकारी-भाव होता है। यही मैत्रीभाव है। जहा सब प्राणियो की सेवा का भाव नहीं है प्रत्युत उनके प्रति उपेक्षा का यह भाव है कि जीव दु ख पाते है तो पाते रहे अपनी बला से, दु ख पाते होगे अपने कर्मो से, हमे उनसे क्या मतलब, क्या लेना देना ? ऐसा भाव जहा है और जो व्यक्ति प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, शक्ति, योग्यता का उपयोग अपने सुख-भोग के लिए करता है, वहा सर्वात्मभाव नही स्वार्थभाव है। जहा स्वार्थभाव है वहा मैत्रीभाव नहीं है, भोग है। भोग समस्त दोषो व दु खो का बीज है। यद्यपि सेवा का क्रियात्मक रूप अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता के अनुसार होता है अर्थात् सीमित होता है, परन्तु सेवा का भावात्मक रूप सर्वात्म-भाव असीम होता है। सर्वात्मभाव ही सबके प्रति आत्मीयभाव या प्रेम का भाव है। यही सब प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव है। मैत्रीभाव मे प्रेम होता है। प्रेम का रस राग के रस को खा जाता है। प्रेम के रस के अभाव मे राग का रस नहीं मिट सकता भले ही कोई कितने ही काल तक सयम का पालन करे, तप करे। कारण कि बिना रस के जीवन चल नहीं सकता अर्थात् नीरसतायुक्त जीवन किसी को भी रुचिकर नहीं है। जीवन मे किसी न किसी प्रकार का रस तो चाहिये ही। अत जिस जीवन मे प्रेम का रस नहीं होता उसमे राग का रस अवश्य पैदा होता है। जहा राग है वहा ही समस्त दोषो की उत्पत्ति है। जहा दोष है वहा दु ख है ही, यह प्राकृतिक विधान है। इस प्रकार दु ख से छूटने का उपाय दोषो का त्याग है। दोषो के त्याग का उपाय राग का त्याग है। राग के त्याग का उपाय प्रेमभाव है। प्रेमभाव ही मैत्रीभाव है। अत जहा सर्व प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव है वहा राग का, दोषो का एव दु खो का निवारण स्वत होता है, इसमे लेशमात्र भी सदेह को स्थान नहीं है।

मैत्रीभाव राग को तो गलाता ही है साथ ही द्वेष का भी नाश करता है। कारण कि मैत्रीभाव का विपरीत वैरभाव है। वैरभाव द्वेष का द्योतक है। अतः वैरभाव का त्याग कर मैत्रीभाव को अपनाना द्वेष को त्याग कर प्रेम को अपनाना है। इस प्रकार मैत्रीभाव राग-द्वेप का नाशक है। अत. मैत्रीभाव वीतराग साधना का, सयम का, विरति का अग है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ।। तत्त्वार्थसूत्र 7 2

अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव गुणियो के प्रति प्रमोद भाव, दु खियो के प्रति करुणाभाव, और दोपियो के प्रति माध्यस्थ भाव रखना सयम मे सहायक है।

इन चारो भावो मे महत्त्व मैत्रीभाव का है कारण कि जिसमे मैत्रीभाव है वही गुणियो के प्रति प्रमोदभाव दु खियो के प्रति करुणाभाव और दोषियो के प्रति तटस्थभाव रख सकता है। अत शेप तीनो भावो मे मैत्रीभाव ओत-प्रोत है।

जहा भेद है, भिन्नता है, अलगाव है, छोटे-वडेपन का भाव है, वहा मैत्री नही है। मैत्री मे दो मित्रो के वीच मे अभिन्नता, अभेदता, समता, स्नेहशीलता एव प्रेम होता है। ये ही सब गुण परमात्मा के भी है। अत जहा मैत्रीभाव है, वहा परमात्म-भाव हे। मित्रता और समना सहवर्ती हैं और परमात्मा समता मे ही वसता है अतः दूसरे शब्दो मे कहे तो मित्रता मे ही परमात्मा बसता है। इसीलिए वौद्ध धर्म मे मैत्री को "ब्रह्म-विहार" कहा है।

जहा स्वार्थपरता हे अर्थात् अपने लिए सुख लेने की भावना है, वहा मैत्री नही हे। मैत्री वही हो सकती हे जहा मित्र के सुख के लिए अपने सुख का त्याग किया जाता है, मित्र की प्रसन्नता मे ही अपनी प्रसन्नता का भाव होता है। अपने सुखकी प्रवृत्ति ही भोग है, अपने सुख (विपय सुख) का त्याग भोग नही, योग है।

योग ही बन्ध है या कर्मबन्ध का कारण है। योग में ही धर्म है। अत जहा मित्रता है वहा धर्म है। मित्रता में धर्म ओत-प्रोत है।

मित्रता में उत्पन्न प्रेम राग को गलाता है। राग वही है जहा सुख लेने की भावना है। जहा अपने सुख के त्यागने में दूसरों की खिन्नता या दु ख को दूर करने, उनकी प्रसन्नता में प्रसन्न होने का भाव है वहा प्रेम है। प्रेम ही प्रभु का रूप है, प्रभु का स्वभाव है। अत जहा प्रेम है वहीं प्रभु है, भगवान् है। जिसके हृदय में प्रेम नहीं उमडता है उसके हृदय मे राग-भाव पैदा हुए बिना नही रहता है। जहा राग है वही बन्धन (कर्मबन्ध) है वहीं ससार है। राग के त्याग में ही प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। जहा राग का त्याग है, राग का अभाव है वहा वीतरागता है। जहा वीतरागता है वहा परमात्मा है। अत जहा प्रेम है, वहा परमात्मा है। हृदय मे प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का भाव उमडता रहे, प्रेम का सागर लहराता रहे, यही परमतत्त्व व परमात्मत्व की प्राप्ति है। प्रेम के रस या सुख की क्षति, पूर्ति, अपूर्ति, निवृत्ति, तृप्ति, अतृप्ति कुछ नहीं होती। वह अक्षय, अव्याबाध, अनत (प्रतिक्षण नतन) रस सुखरूप होता है। यही परमात्मत्व की प्राप्ति की पहचान है।

गाथा 37) अर्थात् अपनी दुष्प्रवृत्तिया अपनी शत्रु है और अपनी सद्-प्रवृत्तिया अपनी मित्र है।" मित्र वही होता है जो हित व कल्याण करता है। यदि सद्प्रवृत्तिया लेशमात्र भी मुक्ति मे बाधक होती तो आगम मे इन्हे मित्र नही कहा जाता। इससे यह फलित होता है कि मैत्री आदि सद्प्रवृत्तिया कर्म-क्षय करने वाली है, कर्मबन्ध करने वाली नही है। अत दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियो को कर्मबन्ध का कारण मानना आगम-विरुद्ध है, भूल है। कर्मबन्ध रोकने वाली होने से मैत्री आदि सद्प्रवृत्तिया सवररूप है। सवररूप होने से आत्म-विशुद्धि करने वाली है। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र अ 29 सूत्र 17 मे कहा है—'मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ' अर्थात् मैत्रीभाव से जीव भाव-विशुद्धि करके निर्भय हो जाता है। मैत्रीभाव भावो की विशुद्धि करने वाला एव सवररूप होने से धर्म है।



मार्दव

जैन-धर्म मे सवर के भेदो मे दस धर्म कहे गये है—क्षमा, आर्जव आदि। इनमे से एक धर्म है मार्दव या मृदुता। मार्दवधर्म, मद, मान या अहकार के त्याग से ही सभव है। जैसा कि कहा गया है "कुलरूवजादिवुद्धिसु तवसुदसीलसु गारव किंचि जो णवि कुव्वदि समणो मादव-धम्म हवे तस्स" (भगवतीआराधना 49/154)

जो मनस्वी पुरुष, कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील आदि के विषय मे थोडा भी मद नही करता है उसके मार्दव-धर्म होता है। अथवा "मृदोर्भावोमार्दवम्" अर्थात् मृदुभाव का होना मार्दव है, या यो कहे कि जहा हृदय मे कोमलता है वहा मार्दव है।

जहा मद (अहकार) है, दूसरो से अपने को उच्च समझने का भाव है वहा मृदुता नही, जडता है। जहा जडता है, वहा कठोरता है, वहा हृदयहीनता है। ऐसे व्यक्ति के हृदय मे आत्मीयता या करुणा जग नही सकती है। इसके विपरीत जहा निरभिमानता है, विनम्रता है उसमे अपने को दूसरो से बडा समझने का भाव नही आता, दूसरो को भी अपने ही समान समझने का भाव जगता है जिससे वह अपने दु ख-सुख के समान ही दूसरो के सुख-दु ख का अनुभव करता है।

दु खी प्राणी के हृदय मे ही करुणा जगती है जो कठोरता को मिटाकर हृदय को कोमल-मृदु बना देती है। जैसा कि कहा गया है "जिनके पैर न फटे न बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई" अर्थात् जिसकी पगथली कभी न फटी हो वह दूसरे की पगथली फटने पर चलने से कितनी पीडा होती है, यह नही जान सकता है। आशय यह है कि जिस पर दु ख आकर पडता है, जिसके हाथ पैर टूट जाते है, अन्धा, लूला, लगडा हो जाता है, जिसके घाटा लग जाता है, जिसका प्रियजन मर जाता है वह ही जानता है कि दु ख कितना असह्य होता है। हृदय टूक-टूक हुआ जाता है, रोना आता है। दु ख कितना असह्य होता है उसका अनुभव उसी को होता है।

जो व्यक्ति विषय-सुख मे आसक्त है, उसके हृदय मे जडता आ जाती है। वह दूसरे के दुःख का अनुभव नही कर पाता, उसकी सवेदन-शीलता मर जाती है। उसका हृदय कठोर हो जाता है।

जो एयर कडीशनयुक्त उच्च अट्टालिकाओ मे गर्म कपडे पहनकर सोते है, उन्हे वस्त्रहीन व्यक्ति सर्दी मे ठिठुर कर कैसे मरते हैं यह समझ मे नही आ सकता। सच तो यह है कि सुख की आसक्ति सुख के भोगी को हृदयहीन बना देती है, पत्थर-हृदय बना देती है जो कि विकास मे बहुत बडी बाधा है। दु ख कितना कष्टदायक होता है, यह दु ख की घडी मे ही अनुभव होता है। कारण कि सुख का भोगी दुःखियो को देखते हुए भी सुख भोगता रहता है, किन्तु वह अपना हृदय कठोर किये बिना कोई सुख नही भोग सकता। सुख के भोगी का हृदय इतना कठोर हो जाता है कि हृदय मे से उदारता निकल जाती है व मानवता लुप्त हो जाती है। इस दृष्टि से सुख का भोग करना मानव-जीवन के पतन का हेतु है। परन्तु जो दु ख से परिचित है, दु ख के अभाव से प्रभावित है वह प्राप्त सामग्री का स्वय भोग न करके पीडित व्यक्तियो की पीडा दूर करने मे उसका उपयोग करता है। उसके हृदय मे प्रेम का मधुर रस उमडता है। माधुर्य ईश्वरीयगुण है जो हृदय की मृदुता मे ही निवास करता है।

जिसका हृदय नवनीत के समान कोमल व मृदु नही है वहा धर्म नही है और वह धर्मात्मा नही है। जिससे पर-दु ख सहा न जाय वही धर्मात्मा है। दूसरो का दुःख दूर करने के लिए अपने सामर्थ्य का उपयोग करना ही कर्त्तव्य-परायणता है। जिस किसी को भी तन, धन, बुद्धि, बल, योग्यता आदि की जो भी सामग्री व सामर्थ्य मिली है वह मृत्यु के उस पार तो जा नही सकती। अत वह व्यक्ति उस प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग यदि सेवा मे नही करेगा तो विषयभोग के सुख मे करेगा। जिससे नैसर्गिक विधान के अनुसार न चाहते हुए भी विवश होकर दु ख भोगना ही पडेगा। इस प्रकार प्राप्त सामग्री तथा सामर्थ्य का एक ही सही उपयोग रह जाता है और वह है उसे सेवा मे लगाना। अत हमे जहाँ-जहाँ दु ख दिखाई दे वहा-वहा प्राप्त सामर्थ्य को बाटते जायें। इससे

उन दु खियों का दु ख हमारे हृदय में समा जायगा और सुख-भोग की कामना मिट जायगी, हृदय शुद्ध हो जायगा ।

हृदय पर-पीड़ा से भरा रहे तो उसमें सुख-भोग की वासना उदित नहीं होती । दूसरों के दु खों को अपने हृदय में धारण करने का उपाय यह है कि किसी दु खी को देखकर उसकी स्थिति में अपने को रखकर विचारे कि जिस दु ख में यह जीव है, उसमें मैं होता तो मुझे कैसा लगता ? अपने को उसी दु खी की अवस्था में खड़ा करते ही अपने भीतर उसका चित्र अंकित हो जायगा, हृदय दु ख से द्रवित होने लगेगा, वासनाएँ विगलित होने लगेंगी । परन्तु, जो मोह के प्रभाव से दु खी होता है उसके भीतर दु ख दूर न होने पर दुर्बलता आती है । वह उद्विग्न और निराश होता है, घबराता है, लेकिन जो अपना पराया भेद किए बिना सर्वात्मभाव से पर-पीड़ा को धारण करता है, अपनाता है, उस व्यक्ति में दुर्बलता नहीं आती है, निराशा नहीं आती है, घबराहट या बेचैनी नहीं होती है, उसमें दु खी व्यक्ति को सहायता करने का सामर्थ्य आता है । प्रकृति भी उस सेवक की सहायता करती है, समाज भी बहुत कुछ देता है, उसे चारों ओर से सहयोग मिलता है, सम्पूर्ण जगत् उसकी सहायता करने के लिए लालायित रहता है और सहयोग देकर अपने को धन्य समझता है । तात्पर्य यह है कि हृदय परपीड़ा के दु ख से भरा रहे, जिससे स्वार्थ-परता व सुख की दासता से आई 'हृदय की जड़ता' द्रवीभूत होकर गल जाय, चिन्मयता प्रकट हो जाय । यह मुक्ति-प्राप्ति का सहज व सुलभ उपाय है ।



सकारात्मक अहिंसा पर आपत्तियाँ और उनका निराकरण

1. आपत्ति—प्रवृत्तिरूप योग व क्रिया 'कर्म' की जनक है फिर वह दान, दया, परोपकार, सेवा व रक्षा करने रूप सद्‌प्रवृत्ति ही क्यो न हो, समस्त सद्‌प्रवृत्तिया कर्मबध की ही हेतु हैं। कर्म-बध त्याज्य है, हेय है उपादेय नही।

निराकरण—यह ठीक है कि प्रवृत्ति क्रियारूप होती है, परन्तु सभी क्रियाए सकर्मक नही होती है, बहुत-सी क्रियाये अकर्मक ही है। कर्म-बध करने वाली क्रिया वह है जिस क्रिया के साथ कषाय व विषय-सुख रूप फल की आशा व इच्छा लगी हो, कर्त्ता-भाव व भोक्ता-भाव हो, परन्तु जो क्रिया कर्मोदय से या निसर्गत. स्वत होती है, जिसके साथ कर्त्ता व भोक्ता-भाव नही होता, जो केवल द्रष्टा व साक्षी-भाव से होती है वह क्रिया बध का कारण नही होती। जैसे अघातीकर्म की उदयरूप क्रियाये कर्म-बध करने वाली नही होती। इसीलिए उन्हे अघाती कहा है, देश घाती भी नही कहा। उदाहरणार्थ—वीतराग के निरन्तर मन-वचन-काया से क्रिया होती रहती हे, परन्तु उनके कर्म-बध नही होता, भले ही वे श्वास ले, चले, प्रवचन दे।

यही नही, वीतराग केवली द्वारा दया, दान, वात्सल्य आदि प्रवृत्तिया या क्रियाये भव्य जीवों के निमित्त से स्वत , सहज, स्वाभाविक रूप से होती रहती है। केवली अनन्त दानी, जगत्-वत्सल है परतु उनकी दया, दान आदि क्रियाये उसी प्रकार होती है जैसे ढोलक हाथ की थपकी के निमित्त मे वोलने लगती है, उसमे करने का सकल्प नही होता। सकल्पपूर्वक की गई क्रिया कर्तृत्वभाव की द्योतक होती हे तथा कर्म-वध मे हेतु होती है। आख खोलते ही जगत् के अच्छे-वुरे सब पदार्थ दिखाई देते हैं, कान मे इधर-उधर से शब्द सुनाई पडते रहते हैं, परन्तु वस्तुओ के दिखाई देने मात्र

से या शब्द सुनाई पड़ने मात्र से कर्म-बध नहीं होता है। कर्म-बध होता है क्रिया के साथ रहे हुए सकल्प-विकल्प से, कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व भाव से, राग-द्वेष-मोह रूप विषय-कषाय से। कहा भी है—

सुख-दु ख दोनो वसत है, ज्ञानी के घट माहि।
गिरि सर दीसे मुकुर मे, भार भीजबो नाहि॥

अर्थात् जैसे दर्पण मे पर्वत और तालाब दोनो दिखाई देते है परन्तु, दर्पण पर्वत से भारी नही होता और तालाब के जल से गीला नही होता। इसी प्रकार ज्ञानीजन के हृदय मे सुख-दु ख रूप साता या असाता का वेदन (अनुभव) होता है, परन्तु उन्हे उनके कारण से कर्म-बध नही होता है। आशय यह है कि क्रिया बध का कारण नही है। बध का कारण उसके साथ रहा हुआ कषाय है। अत सद्प्रवृत्तिया त्याज्य या हेय नही है, कषाय हेय है, कषाय कर्मबध का कारण है।

2 आपत्ति—सद्प्रवृत्तिया पुण्यरूप होती है और उनसे कर्म-बध होता है। कर्मबध की हेतु होने के कारण दया, दान आदि सद्प्रवृत्तिया मुक्ति मे बाधक है।

निराकरण—पुण्य को कर्म-बध का कारण मानना भ्रम है, कारण कि कर्म की सत्ता तभी सम्भव है जब स्थिति-बध हो, स्थिति-बध के अभाव मे कर्म-बध सम्भव नही है। स्थितिबध कषाय से होता है। कषाय कभी भी पुण्यरूप नही होता, सदैव पापरूप होता है। अत पुण्य मुक्ति-प्राप्ति मे किसी भी रूप मे बाधक नही है, प्रत्युत मुक्ति-प्राप्ति मे सहायक है। पुण्य के प्रकर्ष या उत्कर्ष से ही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। पुण्यरूप विशुद्धि-लब्धि के बिना सम्यग्दर्शन हो ही नही सकता। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सम्भव नही है और इन तीनो के अभाव मे मुक्ति हो ही नही सकती। अत पुण्य मुक्ति-प्राप्ति मे साक्षात् व परम्परा कारण है।

यह ठीक है कि पुण्य का क्षय कभी भी साधना से नही होता। साधना के दो मुख्य अग है सवर और निर्जरा। इन दोनो

से पुण्य के अनुभाग का उत्कर्ष (वृद्धि) होता है, क्षय नही होता। पुण्य का यह उत्कृष्ट उदय सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक रहता है। सिद्ध अवस्था प्राप्ति होने पर पुण्य स्वत उसी प्रकार छूट जाता है जिस प्रकार यात्री के अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच कर अपने वाहन से उतरने पर वायुयान, रेल, कार आदि वाहन स्वत छूट जाते है। उन्हे छोडने का प्रयत्न नही करना पडता और न वह यात्री इन्हे त्यागने का सकल्प ही करता है। सच तो यह है कि यात्री अपने वाहन की सहायता से ही गन्तव्य स्थल या लक्ष्य तक पहुचता है। अत सद्प्रवृत्तिया मुक्ति मे सहायक है, लेशमात्र भी बाधक नही है।

यदि सद्प्रवृत्तिया मुक्ति मे कही भी, किसी भी रूप मे बाधक होती तो जैसे मुक्ति मे बाधक पाप का त्याग किया जाता है वैसे ही दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो का भी त्याग किया जाता। परन्तु, समस्त जैनागमो व उनकी टीकाओ मे सद्प्रवृत्तियो या पुण्य के त्याग का न कोई पाठ ही आता है और न कोई उल्लेख ही। व्रत-ग्रहण पाप के त्याग का ही होता है, पुण्य के त्याग का व्रत नही लिया जाता।

जैनागमानुसार 'दुष्प्रवृत्ति' पाप व अधर्म है और सद्प्रवृत्ति पुण्य व धर्म है। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र के बीसवे अध्ययन की गाथा 37 मे कहा है 'अप्पा मित्तममित्त च दुप्पट्ठिय-सुप्पट्ठिओ।' अर्थात् आत्मा की दुष्प्रवृत्तिया उसकी शत्रु है और सद्प्रवृत्तिया उसकी मित्र है। जैनधर्म-ग्रन्थो मे कर्मों की सक्रमण-प्रक्रिया का अति महत्त्वपूर्ण विस्तृत वर्णन है तदनुसार यह नियम है कि जब कोई प्राणी दुष्कर्म-पाप करता है तो उसके पूर्वोपार्जित सत्ता मे स्थित 'पुण्य-कर्म' पाप-कर्म मे परिवर्तित हो जाते है। इसी प्रकार जब कोई सद्प्रवृत्ति करता है तो उसके पूर्वोपार्जित पाप-कर्मो का स्थिति व अनुभाग बध का अपवर्तन हो जाता है अर्थात् पाप-कर्म घट जाता है, क्षय हो जाता है। साथ ही पाप-कर्मों का पुण्य मे रूपान्तरण हो जाता है, इसे वर्तमान मनोविज्ञान मे उदात्तीकरण (Sublimation) कहा जाता है। इस प्रकार दया, दान, सेवा, परोपकार, अनुकम्पा,

करुणा, वात्सल्यरूप सद्प्रवृत्तियों से पाप-कर्मों का नियम से क्षय होता है व निर्जरा होती है। पाप के क्षय से 'मुक्ति' होती है। अत दया, दान, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तिया मुक्ति की साधन व सहायक है। उन्हे मुक्ति मे बाधक मानना जैन-धर्म का अपलाप करना है।

यदि पुण्य को किसी भी रूप मे कोई हेय माने तो उसके लिए उसका पुण्य-क्षय करना आवश्यक होगा और पुण्य का क्षय सवर-निर्जरा रूप साधना से तो होता नहीं। उल्टा उनसे पुण्य का उत्कर्ष ही होता है। अत पुण्य-क्षय करने का एक मात्र उपाय पाप-प्रवृत्ति रह जाता है। पाप-प्रवृत्ति को पुण्य के क्षय के उपाय के रूप मे ग्रहण करना मुक्ति मे बाधक ही होगा।

यही नही पुण्य पूर्णरूप से अघाती कर्म है अर्थात् इससे जीव के किसी भी निज गुण का लेशमात्र भी घात नहीं होता। जिससे जीव के किसी भी गुण को किंचित् भी हानि नही पहुचती, उसे मुक्ति मे बाधक मानना न युक्तियुक्त है और न समुचित ही।

3 **आपत्ति** सद्प्रवृत्तिया पुण्यरूप होती है। पुण्य धर्म नही होता और धर्म के बिना मुक्ति नही मिलती।

निराकरण—सद्प्रवृत्तिया पुण्यरूप भी होती है और धर्म रूप भी। यही नही पुण्य और धर्म सहचर है, अत जहा धर्म होगा वहा पुण्य होगा ही। पुण्यहीन कभी धर्मात्मा नही हो सकता। धर्म के साथ पुण्य उसी प्रकार जुड़ा हुआ है जैसे काया के साथ छाया। धर्म और पुण्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता। कारण कि सद्प्रवृत्तिया रूप सद्गुणों के दो पहलू है—(1) भावात्मक और (2) क्रियात्मक। सद्प्रवृत्तियो का भावात्मक पक्ष है क्रोध राग-द्वेष, विषय-कषाय [illegible] का त्याग करना। त्याग से [illegible] है [illegible] सद्प्रवृत्तियो का भावात्मक रूप धर्म है। सद्गुणो का क्रियात्मक-रूप है दया, दान, सेवा, वात्सल्य आदि को प्रदान करना। इसी क्रियात्मक रूप को पुण्य कहा जाता है। ये दोनो पक्ष एक सिक्के के दो पहलू है जिन्हे एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा [illegible] [illegible] इस [illegible] पर [illegible] पुण्य [illegible] और [illegible] पुण्य

होगा वहा धर्म होगा ही। क्योकि पुण्य कहा ही उसे जाता है जो आत्मा को पवित्र करे और वही धर्म है। उसे अधर्म कदापि नही कहा जा सकता। इसीलिए जैनागम मे दया, दान, करुणा, सेवा (वैयावृत्य), वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियो को धर्म कहा है।

दान, दया आदि समस्त सद्प्रवृत्तिया सद्गुण है। सद्गुण स्वभाव होता है, विभाव नही। स्वभाव धर्म होता है अधर्म नही। यदि स्वभाव को ही धर्म न माना जाय तो धर्म का अभाव हो जायगा।

4 **आपत्ति**—दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो मे एकेन्द्रिय व हलते-चलते जीवो की हिसा होती है। हिसा पाप है, कर्म-बध का कारण है। अत सद्प्रवृत्तिया साधक के लिए त्याज्य है।

निराकरण—पुण्य या धर्मरूप सद्प्रवृत्तियो से एकेन्द्रिय जीवो की जो मृत्यु होती है वह अनायास होती है। वह किसी भी प्रकार के आयास या प्रयासपूर्वक की नही जाती है। हिसा आदि पाप-बध का कारण करण और योग ये दोनो है। इन दोनो के मिलने से पाप-बध होता है, अकेले करण या अकेले योग से नही। अत जिस प्रवृत्ति मे करण और योग होते है वह बध का कारण होती है। यदि बिना करण (करना-कराना, अनुमोदन) के ही बध माना जाय तो वीतराग के भी श्वास लेने, चलने-फिरने, बैठने-उठने आदि प्रवृत्तियो व क्रियाओ मे वायुकाय आदि एकेन्द्रिय की व त्रसकाय की हिंसा होती रहती है अत. उससे उनके भी कर्म-बध होने चाहिए, परन्तु उनके बध नही होता क्योकि जब तक किसी भी क्रिया के साथ कर्तृत्व-भाव रूप करना, कराना व अनुमोदन रूप कारण न हो तब तक बध सम्भव नही है।

अभिप्राय यह है कि दान, दया, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियो मे हिसा करने, कराने व अनुमोदन का लेशमात्र भी भाव नही होता है। अत वह पाप रूप व कर्म-बध का करण नही है। इसीलिए साधु द्वारा खाने-पीने, चलने-फिरने, श्वास लेने आदि क्रियाओ मे त्रस-स्थावर

जीवों की मृत्यु या हिंसा होने पर भी उनका हिंसा-विरमण रूप अहिंसा महाव्रत तीन करण व तीन योग से माना गया है। उनके हिंसा के त्याग का व्रत भी तीन करण, तीन योग से होता है और स्थावर जीवों के मरने पर भी उनका अहिंसा महाव्रत खण्डित नहीं होता है क्योंकि साधु व वीतरागी के द्वारा जीवों की हिंसा होती है, पर वे हिंसा करते नहीं हैं। उनका लक्ष्य तो प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ सर्व जीवों की रक्षा व हित का ही रहता है, किसी भी जीव की हिंसा व अहित करने का लक्ष्य नहीं होता है। अतः सद्प्रवृत्तियों में हिंसा का पाप नहीं लगता व कर्मबंध नहीं होता है।

5 आपत्ति—दान, दया आदि के द्वारा जिस जीव की रक्षा की जाती है वह जीव जीवित रहकर भविष्य में संसार में पाप प्रवृत्ति करता है। इससे रक्षा करने वाला अनुमोदन-रूप पाप का भागीदार होता है। पाप त्याज्य होता है। अतः दान, दया आदि से जीवों की रक्षा करना पाप है व त्याज्य है।

निराकरण—उपर्युक्त युक्ति सर्वथा तथ्यहीन है। कारण कि रक्षा करने वाले का यह भाव कदापि नहीं होता कि वह जीव बचकर पाप करे। यदि किसी जीव के बचने पर उसके द्वारा आगे होने वाले पाप का कारण उसके रक्षक को माना जाय तो वीतराग को छोड़कर शेष सब जीव पाप करते हैं। उनके माता-पिता, भाई-बहिन, मित्र, परिजन आदि भी बचकर पाप करेंगे, यहाँ तक कि साधु भी दसवें गुणस्थान तक पाप कर्मों का बंध करता है अर्थात् पाप करता है। अतः अपने माता-पिता आदि परिजनों की रक्षा करना, उनको [illegible] का दान आदि देना उन्हें दूध-पान आदि से बचाना, पाप [illegible] का कारण होगा, अधर्म होगा। दूसरे शब्दों में [illegible] किसी [illegible] को भी बचाए तो उस बचाने वाले को पाप ही लगेगा। इस प्रकार [illegible] किसी [illegible] की भी रक्षा करना, उस रक्षा-कर्म [illegible] पाप का कारण होने से त्याज्य हो गया।

साम्राज्य हो जायगा और किसी भी प्राणी का जीवित रहना दूभर हो जायगा। यहा तक कि किसी से स्वय अपनी रक्षा, सहायता व सेवा करने की अपेक्षा करना भी पाप को बढावा देने का ही कारण होगा जो घोर अमानवता, पशुता, दानवता है। कितने आश्चर्य की बात है कि पाप कोई दूसरा ही करे और उसका फल दूसरे व्यक्ति को बिना पाप किये ही मिले अर्थात् करे कोई भरे कोई, हत्या करे कोई और फासी दूसरे को मिले। यह कर्म-सिद्धान्त व आगम के विपरीत तो है ही, साथ ही साथ विधि व्यवहार-विरुद्ध भी है। अत. सर्वथा त्याज्य है।

किसी भी जीव को बचाये जाने का फल उस बचाये गए जीव का बचना है अर्थात् जीवित रहना है अत जो लोग किसी जीव को बचाने मे एकान्त पाप मानते है उनके लिए तो इतना ही कहना काफी होगा कि उनके सिद्धान्तानुसार किसी भी जीव का या उनका स्वय बचा रहना, जीवित रहना भी पाप का ही फल है। अत जो किसी जीव को बचाने-उसकी रक्षा करने मे पाप मानते है, उन्हे स्वय को बचे रहने का, जीवित रहने का अधिकार ही नही है। किसी मरते हुए जीव को भोजन, जल आदि देकर बचाने को या उसके दु.ख को दूर करने को, सेवा करने व सहायता पहुँचाने को पाप या त्याज्य मानना मानवता, व्यावहारिकता, बुद्धिमत्ता आदि सभी पक्षो से घोर विरुद्ध है, जिसका मानव-जीवन मे कोई स्थान ही नही है।

उपर्युक्त मान्यता इसलिए भी तथ्यहीन है कि जीवो की रक्षा करने वाले की लेशमात्र भी यह भावना नही होती कि कोई जीव बचकर हिसा, झूठ, चोरी, शोषण आदि दुष्प्रवृत्तिया करे व राग-द्वेष, कषाय, मोह का सेवन करे क्योकि वह तो स्वय ही इन दुष्प्रवृत्तियो व पापो को बुरा समझता है तथा इनके त्यागने मे अपना हित मानता है। यह नियम है कि जो जिसे बुरा समझता है उसकी भावना सदैव यही रहती है कि वह बचने वाला प्राणी या व्यक्ति भी इन दुष्प्रवृत्तियो व बुराइयो से बचकर अपना हित करे। पाप का अनुमोदन तो तब होता है जब पाप-कर्म या क्रिया को अच्छा

समझा जाय। अतः सद्प्रवृत्तियों में पाप का अनुमोदन होता है, यह मानना भूल है।

6. **आपत्ति**—सकारात्मक अहिंसा के विरोध में एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव "जीव" है, सभी जीव समान हैं। अतः किसी भी जीव को मारा जाय, उसका पाप समान ही लगेगा, भिन्न नहीं। अतः एक जीव को बचाने के लिए असंख्यात-अनन्त निरपराध जीवों की हिंसा करना कहाँ तक उचित व न्यायसंगत है?

निराकरण—इस सम्बन्ध में यह कहना होगा कि "सब जीवों को या किसी भी जीव को मारने में समान पाप लगता है" यह मान्यता भूल भरी है। कारण कि पृथ्वीकाय के एक कण में, जलकाय की एक बूँद में असंख्यात जीव होते हैं और वनस्पतिकाय व निगोद में सूई के अग्र भाग जितने स्थान में असंख्यात् व अनन्त जीव होते हैं। अतः हमारे व वीतराग के प्रत्येक श्वास में असंख्यात वायुकाय के जीवों की हत्या हो रही है, जल की एक बूँद में, वनस्पति के उपभोग में असंख्यात अनन्त जीवों का प्राणान्त हो रहा है। इन जीवों में से प्रत्येक जीव की हिंसा को मनुष्य की हत्या के समान माना जाय तो हम प्रति क्षण असंख्यात मनुष्यों की हत्या का पाप कर रहे हैं जो विद्यमान समस्त मनुष्यों की संख्या से असंख्यात गुणा है। उपर्युक्त मान्यता के अनुसार कोई इन सब मनुष्यों की हत्या भी कर दे तो यह हत्या का पाप एक बूँद के जलकाय के जीवों की हत्या से कम ही होगा। महाभारत जैसे हजारों-लाखों युद्धों की हत्या का पाप भी एक श्वास लेने में मरे जीवों से कम ही होगा। इस मान्यता के फलस्वरूप अपने स्वार्थ के लिए हजारों मनुष्यों की हत्या करने में भी संकोच नहीं होगा कारण कि उसका पाप एक बूँद जल के पाप से कम ही होगा। अतः यह मान्यता नरसंहार को प्रोत्साहन देने वाली तथा अनाचार-अत्याचार की पोषक है।

नाम का एक पथ था जो इसी मान्यता को स्वीकार करता था। इस पथ के अनुयायी अनेक व असख्य जीवो की हिसा से बचने के लिए एक हाथी को मारकर लम्बे समय तक उसे खाते रहते थे और अपने को अहिसक मानते थे तथा इस मत या सिद्धान्त को नही मानने वालो को हिंसक मानते थे।

वास्तविकता तो यह है कि जीव तो अजर-अमर-अविनाशी है अत जीव का विनाश होता ही नही। विनाश होता है—कान, नयन, नाक आदि इन्द्रियो व तन-मन-वचन आदि प्राण शक्तियो का। इसीलिए जैनागमो मे हिसा के स्थान पर प्राणातिपात अर्थात् प्राणो का हनन करना शब्द आया है और अणुव्रत या महाव्रत की प्रतिज्ञा भी प्राणातिपात विरमण की ही ली जाती है जो सार्थक व उचित ही है। यह नियम है कि जिस जीव मे जितनी अधिक प्राण-शक्ति है वह उतना ही अधिक विकसित प्राणी है। उसके हनन मे उतना ही अधिक प्राणातिपात (हिसा) है। एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि से द्वीन्द्रिय जीव लट, केचुआ आदि की प्राण-शक्ति (सवेदन-शीलता) अनन्त-गुणी है इसीलिए इन्हे एकेन्द्रिय से अनन्तगुणा पुण्य-वान माना है। अत इनकी हिसा मे एकेन्द्रिय जीव के प्राणातिपात से अनन्तगुण प्राणातिपात होता है—हिसा होती है, पाप होता है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र मे यही आशय प्रकट किया गया है, यथा–'एग इसिं हणमाणे अणते जीवे हणइ' अर्थात् एक ऋषि को मारता हुआ अनन्त जीवो को मारता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय चीटी आदि, त्रीन्द्रिय मे चतुरिन्द्रिय मक्खी, मच्छर आदि और चतुरिन्द्रिय से पचेन्द्रिय पशु-पक्षी-मनुष्य आदि क्रमश अनन्त-अनन्त गुणी अधिक प्राण-शक्ति वाले है, पुण्यात्मा है। अत उनके हनन मे क्रमश अनन्त-अनन्त गुणा अधिक प्राणातिपात होता है, अनन्त-अनन्त गुणी अधिक हिसा होती है या पाप लगता है। अत सब जीवो के मारने मे समान पाप लगता है, समान हिसा है, यह मानना भयकर भूल है।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक ऊपर दिए गए क्रम मे जीवो की रक्षा करने, दया करने मे क्रमश अनन्त-अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है। अत· पशु-पक्षी, मनुष्य आदि पचेन्द्रिय प्राणियो को

अन्न-जल देकर भूख प्यास से मरने से बचाने, इनकी सेवा करने में अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है और इनके मारने में अनन्त गुणा पाप व अधर्म है। इनकी रक्षा या सेवा में पाप या हिंसा मानना धर्म को पाप मानना है जो घोर मिथ्यात्व है।

तात्पर्य यह है कि सब जीवों के मारने में समान पाप या हिंसा नहीं है। बल्कि जो प्राणी जितना अधिक प्राणवान् है उसके हनन में उतना ही अधिक प्राणातिपात है, हिंसा है, पाप है, आत्म-पतन है और उसकी रक्षा में, दया में सहायता में उतना ही अधिक धर्म है, पुण्य है, आत्मा का उत्थान है।

7. **आपत्ति**—कोई जीव किसी दूसरे जीव को कष्ट दे रहा है या मार रहा है तो ऐसी स्थिति में जिसे कष्ट दिया जा रहा है—मारा जा रहा है उसे बचाने में जो जीव अपने सुख के लिए उसे कष्ट दे रहा है, मार रहा है उस जीव को आघात लगता है, दुःख होता है। अतः यह हिंसा है।

निराकरण—इस सम्बन्ध में विचारने से ऐसा लगता है कि किसी जीव को कष्ट होना हिंसा नहीं है। जैसे एक डाक्टर पेट का ऑपरेशन करने के लिए किसी रोगी का पेट छुरी से काटता है और एक डाकू धन लूटने के लिए किसी व्यक्ति के पेट में छुरा घोपता है। बाहरी दृष्टि से दोनों घटनायें एक सी हैं, दोनों का काम एक सा है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि में बहुत अन्तर है। डाक्टर द्वारा छुरे से रोगी का पेट चीरना और उससे रोगी को कष्ट होना या मर जाना, हिंसा नहीं कहा जा सकता। कारण कि डॉक्टर की भावना रोगी के हित की होती है और डाकू द्वारा व्यक्ति का पेट चीरना हिंसा है क्योंकि डाकू की भावना व्यक्ति का हित करने की नहीं, अहित करने की है। किसी प्राणी के हित के लिए किया गया कार्य सेवा है, सेवा ही दया व अहिंसा है अतः पेट में छुरा भोंकने का डाक्टर का कार्य हित-कारक होने से अहिंसा व दया है तथा डाकू का कार्य अहितकारक होने से हिंसा व पाप है।

जाता है उसके प्रति राग और मारने वाले व्यक्ति के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष पाप है। अत किसी जीव को बचाने का कार्य पाप है, पाप से बचने मे ही धर्म है।

निराकरण—कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है तो मरते हुए जीव को बचाने मे न तो जिस जीव को बचाया जा रहा है उसके प्रति राग है और न जिससे बचाया जा रहा है उसके प्रति द्वेष है। बल्कि दोनो ही के प्रति हित की भावना है अर्थात् मैत्री-भावना है, वात्सल्य-भाव है। कारण कि राग-द्वेप या कषाय वही होता है जहा विपय-सुख का भोगरूप स्वार्थ-भाव हो। अपने इन्द्रिय-विपय के सुख-भोग के लिए किसी व्यक्ति, वस्तु आदि के प्रति आकर्पण होना राग है और राग की पूर्ति मे वाधा पहुचने मे रोष का उत्पन्न होना द्वेष है। राग-द्वेष, मोह या कपाय की उत्पत्ति भोग की इच्छा व स्वार्थपरता से ही होती है। किसी जीव को वचाने मे राग-द्वेप व हिसा नही होती है। राग तो तब होता है जब जिस जीव को वचाया जा रहा है उससे सुख भोगने की या स्वार्थपूर्ति की लालसा हो और द्वेप तब होता है जब हत्यारे के प्रति अहित की भावना हो। वचाने वाले के हृदय मे किसी प्रकार का स्वार्थ न होने से उसमे राग-द्वेष दोनो ही नही होते, वह तो दोनो ही प्राणियो का हित चाहता है। उसकी भावना किसी को भी कष्ट देने की, आघात पहुचाने की, अहित करने की नही होती है। सभी का भला या हित करने की होती है। उसका सब के प्रति मैत्री-भाव होता है।

यथार्थता तो यह है कि मरते हुए जीव को वचाने वाले के हृदय मे जो उस जीव को मार रहा है उसके प्रति द्वेप नही होता है। यदि उसके प्रति द्वेप होता तो जीव को कोई अन्य व्यक्ति उसे मारे या कष्ट पहुचाये तो उसे वचाने की भावना नही होती, परन्तु दयावान् व्यक्ति उसे भी मरने व कष्ट मे वचाने का पूरा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जिस जीव को वचाया गया है यदि उसके प्रति राग होता तो वह वचाया गया जीव अन्य किसी जीव को मारता है या कष्ट पहुचाता है तो उसकी इच्छा पूरी करने दी जाती,

परन्तु दयावान् व्यक्ति उसे भी हिंसा करने से रोकता है। अतः दयावान् व्यक्ति के हृदय में मारने वाले व मरने वाले प्राणियों के प्रति राग-द्वेष नहीं होता है क्योंकि प्रथम तो वह दोनों से अपना विषय कषायजन्य सुख नहीं चाहता है, दूसरा उसकी दोनों के प्रति हितकारी मैत्री-भावना होती है। इस प्रकार हिंसक को हिंसा करने से बचाने से न तो जिसकी हिंसा की जा रही है उसी का अहित है और न जो हिंसा कर रहा है उसका अहित है और न बचाने वाले का अहित है प्रत्युत सभी का हित है, सभी का भला है, लाभ है, अहित या हानि किसी की भी लेशमात्र भी नहीं है। किसी जीव को हिंसा, झूठ, चोरी, राग, द्वेष, विषय, कषाय आदि दुष्प्रवृत्तियों से, पापों से बचाने में किसी का भी अहित नहीं है। जिसमें सभी का हित है, वह अहिंसा है। उसे हिंसा मानना भयंकर भूल है।

अच्छा समझना और दूसरो के लिए इन्ही कार्यों को बुरा समझना न तो युक्तियुक्त है, न उपयुक्त है, न उचित है, न सत्य है, न सिद्धान्त सम्मत है, मात्र भ्रमजाल है, भ्रान्ति है।

जो लोग किसी जीव को मरने या कष्ट से बचाने मे पाप मानते हैं उनके लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बचाने का फल बचाये गये जीव का बचना है, जीव का यह बचना उनके सिद्धान्तानुसार पाप का फल है। अत: उनके सिद्धान्तानुसार स्वय का बचा रहना, जीवित रहना भी पाप का ही फल मानना होगा। इससे अधिक विडम्बना क्या हो सकती है ? किसी मरते हुए जीव को बचाने को या किसी दु खी के दु ख दूर करने को, दु खी की सहायता या सेवा करने को पाप या त्याज्य कहना मानवता, व्यावहारिकता, बुद्धि, युक्ति आदि सभी से घोर विरुद्ध बात है। ऐसे सिद्धान्त को विचार की कोटि मे स्थान देना ही विचार-जगत् को अपमानित करना है। ऐसे सिद्धान्त पर बात या विचार करना वैसा ही लज्जास्पद है जैसा कि किसी की दी हुई गाली को पुन: अपने मु ह से दोहरा कर अपने वचन व मु ह को गदा करना है। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि जो जीव को वचाने मे, सहायता करने मे पाप मानते है उनके स्वय के बचे रहने का कोई औचित्य नही है। बचे रहने का अधिकार या औचित्य उन्ही का है जो किसी जीव को बचाने को उचित मानते है।

9 **आपत्ति**—दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो मे दूसरो की रक्षा करने का सकल्प होता हे और सकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प होता है। सकल्प-विकल्प कर्म-बन्धन का कारण है। कर्म-बन्ध बुरा व त्याज्य होता है।

निराकरण—उपर्युक्त मान्यता निराधार है क्योंकि वह मान्यता सकल्प और विचार या कामना व भावना का भेद न समझने का परिणाम है। सकल्प उसे कहा जाता है जिससे अपने भोग के सुख पाने रूप फल-प्राप्ति की, स्वार्थपूर्ति की कामना या इच्छा हो और बुद्धि के द्वारा चिन्तन करना विचार या भाव है। विचार या भाव दो प्रकार का है—(1) विभाव-रूप और (2) स्वभाव-रूप।

बुद्धि द्वारा भोग-प्राप्ति का व विषय-कषाय का चिन्तन करना विभाव रूप विचार है जो विकार व संकल्प का पोषक है। इन संकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प पैदा होते हैं। ऐसा संकल्प-विकल्प आर्त्तध्यान है और कर्म-बन्ध का कारण होने से त्याज्य है।

बुद्धि द्वारा अपने हित व कल्याण का विचार या चिन्तन करना 'ज्ञान' है संकल्प नहीं, और अपने हित व कल्याण हेतु दया, दान आदि सद्प्रवृत्ति रूप आचरण करना चारित्र है। ज्ञान-चारित्र से कर्म की निर्जरा होती है, बन्ध नहीं। इन्हें संकल्प-विकल्प मानना अज्ञान है।

दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि भाव स्वभाव रूप हैं। यह नियम है कि स्वभाव में संकल्प नहीं होता, विभाव में ही संकल्प-विकल्प होता है जो आर्त्तध्यान रौद्रध्यान का पोषक है। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भावना तथा अनित्य, अशरण आदि अनुप्रेक्षाएं चिन्तन व तदनुरूप आचरण, संयम व धर्मध्यान है जो कर्म-क्षय का हेतु है।

की ओर बढने से रुका रहा। मुक्ति का बाधक कारण पुण्य-कर्मो का न त्यागना ही है।

निराकरण—जैनागम के अनुसार पाप उसे कहा जाता है जिससे आत्मा का पतन हो, आत्मा अपवित्र हो, आत्मा को असाता का वेदन हो और पुण्य उसे कहा जाता है जिससे आत्मा का उत्थान हो, आत्मा पवित्र हो, आत्मा को साता का वेदन हो, दुःख उपशात हो। जिससे आत्मा पवित्र हो, आत्मा का उत्थान हो, उसे मुक्ति मे बाधक मानना जैनागमो का घोर अपमान व अनादर है। जैन-धर्म व कर्म-सिद्धान्तानुसार पुण्य की वृद्धि से पाप-कर्मों का क्षय होता है। सयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग व अनुकम्पा से पुण्य का उपार्जन नियम से होता है। यदि पुण्य के उपार्जन को मुक्ति मे बाधक माना जाय तो सयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग व अनुकम्पा को हेय मानना होगा। पुण्यकर्म मे मुक्ति पाने के लिए सयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग को त्यागना होगा जबकि सयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग को ही जैनागम मे मुक्ति का साधन कहा है।

अत पुण्य मुक्ति मे बाधक है यह मान्यता जैनागम और कर्म-सिद्धान्त से विपरीत है तथा घोर मिथ्यात्व की पोषक है। कर्म-सिद्धान्तानुसार जब साधक क्षपक-श्रेणी की साधना कर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करता है उसी समय पुण्य के अनुभाग का उत्कृष्ट बन्ध होता है जो मुक्ति-प्राप्ति के पूर्व अन्तिम क्षण तक उत्कृष्ट ही रहता है, उसमे अश मात्र भी कमी नही होती हैं कारण कि सयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग एव वीतराग-भाव से तो पुण्य के अनुभाग का उपार्जन होता है, क्षय होता ही नही है। यह नियम है कि पुण्य-प्रकृतियो के अनुभाग का क्षय सक्लेश भाव रूप पाप-प्रवृत्ति से ही होता है और वीतराग के सक्लेश भाव है ही नही। अत वीतराग के पुण्य-प्रकृतियो के अनुभाग का क्षय नही होता है। रहा पुण्य-प्रकृत्तियो की स्थिति का क्षय, सो पुण्य-प्रकृत्तियो का स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व अघातीकर्म की। पाप-प्रकृत्तियो के स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व से कभी अधिक नही होता है तथा अघातीकर्म की पाप-प्रकृत्तियो की स्थिति के अपवर्त्तन व

क्षय के साथ पुण्य-प्रकृतियों की स्थिति का अपवर्तन व अपकर्षण होता ही रहता है। मुक्ति-प्राप्ति के समय और उससे पहले भी पाप-कर्मों की स्थिति के क्षय के साथ पुण्य-कर्मों की स्थिति का अपवर्तन होता जाता है। स्थिति का क्षय ही कर्म का क्षय है। पुण्य-कर्मों की स्थिति के क्षय के लिए साधक को किसी प्रकार का पुरुषार्थ व प्रयत्न नहीं करना होता है। अतः दया, दान, करुणा, वात्सल्य-भाव आदि सद्प्रवृत्तियों को मुक्ति में बाधक मानना जैनागम व कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध है।

यह सर्वमान्य तथ्य है, आगम-सम्मत सिद्धान्त है कि राग-द्वेष रूप कषाय ही कर्म का बीज है, कर्म के बन्ध का कारण है। राग-द्वेष कषाय मोहनीयकर्म के ही रूप हैं। मोहनीयकर्म की कोई भी प्रकृति पुण्यरूप नहीं है। सभी प्रकृतियां पापरूप ही हैं। देव, गुरु, धर्म के श्रवण-मनन आदि से जो प्रसन्नता होती है वह राग नहीं, प्रमोद है, गुणीजनों को देखकर हृदय में जो प्रेम उमड़ता है वह राग नहीं, मैत्री-भाव व वात्सल्य है।

वीतराग केवलज्ञानी के दान, लाभ आदि को अनन्त कहा है। यह कथन भावात्मक है। परन्तु, इनका प्रवृत्तिपरक क्रियात्मक रूप शरीर, वस्तु, परिस्थिति आदि पर निर्भर करता है, अत सीमित होता है। यह क्रियात्मक रूप, अनुकम्पा, करुणा आदि भावो को पुष्ट करता है, राग को गलाता है। अत प्रवृत्ति साधन रूप है साध्य रूप नही। क्योकि साध्य असीम व अनन्त होता है जबकि प्रवृत्ति का अन्त होता है अत· प्रवृत्ति साध्य न होकर साधन है।

दया, दान, करुणा के क्रियात्मक रूप साधन को साध्य मान लेने पर इन क्रियाओ के प्रति कर्तृत्व-भाव व फल की आशा रूप राग पैदा होता है, जिससे इन सद्प्रवृत्तियो की पूर्ति मे बाधक बनने वाले के प्रति द्वेप एव सहायक बनने वाले के प्रति राग होता है जो साधक को लोकातीत व भावातीत नही होने देता। अत सद्प्रवृत्तिया राग-द्वेप की उत्पत्ति का कारण न बन जाय, साधक को इसके लिए सदैव सजग रहना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तिया पुण्य मुक्ति मे बाधक नही है, बाधक है इनके साथ रहा हुआ राग-द्वेष आदि दोष व पाप।

11. **आपत्ति**—किसी एक क्रिया के दो फल नही हो सकते, इसे सिद्धान्त मान कर कुछ लोग सेवा, परोपकार, दया, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्ति रूप सकारात्मक अहिंसा पर यह आपत्ति करते है कि प्यासे प्राणी को पानी पिलाने, भूखे को भोजन कराने, रोगी की चिकित्सा करने आदि सेवा-कार्यों मे जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय आदि के असख्य-अनन्त जीवो की हिंसा होती है। अतः ये सेवा-कार्य हिंसा है, पाप हैं, अधर्म है, असयम है, कर्मबन्ध के हेतु है और एक कार्य के हिंसा और अहिंसा ये दो विरोधी फल न होने से ये सेवा-कार्य पुण्य, धर्म, सयम व कर्मक्षय के हेतु नही हो सकते।

निराकरण—यहा सर्व प्रथम यह विचार करना है कि एक क्रिया के दो फल नही होते, इस सिद्धान्त मे कितना तथ्य है ?

प्राणी मात्र कोई न कोई क्रिया निरन्तर करता रहता है अत. निरन्तर कर्म का बन्ध होता रहता है। यह कर्मबन्ध पाप व पुण्य

यह नियम है कि कोई भी पूर्ण हिंसक नही हो सकता। अहिंसा की कमी ही हिंसा है, हिंसा का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। अत सर्दी-गर्मी की तरह हिंसा-अहिंसा भी सापेक्ष है। यही कारण है कि पाप के साथ पुण्य का बन्ध सदैव होता रहता है और साथ ही कर्मो की नैसर्गिक (अकाम) निर्जरा भी सदैव होती रहती है। इस प्रकार छद्मस्थ जीव (सरागी) की प्रत्येक क्रिया पाप, पुण्य, बन्ध और निर्जरायुक्त ही होती है। पुण्य, कषाय की मदता या आत्म-विशुद्धि का द्योतक है। कषाय की कमी या मदता रूप आत्म-विशुद्धि धर्म है। अतः प्रत्येक क्रिया के साथ धर्म भी सदैव होता रहता है। वस्तुत धर्म-अधर्म, सर्दी-गर्मी की तरह सापेक्ष है विरोधी नही। धर्म की कमी अधर्म है। अधर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। प्राणी की प्रत्येक क्रिया आशिक हिंसा और आशिक अहिंसायुक्त होती है। अत जितने अशो मे वह अहिंसक है उतने अशो मे धर्म है और जितने अशो मे हिंसक है उतना अधर्म है। वस्तुत पानी पिलाने आदि कार्यो मे जो हिंसा होती है वह अहिंसा की तुलना मे नगण्य है।* अत यह मान्यता कि जहा हिंसा है वहा अहिंसा नही हो सकती यह बात तथ्यहीन है। इसी प्रकार अशुभ-योग और शुभ-योग भी सापेक्ष है, विरोधी नही। दूसरे शब्दो मे पुण्य-पाप भी सापेक्ष है। यही कारण है कि हर क्रिया मे पाप-पुण्य तथा निर्जरा-बन्ध होता रहता है।

यही नही कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण ये दोनो भी सभी प्राणियो मे सदा होते रहते है। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, गुण-दोष सापेक्ष है। इनमे से एक की कमी दूसरे की वृद्धि है और ये सभी ससारी प्राणियो मे न्यूनाधिक रूप से सदैव विद्यमान रहते है।

12 आपत्ति

जीव-जीव सभी समान है, अत किसी भी जीव की हत्या करने मे समान पाप लगता है। इसलिए किसी भी एक जीव की सहायता करने के लिए किसी अन्य जीव की हत्या करना घोर पाप है।

* इसकी पुष्टि हेतु आपत्ति 12 का निराकरण द्रष्टव्य है।

निराकरण

यदि उपर्युक्त तर्क को मान्य किया जाय तो यह मानना होगा कि एक मनुष्य की हत्या करने और एक लट या चीटी व जलकाय के जीव की हत्या की हिंसा का पाप समान होगा। ऐसी स्थिति मे किसी जीव की अन्य किसी प्रकार की सहायता करने की बात तो दूर रही, हम उसे जल भी नही पिला सकते, क्योकि उसे जल पिलाने मे असख्यात मनुष्यो की हत्या के बराबर हिंसा होगी। यदि ऐसा माना जाय तो मनुष्य की हत्या का दण्ड फासी दिया जाता है तो लट, कीट, मक्खी, मच्छर के मारने वाले को भी फासी का दण्ड ही देना होगा। जो व्यक्ति पानी पीता है, उसमे असख्यात अप्काय जीवो की हिंसा होती है, अत उसे असख्यात मनुष्यो की हत्या के रूप मे असख्यात बार फासी लगनी चाहिए जो नितान्त अव्यावहारिक, असैद्धान्तिक, अमानवता, अन्याय, क्रूरता की बात होगी।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य की हत्या करने वाले को नरक का अधिकारी माना जाता है उसी प्रकार पानी पीने वालो अर्थात् अप्काय के असख्यात जीवो की हत्या करने वाले हर जीव को एक बार पानी पीने पर भी नरक मे जाना पडेगा।

सत्य तो यह है कि जो जीव जितना विकसित है उसकी हत्या मे उतना ही अधिक पाप है। यही कारण है कि एक सामान्य व्यक्ति को मारने की अपेक्षा एक राजा, एक राजनेता, एक साधु, एक ब्राह्मण, एक राजा की हत्या मे अधिक पाप माना गया है तथा सागर के अप्काय के समस्त जीवो की हत्या से एक लट (द्वीन्द्रिय) की हत्या मे अधिक पाप कहा गया है, क्योकि वह लट उनसे अनन्तगुणा पुण्यात्मा है। इसलिए मनुष्य को जल पिलाने मे जितना पुण्य होता है, जलकाय के जीवो की हिंसा का पाप उसके समक्ष नगण्य है। इसीलिए ठाणाग सूत्र के नवे ठाणे मे नौ प्रकार का पुण्य कहा है। उसमे पानी पिलाने को भी पुण्य कहा है, पाप नही।

यह नियम है कि जो जीव जितने अधिक विकसित होते हैं, उतने ही अधिक सवेदनशील होते है, अत उन्हे मारने मे उतनी ही अधिक क्रूरता होती है, अर्थात् हिंसा होती है।

द्वितीय खण्ड

(अन्य विद्वानो के सकलित लेख)

दान का महत्त्व

☐ स्व. आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

स्वाध्याय के द्वारा स्व-पर के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रबुद्ध आत्मा को स्व तथा पर के भेद का ज्ञान प्राप्त हो गया, उसकी पौद्‌गलिक माया से ममता स्वत ही कम हो जायेगी। भौतिक सामग्री पर से ममता घटेगी, तभी व्यक्ति के अन्तर्मन मे दान देने की प्रवृत्ति बलवती होगी। ममता घटेगी तभी सेवा की वृत्ति उत्पन्न होगी, क्योकि ये सारी चीजे ममता के घटने से सम्बधित हैं। आलोचना का व्यक्ति के स्वय के जीवन-निर्माण से सम्बन्ध है। दान का सम्बन्ध दूसरे लोगो के साथ, स्वधर्मी बन्धुओ के साथ आता है और इसमे स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण का दृष्टिकोण अधिक होता है। इसका तात्पर्यार्थ यह नही कि दान देते समय दानदाता द्वारा स्व-कल्याण को पूर्णत ठुकरा दिया जाता है। ऐसा नही होता, क्योकि पर-कल्याण के साथ स्व-कल्याण का अविनाभाव सम्बन्ध है। पर-कल्याण की भावना जितनी उत्कट होगी, उतना ही अधिक स्व-कल्याण स्वत हो जायगा। जो स्व-कल्याण से विपरीत होगा वह कार्य व्यावहारिक एव धार्मिक, किसी पक्ष मे स्थान पाने योग्य नही है।

दान की विशेषता

दान की यह विशेषता है कि वह स्व और पर दोनो का कल्याण करता है। दान देने की प्रवृत्ति तभी जाग्रत होगी जबकि मानव के मन मे अपने स्वत्व की, अपने अधिकार की वस्तु पर से ममता हटेगी। ममत्व हटने पर जब उसके अन्तर मे सामने वाले के प्रति प्रमोद बढेगा, प्रीति बढेगी और उसे विश्वास होगा कि इस कार्य मे मेरी सम्पदा का उपयोग करना लाभकारी है, कल्याणकारी है, तभी वह अपनी सम्पदा का दान करेगा।

दान और खेती

किसान अपने घर मे सचित अच्छे बीज के दानो को खेत की मिट्टी मे क्यो फेकता है ? इसीलिये कि उसे यह विश्वास है कि यह बढने-बढाने का रास्ता है। अपने करण को या बीज को बढाने का यही माध्यम है कि उसे खेत मे डाले। जब तक बीज को खेत मे नही डालेगा तब तक वह बढेगा नही। पेट मे डाला हुआ करण तो खत्म हो जायगा, जठराग्नि से जल जायगा किन्तु, खेत मे, भूमि मे डाला हुआ बीज फलेगा-फूलेगा व बढेगा। ठीक यही स्थिति दान की भी है। थोडा सा अतर अवश्य है। बीज को खेत मे फेकने मे किसान अधिक लाभ मानता है, इसलिए फेकता है। पर हमारे धर्म-पक्ष मे दान की इस तरह की स्थिति नही है। दान की प्रवृत्ति मे जो अपने द्रव्य का दान करता है वह केवल इस भावना से ही दान नही कर सके उसको अधिक लाभ होगा, बल्कि उसके साथ यह भा यह परिग्रह दु खदायी है, इससे जितना अधिक रने रखू गा, यह उतना ही अधिक क्लेशवर्द्धक तथा आर्त्त का कारण बनेगा।

दान से महती निर्जरा

स्थानागसूत्र मे श्रावक के जो तीन मनोरथ पहले मनोरथ मे परिग्रह-त्याग को महती निर्जरा बताते हुए उल्लेख किया गया है— "तीहिं ठ महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ त जहा-क बहुअ वा परिग्गह परिच्चइस्सामि, एव सकायसा जागरमाणे समणोवासए महाणिज्जरे भवइ।"

अर्थात् तीन प्रकार के म औ भाता हुआ श्रावक पूर्वोप। कर भवाटवी के बहुत बडे स प्रकार है—'अरे ! वह अधिकाधिक परिग्रह का परित्या

दान गृहस्थ-धर्म का प्रमुख अग एव आभूषण

स्थानाग सूत्र मे जिस प्रकार श्रावक के तीनो मनोरथो का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार साधु के तीन मनोरथो का भी उल्लेख है। गृहस्थ का जीवन व्रत-प्रधान नही, शील-प्रधान और दान-प्रधान है। साधु का जीवन सयम-प्रधान एव तप-प्रधान है। गृहस्थ के जीवन की शील और दान ये विशेषतायें हैं। गृहस्थ यदि शीलवान् नही है तो उसके जीवन की शोभा नही है। जिस प्रकार शीलवान् होना गृहस्थ जीवन का एक आवश्यक अग है, उसी प्रकार अपनी सचित सम्पदा मे से उचित क्षेत्र मे दान देना, अपनी सम्पदा का विनिमय करना और परिग्रह का सत्पात्र मे व्यय करना यह भी गृहस्थ जीवन का एक प्रमुख अग, सुन्दर भूषण और मुख्य कर्त्तव्य है।

दान और त्याग मे अन्तर

त्याग और दान मे बडा अन्तर है। त्याग करते समय त्याग करने वाला व्यक्ति यह नही सोचता कि उसकी उस वस्तु का क्या उपयोग होगा, उसकी उस वस्तु को कौन, किस प्रकार काम मे लेगा। साधुता ग्रहण करते समय हममे से किसी व्यक्ति ने इस बात की फिक्र नही की कि मेरी इस सम्पत्ति का, मेरे इस मकान का कौन उपयोग करेगा। मेरी पूँजी का कौन, किस प्रकार उपयोग करेगा—इस बात की बिना किसी प्रकार की चिन्ता किये निरपेक्ष भाव से अपना सब प्रकार का सम्बन्ध छोडकर अपनी वस्तु से अलग हो जाना, इसका नाम त्याग है। दान मे इस प्रकार की निरपेक्षता नही है। दान के पीछे अपने हित की और सामने वाले के हित की, प्रतिलाभ की भावना होती है। इसी कारण दान के लिए शास्त्रीय भाषा मे प्राय "पडिलाभेमाणे-विहरइ" इस प्रकार का प्रयोग आता है। शास्त्रो मे जहा कही गृहस्थ द्वारा दान दिये जाने का वर्णन आता है तो वहा दान शब्द का नही, अपितु प्रतिलाभ शब्द का ही प्रयोग आता है।

'दान देते हुए विचरु", की बजाय 'प्रतिलाभता हुआ विचरु"'—इस प्रकार का प्रयोग अर्थात् दान के स्थान पर 'प्रतिलाभ' शब्द का प्रयोग किया गया है। दान के लिए प्रतिलाभ शब्द का प्रयोग कर 'दान' का

दान और खेती

किसान अपने घर मे सञ्चित अच्छे बीज के दानो को खेत की मिट्टी मे क्यो फेकता है ? इसीलिये कि उसे यह विश्वास है कि यह बढने-बढाने का रास्ता है। अपने कण को या बीज को बढाने का यही माध्यम है कि उसे खेत मे डाले। जब तक बीज को खेत मे नही डालेगा तब तक वह बढेगा नही। पेट मे डाला हुआ कण तो खत्म हो जायगा, जठराग्नि से जल जायगा किन्तु, खेत मे, भूमि मे डाला हुआ बीज फलेगा-फूलेगा व बढेगा। ठीक यही स्थिति दान की भी है। थोडा सा अतर अवश्य है। बीज को खेत मे फेकने मे किसान अधिक लाभ मानता है, इसलिए फेकता है। पर हमारे धर्म-पक्ष मे दान की इस तरह की स्थिति नही है। दान की प्रवृत्ति मे जो अपने द्रव्य का दान करता है वह केवल इस भावना से ही दान नही करता कि उससे उसको अधिक लाभ होगा, बल्कि उसके साथ यह भावना भी है कि यह परिग्रह दु खदायी है, इससे जितना अधिक स्नेह रखू गा, मोह रखू गा, यह उतना ही अधिक क्लेशवर्द्धक तथा आर्त्त एव रौद्र-ध्यान का कारण बनेगा।

दान से महती निर्जरा

स्थानागसूत्र मे श्रावक के जो तीन मनोरथ बताये गये है, उनमे पहले मनोरथ मे परिग्रह-त्याग को महती निर्जरा का महान् कारण बताते हुए उल्लेख किया गया है— "तीहिं ठाणेहि समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ त जहा-कयाण अह अप्प वा बहुअ वा परिग्गह परिच्चइस्सामि, एव समणसा, सवयसा, सकायसा जागरमाणे समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।"

अर्थात् तीन प्रकार के मनोरथो की मन, वचन और काया से भावना भाता हुआ श्रावक पूर्वोपार्जित कर्मों को बहुत बडी मात्रा मे नष्ट कर भवाटवी के बहुत वडे पथ को पार कर लेता है। वे मनोरथ इस प्रकार है—'अरे ! वह दिन कब होगा, जब मै अल्प अथवा अधिकाधिक परिग्रह का परित्याग कर सकू गा ।'

दान गृहस्थ-धर्म का प्रमुख अग एवं आभूषण

स्थानाग सूत्र मे जिस प्रकार श्रावक के तीनो मनोरथो का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार साधु के तीन मनोरथो का भी उल्लेख है। गृहस्थ का जीवन व्रत-प्रधान नही, शील-प्रधान और दान-प्रधान है। साधु का जीवन सयम-प्रधान एव तप-प्रधान है। गृहस्थ के जीवन की शील और दान ये विशेषतायें है। गृहस्थ यदि शीलवान् नही है तो उसके जीवन की शोभा नही है। जिस प्रकार शीलवान् होना गृहस्थ जीवन का एक आवश्यक अग है, उसी प्रकार अपनी सचित सम्पदा मे से उचित क्षेत्र मे दान देना, अपनी सम्पदा का विनिमय करना और परिग्रह का सत्पात्र मे व्यय करना यह भी गृहस्थ जीवन का एक प्रमुख अग, सुन्दर भूषण और मुख्य कर्त्तव्य है।

दान और त्याग मे अन्तर

त्याग और दान मे बडा अन्तर है। त्याग करते समय त्याग करने वाला व्यक्ति यह नही सोचता कि उसकी उस वस्तु का क्या उपयोग होगा, उसकी उस वस्तु को कौन, किस प्रकार काम मे लेगा। साधुता ग्रहण करते समय हममे से किसी व्यक्ति ने इस बात की फिक्र नही की कि मेरी इस सम्पत्ति का, मेरे इस मकान का कौन उपयोग करेगा। मेरी पूँजी का कौन, किस प्रकार उपयोग करेगा—इस बात की बिना किसी प्रकार की चिन्ता किये निरपेक्ष भाव से अपना सब प्रकार का सम्बन्ध छोडकर अपनी वस्तु से अलग हो जाना, इसका नाम त्याग है। दान मे इस प्रकार की निरपेक्षता नही है। दान के पीछे अपने हित की और सामने वाले के हित की, प्रतिलाभ की भावना होती है। इसी कारण दान के लिए शास्त्रीय भाषा मे प्राय "पडिलाभेमाणे-विहरइ" इस प्रकार का प्रयोग आता है। शास्त्रो मे जहा कही गृहस्थ द्वारा दान दिये जाने का वर्णन आता है तो वहा दान शब्द का नही, अपितु प्रतिलाभ शब्द का ही प्रयोग आता है।

'दान देते हुए विचरु", की बजाय 'प्रतिलाभता हुआ विचरु"—इस प्रकार का प्रयोग अर्थात् दान के स्थान पर 'प्रतिलाभ' शब्द का प्रयोग किया गया है। दान के लिए प्रतिलाभ शब्द का प्रयोग कर 'दान' का

'त्याग' से पृथक्करण किया गया है। दान शब्द सापेक्ष है और त्याग शब्द निरपेक्ष। दान और त्याग का भेद समझने के लिए पहले दान की परिभापा समझ लीजिए। दान की परिभाषा है—

"स्वस्वत्वभावपरिहारपूर्वक परस्वत्वस्वीकरण दानम्।"

अर्थात्—वस्तु पर से अपना स्वामित्व छोडकर पराई सत्ता उत्पन्न करना, उसे दूसरे को समर्पित करना, इसका नाम दान है। जब तक किसी वस्तु पर दाता अपनी नेश्राय (स्वामित्व) की भावना कायम रखे, तव तक वह दान नही होता। प्राय दान का मतलब केवल इतना ही समझा जाता है कि 'देना'। देकर उसने उस वस्तु पर से अपना ममत्व विसर्जित किया हो अथवा न किया हो, इसका विचार नही है। पर वास्तव मे दान का जव आप सही अर्थ सोचेंगे तो आपको मालूम होगा कि दान तव तक दान नही हे जव तक कि उसके ऊपर से अपना ममभाव विसर्जित न हो। दाता को अपनी वस्तु किसी दूसरे को दे देने के पश्चात् उस पर से ममभाव का विसर्जन करना है। ममभाव विसर्जित करके मेरेपन की भावना छोडकर अर्थात् मेरी नेश्राय की यह चीज है, इस तरह के ममभाव को छोडकर अपनी उस वस्तु को योग्य पात्र को दे देना, इसका नाम दान है।

सात्त्विक दान

श्रीकृष्ण ने गीता मे जो दान की परिभापा की है, वह इस प्रकार है—

दातव्यमिति यद्दान, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दान सात्त्विक स्मृतम्॥

श्रीकृष्ण मे पूछा गया कि वस्तुत सात्त्विक दान किसे कहना चाहिए? उन्होने कहा—"दातव्यमिति यद्दान"।

'दान देना चाहिए' करके अगर आपने दान नही दिया, लेकिन 'देना पडेगा' यह समझकर दिया, तो यह दान वस्तुत प्रशसनीय दान की कोटि मे आने वाला नहीं है। प्रशसनीय कक्षा मे आने वाला दान

दान को अहसान नहीं कर्त्तव्य समझिए

प्राचीन महापुरुषो ने और धर्माचार्यों ने दान के बाबत इस चीज को गहराई से सोचा और उन्होने कहा कि यह दान किसी पर अहसान जताने वाला भी न रहे। किसी सस्था को देना, किसी उपयुक्त पात्र को दिया जाना अथवा किसी पडित को दिया जाना, यह उन पर अहसान नही है। फिर क्या है ? कर्त्तव्य है। दान को कर्त्तव्य के रूप मे समझा जाना चाहिए। जब तक कर्त्तव्य रूप मे प्रवृत्ति नही होगी, तब तक दान की उदारता नही रहेगी। उसमे मिठास नही रहेगा, और जब तक किसी मे मिठास पैदा नही होता, तब तक उसमे आनन्द नही आता।

समाज का आप थोडा निरीक्षण करेगे तो मालूम होगा कि किसी गृहस्थ के घर मे कोई विवाह का प्रसग आया, परिवार मे नये प्राणी का जन्म हुआ अथवा और कोई खास खुशी का प्रसग उपस्थित हुआ तो इस प्रकार के आणे-टाणे के अवसरो पर वह गृहस्थ, चाहे उसकी स्थिति अच्छी हो या कमजोर हो, कुछ नही देखकर, कुछ देना चाहिये, इसलिए देता है। इसी प्रकार दान का प्रसग उपस्थित होने पर कर्त्तव्य की भावना से देने का नाम ही दान है।

दान के बढते क्षेत्र

आज के युग मे दान के क्षेत्र बढ गये है, जिनकी पहले आवश्यकता नही समझी जाती थी। आज स्वधर्मी भाई को दान के सविभाग की, विधवाओ को दान के सविभाग की, बच्चो को शिक्षण-दान एव शिक्षण उपकरण दान के सविभाग की, शिक्षण सस्थाओ के दान के सविभाग की आवश्यकताएँ रहती है। पहले के जमाने मे ये नही थी। ये नये विभाग बन गये हैं। पहले शिक्षण-सस्था का काम तो घर मे माताएँ कर लेती थी। पहले जिस तरह से समाज का सगठन था, सगठन के उस ढाचे मे स्वधर्मी भाईयो और विधवाओ को देने का कुछ अवसर ही नही रहता था। अर्थव्यवस्था भी ऐसी ही थी। कुछ समाज-व्यवस्था भी पहले ऐसी ही थी। आज घर की माताए एक तो शिक्षण के वैसे ढॉचे मे ढली हुई नही होती, फिर शिक्षण का रूप भी कुछ भिन्न हो गया है। इसके अतिरिक्त आज घर मे माताओ को इधर-उधर के अन्य अनेक काम मिल गये है, जो पहले नही थे। इसलिये आज की वदलती हुई परिस्थिति मे गृहस्थ-समाज को उसके अनुरूप व्यवस्था भी करनी है। स्थानकवासी समाज, या यो कहे कि सारा ही जैन समाज ऐसा समाज है, जहॉ कई अशो मे धर्म के नाम पर, साधु के नाम पर दान देने सबधी कोई खर्च नही है या खर्च है तो क्या है ? आपको दान किसमे देना होता है ? कही कल्पसूत्र वच रहा है, भगवान् के सपनो की वात हो रही है तो उन अवसरो पर वोलिया लगती है और उनमे कुछ देना होता है। ऐसा देना मूर्तिपूजक समाज मे है, स्थानकवासी समाज मे नही है। स्थानकवासियो के यहा अधिक से अधिक अनुकम्पा-दान, दया-दान या

ज्ञान-दान के क्षेत्र मुख्य है। किसी दुःखी, अपाहिज, असहाय आदि को देना, यह अनुकम्पा-दान है। औषधि-दान भी एक प्रकार से अनुकम्पा दान है।

समाज के कमजोर अंग की सहायता करें

आप गृहस्थ हैं, परिग्रही हैं। अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही श्रावक हैं। श्रावक होने के नाते सदा इस बात का ध्यान रखना आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि आपकी सम्पदा का, आपके द्रव्य का इस प्रकार से उपयोग हो, जिससे समाज का कोई अंग कमजोर न रहे। क्योंकि समाज का कोई अंग कमजोर रहेगा तो पूरा समाज लड़खड़ाता हुआ चलेगा। जैसे आज जगह-जगह अहिंसा-जीवदया का काम होता है, पशु-पक्षी की बलि-निषेध का काम हो रहा है। इस क्षेत्र में काम करने वाले तन, मन, धन से काम करते हैं। करते रहना भी चाहते हैं। पर साधन न हो, सामग्री न हो तो क्या होगा ? उनका काम अटकेगा कि संस्था एवं समाज का काम अटकेगा ? काम करने वाले कमजोर होंगे कि समाज के अंग कमजोर होंगे ? किनका काम अटकेगा ? किसका अंग कमजोर होगा ? जो लोग इधर-उधर दौड़-धूप कर जीव-दया का प्रचार करते हैं, जो कई जीवों को कसाइयों के हाथों में जाने से बचा पाते हैं, जो देव-देवी के स्थानों पर होने वाली बलि से जीवों को बचाते हैं, वे लोग साधनों के अभाव में काम नहीं कर सकेंगे। शरीर का योग तो देने वाले दे रहे हैं, पर जहाँ अर्थ-सहयोग की आवश्यकता है, वहाँ वे स्वयं तो आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण द्रव्य का सहयोग दे नहीं सकते। जिनके पास द्रव्य-सहयोग देने की क्षमता तो है, पर वे शरीर का योग देने में असमर्थ हैं, ऐसी स्थिति में यदि वे द्रव्य का सहयोग भी न दें तो काम बनेगा ? नहीं बनेगा।

दान तीन तरह का है। आज सर्व सेवा संघ ने एक और प्रकार के दान का भी प्रचलन किया है। समय-दान को भी उन्होंने दान की श्रेणी में गिन लिया है। आचार्य विनोबा भावे ने कहा है कि अर्थ-दान देने वाले भी मिल जाते हैं, पर समय का दान देने वाले, समय का भोग देने वाले नहीं मिलते। उनकी दृष्टि में 'जीवनदानी' की एक

श्रेणी और है। जीवन भर के लिए समय देने वाले को जीवन-दानी की श्रेणी मे गिन लिया जाता है।

दान देते समय कार्य देखें किसी का चेहरा नहीं

पर जैन समाज के लोग तो व्यवसायी है इसलिए इस समाज मे जीवनभर का समय देने वाले जीवन-दानी तो नही मिल पायेगे। वे इसी मे सन्तोष कर सकते है कि अर्थ का दान प्रचुर मात्रा मे दे दे। पर कठिनाई यही है कि इसमे भी आज का दाता अनेक बाते देखता है। मुक्तहस्त अथवा खुले मन से दान देने का मानस आज भी नही है। इसमे भी वह सस्ता, महँगा आदि कई बाते देखता है। अगर वह कोई ऋण किसी को देता है तो यह देखेगा कि यह व्यक्ति किससे सबधित है। किस प्रकार का है ? अपने ही मिलने-जुलने वालो का है तो सोचता है कि दे देना चाहिए। जहा तक कर्ज देने का प्रसग है, इस तरह से देखना व्यवहार मे ठीक हो सकता है। पर यही दृष्टि अगर दान मे भी रखकर चले और सोचे कि यह हमारा मिलने-जुलने वाला है इसको दे देना चाहिए, जैसी कि कहावत है—"मुँह देखकर तिलक निकालना", तो यह दृष्टिकोण अगर दान मे भी रहा तो परिणाम सुखद-सुन्दर नही होगे। दाता की मनोवृत्ति मे वस्तुत इस प्रकार के भाव नही होने चाहिए। उसे तो उपयोगिता की दृष्टि से सोचना चाहिए कि वास्तव मे यह क्षेत्र "दातव्यमिति यद्दान" के उपयुक्त है या नही। इस दृष्टि से यदि वह क्षेत्र उपयुक्त है तो चाहे अपरिचित ही क्यो न हो, दान दे देना चाहिए। अगर उसका इस दृष्टि से उपयोग समझ मे नही आवे तो लेने के लिए आया हुआ चाहे अपना कितना ही अनिष्ट क्यो न हो, उसे आप स्पष्ट रूप से यह बात कह सकते हैं कि उस क्षत्र को आप उपयुक्त नही समझते। जो अपना व्यक्तिगत उपकार करने वाला नही है, उसे नही देना और अपना काम करने वाले को ही देना, यह तो दान की श्रेणी मे नही आवेगा। भगवान् ने कहा है "ओ दानदाता ! दान देते समय यह मत देखना क मॉगने वाले का व्यक्तित्व क्या है, बल्कि यह देख कि काम क्या ?" चेहरा मत देखो, काम देखो। काम क्या हो रहा है, यह देखो। उपयोगी है या नही, यह देखो।

आगे गीता मे श्री कृष्ण ने कहा—"देशे काले च पात्रे च" उचित देश, उचित काल और उचित पात्र देखकर जो बिना किसी लगाव के, बिना किसी प्रतिलाभ अथवा चाह के दिया जाता है -'तद्दान सात्त्विक स्मृतम्' दान वही सात्त्विक दान कहलाता है। अपने यहा राजसी, तामसी दान का तो सवाल ही नही है। शादी-विवाह मे आपका लेनदेन होता है। एक के शादी है तो आप वहा क्या देंगे ? पूछेंगे अपने घर मे कि अपने यहा शादी हुई थी, तब उन्होने क्या दिया था ? पाटे पर 21 चढाए थे और पाच अलग दिए थे। तो आप भी उसके शादी हुई तो इतना ही दोगे इतने ही चढाओगे या जो भी आपकी रीति है, उसके अनुसार दोगे। यह क्या है ? यह लेने का देना है या देने का लेना है। आदान-प्रदान है। लाभ-प्रतिलाभ की प्रक्रिया है। ससार के व्यवहार मे लेनदेन चलता हे यह। हजारो के लेने-देने का अवसर आता है पर यह सारा आदान-प्रदान के रूप मे होता है। यह व्यवहार दान है प्रतिदान है। इसकी गिनती धर्मदान, पुण्यदान अथवा अनुकम्पा-दान मे नही की जा सकती। /

धर्म-दान किसे कहते हैं ? जहा ज्ञान की वृद्धि होती हो, वहा दान देना, स्वधर्मी भाई-बहिन दया-धर्म आदि करने वाले हैं, व्रत-नियम करने वाले है, अर्हंत्-निर्ग्रन्थो द्वारा प्ररूपित दया-धर्म के अनुयायी हैं, पर उनकी स्थिति कुछ कमजोर है, उस कमजोर स्थिति से उनको बचाने के लिए उदारता के साथ सहयोग देना, यह धर्मदान है। पीडितो की दशा से द्रवित हो उनकी यथायोग्य सहायता करना, उन्हे दान देना, यह अनुकम्पा-दान है। आत्मा के लिए अनुकम्पादान, धर्म-दान और स्वधर्मी वात्सल्य अर्थात् स्वधर्मी को सहयोग देना, यह तीनो ही लाभकर हैं।

विवेकपूर्वक दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता

हमारे आचार्य गुरुदेव श्री शोभाचन्द्रजी म सा फरमाया करते थे—

दीन को दीजिए होत दयावत, मीत को दीजिए प्रीत वढावे।
सेवक को दीजिए काम करे बहु, सायर को दीजिए आदर पावे ॥

दान में उदारता

□ आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.

जैन-शास्त्रो मे धर्म के चार अग प्रधान कहे गये है। जिनमे से दान-धर्म, धर्म की पहली सीढी है। दान के भेदो मे भी अभय-दान और सुपात्र-दान को ही श्रेष्ठ कहा गया है। सुपात्र-दान वह है, जिसका द्रव्य भी शुद्ध हो, दाता भी शुद्ध हो और पात्र भी शुद्ध हो। इन तीनो का सयोग मिलने पर महान् लाभ होता है।

द्रव्य शुद्ध हो, इस कथन का मतलब वस्तु की श्रेष्ठता नही है, किन्तु इसका तात्पर्य है कि जो द्रव्य अध कर्मादि 16 दोषो से रहित है तथा जो मुनि महात्माओ के तप, सयम का सहायक एव वर्द्धक है, वह द्रव्य शुद्ध होता है। दाता वह शुद्ध है, जो बिना किसी प्रति-फल की इच्छा अथवा स्वार्थ-भावना के, दान देता है तथा जिसके हृदय मे पात्र के प्रति श्रद्धा भक्ति है। पात्र वह शुद्ध है, जो गृह-प्रपच को त्याग कर सयमपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा हो और जो सयम का पालन करने के लिए ही दान ले रहा हो। इन तीनो बातो का एकीकरण होने पर ही श्रावक इस बारहवे व्रत का लाभ पाता है। बारहवे व्रत के पाठानुसार तो व्रत की व्याख्या यहा ही पूर्ण हो जाती है, परन्तु इस व्रत का उद्देश्य केवल मुनि महात्माओ को ही दान देना नही है, किन्तु श्रावक के जीवन को उदार एव विशाल बनाना भी इस व्रत का उद्देश्य है। जीवन-निर्वाह के लिए जो अत्यन्त आवश्यक है उस भोजन मे से भी जब श्रावक दूसरे के लिए विभाग करता है तब दूसरी ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है, जिसमे श्रावक दूसरे का विभाग न करे। दूसरे लोग जिसके अभाव मे दुख पावे और श्रावक उसको अनावश्यक ही भण्डारो के ताले मे बन्द कर रखे यह उचित नही है। श्रावक अपने पास के समस्त पदार्थों मे से दूसरे को भाग देकर पदार्थ पर से अपना ममत्व भी उतार सकता है तथा दूसरे की भलाई भी कर सकता है।

श्रावक होने से पहिले वह व्यक्ति जिन भोग्योपभोग्य पदार्थों मे आसक्त रहता था, ममत्वपूर्वक जिनका सग्रह करता था और जिनके लिए क्लेश, सताप एव महान् अनर्थ करने के लिए उतारू हो जाता था, वही व्यक्ति श्रावक होने के पश्चात् उन्ही पदार्थों को अधिकरण रूप (कर्म बन्ध का कारण) मानता है और उनसे ममत्व घटाता है तथा सचित्त सामग्री से दूसरे को सुख-सुविधा पहुचाता है। इस प्रकार श्रावकत्व स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य की भावना भी बदल जाती है और कार्य भी बदल जाते हैं। उसकी भावना उदार हो जाती है।

आज के बहुत से श्रावक दूसरे का हित करने और दूसरे का दु ख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की दुहाई देने लगते है और आरम्भ, समारम्भ से बचने के नाम पर कृपणता एव अनुदारता का व्यवहार करते है। लेकिन ऐसा करना बडी भूल है। अपने भोग-विलास एव सुख-सुविधा के समय तो आरम्भ, समारम्भ की उपेक्षा करना और दीनो का दु ख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड लेना कैसे उचित हो सकता है ? श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पाचवे उद्देशक मे तु गिया नगरी के श्रावको की ऋद्धि का इस प्रकार वर्णन है—

अड्ढा, दित्ता, विच्छिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णा, बहुधणबहुजायरूवरयया आओगपयोगसम्पउत्ता, विच्छड्डियविपुल-भत्तपाणा, बहुदासीदासगोमहिसगवेलगपभूआ, बहुजणस्स अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा जाव उसियफलिहा अभगदुवारा।

इस पाठ से स्पष्ट है कि तुगिया नगरी के श्रावको के यहा बहुत से दासी-दास एव पशुओ का पालन होता था, बहुत-सा भात, पानी निपजता था और उनकी सहायता से बहुत से लोगो की आजीविका चलती थी। इस कारण उनके यहा अधिक आरम्भ, समारम्भ का होना स्वाभाविक ही है। श्रावक होकर भी उनके यहा अधिक समा-रम्भ होता था। तो क्या वे आरम्भ समारम्भ को नही समझते थे ? क्या आरम्भ-समारम्भ को घटाने विषयक तत्त्व को वे नही मानते थे?

धर्म मे दान सबसे पहला अग है। सूत्रो मे भी जहा किसी ऋद्धि, सम्पदा आदि की प्राप्ति के कारण का प्रश्न किया गया है, वहा यह प्रश्न भी किया गया है कि इस व्यक्ति ने पूर्व जन्म मे क्या दिया था ? व्यवहार मे भी वही व्यक्ति प्रतिष्ठित माना जाता है, जो उदार है। कृपण व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त नही कर सकता, फिर चाहे वह कैसा भी क्यो न हो। उदार व्यक्ति की कीर्ति, उस व्यक्ति के रहने पर भी अमिट रहती है। लोग प्रात काल उन लोगो का स्मरण विशेष रूप से करते हैं जो दान के द्वारा अपनी कीर्ति फैला गये है।

कहा जाता है कि राजा भोज ने एक मक्खी को पैर घिसते देखकर एक कवि से प्रश्न किया कि यह मक्खी क्या कहती है ? भोज के इस प्रश्न के उत्तर मे कवि ने कहा—

देय भोज ! धन धन सुकृतिभिर्नो सचयस्तस्य वै,
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्ति स्थिता।
अस्माक मधु दानभोगरहित, नष्ट चिरात् सचित।
निर्वाणादिति नैजपादयुगल, घर्षन्ति यन् मक्षिका ॥
(चाणक्यनीति, अध्याय 11 वा)

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि "हे राजा भोज ! तुम्हारे पास जो धन है वह सुकृत मे लगा दो, सचय करके न रखो। कर्ण, बलि और विक्रम की विमल कीर्ति इस भूतल पर अब तक भी इसी कारण फैली हुई है कि उन्होने अपने पास का धन सुकृत मे लगाया था। मैंने (शहद की मक्खी ने) अपना मधु द्रव्य न तो किसी को दिया, न स्वय ही खाया। परिणाम यह हुआ कि वह मेरा चिर सचित द्रव्य नष्ट हो गया, यानि लोग लूटकर ले गये। मैं अपनी इस कृपणता के लिए पैर घिसकर पश्चात्ताप करती हू। जो लोग मेरी तरह कृपण रहेगे, उन्हे भी इसी प्रकार पश्चत्ताप करना पडेगा। क्योकि कृपण का धन दान या भोग मे नही लगता, किन्तु व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

धन किसी-न-किसी मार्ग से जाता जरूर है। वह एक जगह स्थिर नही रहता। फिर दान देकर उसका सदुपयोग क्यो न कर लिया जाय? भर्तृहरि ने कहा है—

कभी आकाशीय देवो की ओर आँखे जाती है और कभी सरकार तथा समाज-सेवी सस्थाओ पर। सहायता कार्य चल भी रहे है, परन्तु उक्त अभाव को धकेलने के लिए जब तक प्रकृति का पूरी तरह सहयोग न मिले, तब तक मनुष्य का अभीष्ट पूर्ण होना अशक्य है।

यह तो हुआ जलाभाव का एक पक्ष। दूसरी ओर बिहार, बंगाल एव असम आदि पूर्वांचल के अनेक जन-पद जल-प्रलय से ग्रस्त है, अथवा त्रस्त है। इतना मूसलाधार पानी पडा है कि नदियो ने बाढ के रूप मे वह उग्र रूप धारण कर लिया है कि कुछ कहा नही जा सकता। अनेक गाँव जल-प्रवाह मे बह गए। हजारो मकान ध्वस्त हो गए है, करोडो रुपए की खडी फसल पानी मे डूब कर सड-गल गई है। जान-माल की क्षति भी भयकर हुई है। सैकडो ही मनुष्यो और पशुओ के अस्तित्व तक का पता नही चल पा रहा है कि उनका क्या हुआ ? इसी बीच कुछ भाग्य से बचे हुए लोगो मे व्याधियाँ फूट पडी है। जहाँ भूख की समस्या के हल के लिए अन्न का ही अभाव हो, वहाँ रोगो की चिकित्सा का प्रश्न ही कहाँ शेष रह जाता है। इसका यह अर्थ नही है कि राजतन्त्र कुछ कर नही रहा है तथा समाज-सेवी सस्थाएँ यह सब-कुछ देखते हुए भी आखे बन्द किए बैठी है। परन्तु, सगठनो की कुछ सीमाएँ भी होती है, साथ ही निष्ठा के साथ काम करने की अपेक्षाएँ भी।

वैज्ञानिक दिव्य-दृष्टि के धनी मनीषी महानुभाव भविष्य मे क्या समाधान कर सकेंगे, इन प्रकृति-प्रकोपो का ? यह तो आने वाला भविष्य ही बताएगा। समस्या वर्तमान की है। मैं चाहता हू, चाहता ही नही, तन-मन के कण-कण से अपेक्षा रखता हू कि भारतीय जनता की समग्र कर्म-चेतना पूर्ण निष्ठा के साथ जन-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो। खण्ड दृष्टि मे नही, अखण्ड दृष्टि मे समाधान है। भारत का, भारत के मनीषियो का, भारत के गुरुजनो का, चिरकाल से यह दिव्य-घोष अनुगुंजित होता आ रहा है "एक व्यक्ति का दुःख-सुख उस एक व्यक्ति का ही नही, किन्तु हम सबका है। हर आत्मा सुख-दुःखानुभूति का एक समान केन्द्र है। अतः अपने समान ही सबको समझना धर्म है और कुछ नही। अहिंसा भगवती की उपासना तथा-

कथित दया और करुणा के प्रचलित शब्दो मे ही नही, अपितु उन्हें कार्यान्वित करने मे है। यह समय है कि हम सबके मन की करुणा एक साथ जागृत हो। इसके सम्बन्ध मे आर्हत-परम्परा के एक महा-मनीषी ने कहा था—

'दया धम्मो, दया धम्मो, दया धम्मो, दया-दया''

यदि मनुष्य के मन मे करुणा है, दया है, तो धर्म है, अन्यथा क्रिया-काण्ड आदि के रूप मे यत्र-तत्र एव यद्‌वा-तद्‌वा कुछ भी किया जाता हो, तो वह धर्म नही है। अत धर्म, पथ, जाति, कुल और भौगोलिक भेदो की खण्ड रेखाओ से ऊपर उठकर हम सबको अखण्ड रूप से विपद्‌ग्रस्त प्रजाका मगल-कल्याण करना है। यह हमारा धर्म है, कर्म है और है हमारी मानवता का आदर्श। इसके अभाव मे मनुष्यो और पशुओ मे क्या अन्तर रह जाता है ?

वर्तमान जन-जीवन की स्थिति का तकाजा है कि हमारे धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्सवो पर जो अनर्गल, अर्थहीन धन व्यय हो रहा है, उसका कण-कण बचाकर सूखा और बाढ की दु स्थितियो के दुष्प्रभाव से जन-जीवन को मुक्त करने के लिए अपने प्राप्त साधनो का उपयोग किया जाए। अनेक सहस्र लोगो के रोते हुए, कुछ लोगो का हँसना, नाचना, कूदना एव किन्ही धार्मिक या सामाजिक उत्सवो के रूप मे खुलकर मिष्ठान्न उडाना, पाप नही, तो और क्या है ? यदि समय पर स्थिति को नही सभाला गया, तो शासन-तन्त्र के द्वारा कितना ही बीच-बचाव किया जाए, अभावग्रस्त प्रजा मे लूट-मार, हत्या आदि का दुष्चक्र का प्रसार हुए बिना न रह सकेगा ''बुभु-क्षित किं न करोति पापम्'' हमारी चिरन्तन उक्ति न कभी असत्य हुई है, और न कभी असत्य होगी।

श्रमण भगवान् महावीर ने इसी सम्बन्ध मे कहा था—''आहार-ट्ठिया पाणा'' अर्थात् प्राणी के प्राण आहार पर स्थित हैं और, आप जानते हैं कि प्राणो की रक्षा के लिए प्राणी कुछ भी कर्म-विकर्म-दुष्कर्म कर सकता है। यही हेतु है कि हमारे पूर्वज करुणामूर्ति ऋषियो, मुनियो ने दया-धर्म का उपदेश दिया है—''दया धर्म का मूल

है।" यह सन्त-वाणी शत-प्रतिशत सत्य पर आधारित है। दया, मानवता का अन्तःप्राण है। उसकी यह दिव्य-ध्वनि है कि मानव ! तुम्हे जो-कुछ प्राप्त है, उसका इधर-उधर अपेक्षित दिशा मे प्रथम उपयोग करके तदनन्तर स्वय उपभोग करो। यजुर्वेद का मन्त्र है—**"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः"** अर्थात् त्याग-पूर्वक उपभोग करना चाहिए। तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने कहा था—**"असंविभागी न हु तस्स मोक्खो"** अर्थात् जो अपने आस-पास के साथियो मे अपने प्राप्त साधनो का सविभाग अर्थात् उचित वितरण नही करता है, वह भव-बन्धन से कदापि मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। भगवान् महावीर ने तो इससे आगे वढकर यहाँ तक कहा है—मेरी उपासना से बढकर भी सर्वाधिक मगलमय उपासना अर्थात् धर्म-साधना जन-सेवा है। वही व्यक्ति धन्य है, जो पीडितो की सेवा करता है—

"जे गिलाण पडियरइ से धन्ने।"

कर्म-योगी भगवान् कृष्ण का गीता मे उद्घोष है, कि जो दूसरे जरूरत मन्दो को न खिलाकर स्वयं ही सब-कुछ खा जाते है, वे पापी भोजन नही खाते, अपितु पाप ही खाते हैं—

"भुञ्जते ते त्वघ पापा "

प्रस्तुत प्रसग मे भारतीय इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण स्वर्णिम उदाहरण है, जो स्वार्थ का परित्याग कर परमार्थ रूप पदार्थ का अर्थात् परोपकार का समुद्घोष करते है।

भगवान् महावीर के महान् शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम तापस परम्परा के लगभग 1500 भूखे साधको को अपने योगबल से भोजन कराते है, जबकि शास्त्र मे साधक के द्वारा चमत्कारो का प्रयोग एव प्रदर्शन करना निषिद्ध है। इसका अर्थ है -अन्तत करुणा ही सर्वोपरि धर्म है।

प्राचीन गुर्जर प्रदेश के जावड शाह और पेथड शाह जैसे श्रीमत जैन श्रावको ने अपने धन तथा अन्न के विशाल भडार मुक्तभाव से दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता के हितार्थ अर्पित कर दिए थे और ऐश्वर्य के

सुमेरु से नीचे उतर कर खुली धरती पर आ गए थे। फिर भी उनके इस पुण्य-प्रयोग से अन्तर्मन से आनन्द की कोई सीमा न थी।

भारतीय इतिहास मे राजा रतिदेव देवात्मा पुरुप है। दुर्भिक्ष के समय क्षुधा से पीडित उन्हे अनेक सप्ताहो के अनन्तर कुछ भोजन मिलता है और वे उस भोजन को दयार्द्र भाव से चाण्डाल जैसे अन्य बुभुक्षितो को सहर्प अर्पण कर देते है। उस समय का उनका यह अमृत स्वरूप अन्न-दान आज भी जीवन्त है। उन्होने तव सहर्प कहा था—

"न त्वह कामये राज्य, न स्वर्गं, न पुनर्भवम्।
कामये दु खतप्ताना, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥"

भावार्थ है— न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग, न मोक्ष। मैं एकमात्र प्राणियो की पीडा को दूर करने की ही कामना करता हू।

धर्म पुत्र युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ है। उसमे अर्ध स्वर्ण कान्ति वाला शरीर लिए एक नकुल आता है। वह शरीर की इस स्वर्ण कान्ति का रहस्य निर्दिष्ट करता है—"कई दिनो से भूखे एक ब्राह्मण परिवार को कुछ भोजन मिलता है और वह समग्र परिवार करुणा से द्रवित होकर अन्य क्षुधाक्रान्त लोगो को वह अपना समग्र भोजन सहर्ष अर्पित कर देता है। उस पुण्य गृह मे भ्रमण करने से ही मेरा अर्ध शरीर स्वर्ण कान्ति से युक्त हुआ है।" सक्षेपत उल्लिखित उक्त कथा का सार यही है कि अभावग्रस्तो की प्राणपण से सेवा करना ही महान् पुण्य है और महान् धर्म है।

साधना के पथ पर निरन्तर अग्रसर रहने वाले सन्तो ने कहा है कि भूख से अधिक भयकर दुसरी पीडा कोई नही हैं। जैनाचार्यों की वाणी है—"खुहासमा वेयणा नत्थि।"

सन्त कवीर ने भी क्षुधा को भजन मे भग डालने वाली कुतिया वताया—

"कवीरा खुदाह कूकरी, करत भजन मे भग"

साक्षियो की कोई सीमा नही है। सवसे महान् एव प्रामाणिक साक्षी तो क्षुधा के सम्बन्ध मे मनुष्य की अपनी अनुभूति ही है। अत. आवश्यक है कि हम वर्तमान मे बाढ तथा सूखा-ग्रस्त अपने वन्धुओ की वेदना को समझे और उसके निवारण के लिए अपनी पूरी निष्ठा के साथ अपनी जन-धन की शक्ति का सदुपयोग करे, ताकि भविष्य का इतिहासकार यह न रेखाकित कर सके कि परमोत्कृष्ट उदात्त भारतीय-सस्कृति के उत्तराधिकारी भारतवासी जन अपने क्षुद्र स्वार्थों मे ही लिप्त रहे, अपने संकट-ग्रस्त बन्धुजनो के हितार्थ कुछ भी नही कर सके। सावधान ! समय पर कर्त्तव्यहीनता एक महान् पाप है, एक भयकर मृत्यु है। प्राचीनकाल से यशस्वी जनो का यो ही प्रमाद-वश तथा स्वार्थान्धता के कारण अयशस्वो हो जाना, मृत्यु से भी बढ कर है। श्रीकृष्ण ठीक ही कहते है—

"सभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।" (भगवद्गीता 2 34)

अधिक विस्तार मे कहाँ तक जाऊँ ? प्रसगोचित, जो कहना था, वह काफी कह दिया गया है। बुद्धिमान पाठको को मालूम होना चाहिए मै वृद्धावस्था मे हू और साथ ही अस्वस्थता की स्थिति मे भी। अत. यह प्रस्तुत लेख काष्ठ शय्या (तखत) पर लेटे हुए लिखा रहा हू। इस पर से समझा जा सकता है कि मेरे हृदय को पीडा किस सीमा तक है। अत अन्त मे मेरा यही विनम्र भाव से कहना है कि यह दु खद समय आपकी मानवता की परीक्षा का समय है। आपके धर्म और दर्शनो की यथार्थता के प्रति एक स्पष्ट चुनौती है। मनुष्य का साम्प्रदायिक रूप से कोई भी धर्म हो सकता है, किन्तु मूल धर्म मानवता है और वह है उदात्त एव उदार जन-कल्याण रूप भावना की ज्योति मे प्रकाशमान सेवा-धर्म। प्राकृत वाड्मय की इस समुज्ज्वल सूक्ति को बराबर स्मृति मे रखिए—

"सेवापहाणो हि मणुस्सधम्मो"

—मनुष्य का धर्म सेवा प्रधान है। □

2

जैन-संस्कृति में सेवा-भाव

☐ स्व उपाध्याय श्री अमरमुनि

जैन-सस्कृति की आधार-शिला प्रधानतया निवृत्ति है। अत उसमे त्याग, वैराग्य, तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक बल दिया गया हे, उतना और किसी नियम-विशेष पर नही। परन्तु जैन-धर्म की निवृत्ति, साधक को जन-सेवा की ओर अधिक से अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन-धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे की सेवा करें, सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता तथा शक्ति हो उसी के अनुसार दूसरो के काम आए। जैन-धर्म मे जीवात्मा का लक्षण[1] ही सामाजिक माना गया है, वैयक्तिक नही। प्रत्येक सासारिक प्राणी अपने सीमित व्यक्ति-रूप मे अपूर्ण है, उसकी पूर्णता आस-पास के समाज मे और सघ मे निहित है। यही कारण है कि जैन-सस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रनि भी है। ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यो को जैन साहित्य मे धर्म[2] का रूप दिया गया हे। भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनो मे ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म को वहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होने आध्यात्मिक साधना-प्रधान जैन-धर्म की साधना का स्थान ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म के बाद ही रखा है, पहले नही। एक सभ्य नागरिक एव राष्ट्र-भक्त ही सच्चा जैन हो सकता है, दूसरा नही। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते, यह कैसे कहा जा सकता है कि—"जैन-धर्म एकात निवृत्ति प्रधान है अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है, इह-लोक नहीं।" जैन-धर्म उधार-धर्म नही है, अपितु नकद धर्म है। वह इस लोक और परलोक दोनो को ही शानदार वनाने की सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

जैन-गृहस्थ जब प्रात उठता है, तो वह तीन चीजो[3] का चिन्तन करता है। उनमे सवसे पहला सकल्प यही है कि "मैं

अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूँगा ? वह दिन धन्य होगा, जब मेरे सग्रह का उपयोग जन-हित के लिए होगा, दीन-दु खियो के लिए होगा।" भगवान् महावीर का यह आघोष हमारी निद्रा भंग करने के लिए पर्याप्त है कि—'असविभागी न हु तस्स मुक्खो।'[4] अर्थात्—'मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने सग्रह के उपभोग का अधिकारी अपने आप को ही न समझे, प्रत्युत अपने आस-पास के साथियो को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधनो का स्वय ही उपयोग करता है, उसमे से दूसरो की सेवा के लिए वह कुछ भी अर्पण नही करता है तो, वह अपने बन्धनो को तोडकर कभी भी मोक्ष प्राप्त नही कर सकता।'

जैन-धर्म मे माने गए मूल आठ कर्मो मे मोहनीय-कर्म का स्थान बडा ही भयकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोहनीय-कर्म के द्वारा होता है, उतना और किसी भी कर्म से नही। मोहनीय कर्म के सबसे अन्तिम उग्ररूप को महा मोहनीय कहते है। उसके तीस भेदो मे से पच्चीसवाँ भेद[5] यह है कि—'यदि आपका साथी बीमार है या किसी घोर सकट मे पडा हुआ है, और आप उसकी सहायता या सेवा करने मे समर्थ है, फिर भी यदि आप सेवा न करे और यह विचार करे कि इसने कभी मेरा काम तो किया नही, मै ही इसका काम क्यो करूँ ? कष्ट पाता है, तो पाए अपनी बला से, मुझे क्या लेना देना ? भगवान् महावीर ने अपने चम्पापुरी के धर्म-प्रवचन मे स्पष्टरूपेण इस सम्बन्ध मे कहा है कि—'जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन होता है, वह धर्म से सर्वथा पतित होता है। उक्त पाप के कारण वह सत्तर कोटा-कोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र मे उलझा रहता है, सत्य के प्रति अभिमुख नही होता।'

गृहस्थ ही नही, साधु वर्ग को भी सेवा-धर्म का बडी कठोरता से पालन करना होता है। भगवान् महावीर ने कहा है—'यदि कोई साधु अपने बीमार या सकटापन्न साथी को छोड़कर तपश्चरण करने जाता है, शास्त्र-चिंतन मे सलग्न हो जाता है, तो वह अपराधी है, सघ मे रहने योग्य नही है। उसे एक-सौ बीस उपवासो का प्रायश्चित लेना पड़ेगा, अन्यथा उसकी शुद्धि नही हो सकती।' इतना ही नही, एक

गाव मे कोई साधु बीमार पडा हो और दूसरा साधु जानता हुआ भी गॉव से बाहर ही बाहर एक गाँव से दूसरे गॉव चला जाए, रोगी की सेवा के लिए गाँव मे न आए, तो वह भी महान् पाप है[6] उग्रदड का अधिकारी है। भगवान् महावीर का कहना है—'सेवा स्वय एक बडा भारी तप है।'[7] अत जब भी कभी सेवा करने का पवित्र अवसर मिले, तो उसे छोडना नही चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिए सदा आर्तों की, दीन-दु खियो की, पतितो एव दलितो की खोज मे रहता है।[8]

स्थानाग-सूत्र मे भगवान् महावीर की आठ महाशिक्षाएँ बडी ही प्रसिद्ध है। उनमे पॉचवी शिक्षा यह है—'असगिहीय परिजणस्स सगिण्हयाए अब्भुट्ठे यव्व भावह'[9] अर्थात्, जो अनाश्रित है, निराधार है, कही भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नही पा रहा है, उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो उसकी जीवन-यात्रा के लिए यथोचित प्रबन्ध करो।' जैन-गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ रहता है।[10] वहां किसी जाति, कुल, देश या धर्म के भेद के बिना मानव-मात्र के लिए समान आदर-भाव है, आश्रयस्थान है।

एक बात और भी बडे महत्त्व की है। भगवान् महावीर ने सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन-धर्म मे सबसे बडा और ऊँचा पद तीर्थंकर का माना गया है। तीर्थंकर होने का अर्थ यह है कि वह साधक समाज का पूजनीय महापुरुष, देवाधिदेव बन जाता है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान महावीर दोनो तीर्थंकर हैं। भगवान् ने अपने जीवन के अतिम प्रवचन मे सेवा का महत्त्व बताते हुए कहा है कि—'वेयावच्चेण तित्थयरनाम-गोत्त कम्म निबन्धइ।'[11] अर्थात्—'वैय्यावृत्य करने से, सेवा करने से, तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।' साधारण जन-समाज मे सेवा का आकर्षण पैदा करने के सिए भगवान् महावीर का यह उदात्त प्रवचन कितना महनीय है ?

आचार्य कमल-सयम ने भगवान् महावीर और गौतम का एक बहुत सुन्दर सवाद हमारे सामने प्रस्तुत किया है। सवाद मे भगवान् महावीर ने दु खितो की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक

महत्त्व दिया है। सवाद का विस्तृत एव स्पष्ट रूपक इस प्रकार है—

"श्री इन्द्रभूति गौतम ने—जो भगवान् महावीर के सबसे बड़े गणधर थे, भगवान् से पूछा—"भगवन्! एक भक्त दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-अर्चना करता है। फलत उसे दूसरे दु खियो की सेवा के लिए अवकाश नही मिल पाता। दूसरा सज्जन दीन-दु खियो की सेवा करता रहता है, सहायता करता है, जन-सेवा मे स्वय को घुला-मिला देता है, जन-जीवन पर दया का वर्षण करता है। फलत उसे आपकी सेवा के लिए अवकाश नही मिल पाता। भन्ते! दोनो मे से आपकी ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है और दोनो मे से श्रेष्ठ कौन है ?"

भगवान् महावीर ने बडे रहस्य भरे स्वर मे उत्तर दिया—"गौतम! जो दीन दु खियो की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, वही मेरे धन्यवाद का पात्र है और वही मेरा सच्चा पुजारी है।"[12] गौतम विचार मे पड गए कि यह क्या ? भगवान् की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मों से दु खित पापात्माओ की सेवा का क्या महत्त्व ? धन्यवाद तो भगवान् के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासा भरे स्वर से पूछा—"भन्ते ! बात कुछ गले नही उतरी। दु खियो की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का महत्त्व अधिक होना चाहिए। कहाँ तीन लोक के नाथ—पवित्रात्मा आप और कहाँ ससार के वे पामर प्राणी अपने ही कृत-कर्मों का फल भोग रहे है।"

भगवान् ने उत्तर दिया—"गौतम! मेरी सेवा, मेरी आज्ञा के पालन करने मे ही तो है। उसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नही है। मेरी सबसे बडी आज्ञा यही है कि पीडित जन-समाज की सेवा की जाए, उसे सुख शान्ति पहुँचाई जाए। प्राणी मात्र पर दया-भाव रखा जाए। अत. दु खियो की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है। गौतम! इसलिए मैं कहता हूं कि दु खियो की सेवा करने वाला ही धन्य है श्रेष्ठ है, मेरी निजी सेवा करने वाला नही। मेरा निजी सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह मे अधिक उलझा हुआ है।"

यह भव्य आदर्श है—नर-सेवा मे नारायण-सेवा का, जन-सेवा मे जिन (भगवान्) सेवा का। जैन सस्कृति के अतिम प्रकाशमान सूर्य भगवान् महावीर है, उनका यह प्रवचन सेवा के महत्त्व के लिए सबसे वडा ज्वलन्त प्रमाण है।

भगवान् महावीर दीक्षित होना चाहते हैं, किन्तु अपनी सपत्ति का गरीव प्रजा के हित के लिए दान करते हैं और एक वर्ष तक मुनि-दीक्षा लेने के विचार को लम्बा कर देते हैं। एक वर्ष मे अरवो की सम्पत्ति जन-सेवा के लिए अर्पित करना अपना प्रथम कर्तव्य समझते है और मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति करने से पहले उसकी भौतिक उन्नति मे सलग्न रहते है।[13] दीक्षा लेने के पश्चात् भी उनके हृदय मे दया का असीम पारावार तरगित रहता है, फलस्वरूप वे एक गरीव ब्राह्मण के दु ख से दयार्द्र हो उठते हैं और उसको अपना एक-मात्र वस्त्र भी दे देते है।[14]

जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त भी सेवा के क्षेत्र मे पीछे नही रहे हैं। उनके प्रजाहित के कार्य सर्वत सुप्रसिद्ध है। सम्राट् सम्प्रति की सेवा भी कुछ कम नही है। जैन-इतिहास का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है कि सम्राट् के हृदय मे जन-सेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई थी और किस प्रकार उन्होने उसे कार्य-रूप मे परिणत कर जैन सस्कृति के गौरव को अक्षुण्ण वनाए रखा। महाराजा कलिग-चक्रवर्ती खारवेल और गुर्जरनरेश कुमारपाल भी सेवा के क्षेत्र मे जैन-सस्कृति की मर्यादा को वरावर सुरक्षित रखते हैं। मध्य काल मे जगडूशाह, पेथड और भामाशाह जैसे-कुवेर भी जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते हैं।

जैन-समाज ने जन-समाज की सेवा की है। इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिए और केवल गुजरात, मारवाड, मेवाड या कर्नाटक आदि प्रान्तो का एक वार भ्रमण कर जाइए, इधर-उधर खण्डहरो के रूप मे पडे हुए ईंट-पत्थरो पर नजर डालिए, पहाडो की चट्टानो पर के शिलालेख पढिये, जहाँ-तहाँ देहात मे फैले हुए जन-प्रवाद सुनिए—आपको मालूम हो जाएगा कि जैन-सस्कृति

क्या है ? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है ? जहाँ तक मैं समझ पाया हू, सस्कृति व्यक्ति की नही होती, समाज की होती है, और समाज की सस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-से-अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो, उसमे द्वेष नही, प्रेम हो, द्वैत नही, अद्वैत हो, एक रग-ढग हो, एक रहन-सहन हो, एक परिवार हो। सस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन-सस्कृति मे पूर्णतया घटित हो रहा है। इसके लिए जैन-धर्म का गौरव-पूर्ण उज्ज्वल अतीत पूर्ण-रूपेण साक्षी है।

मै आशा करता हू, आज का पिछडा जैन-समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा और भारत की वर्तमान विकट परिस्थिति मे विना किसी जाति, धर्म, कुल या देश के भेदभाव के दरिद्र-नारायण की सेवा मे अग्रगामी बनेगा और जन-सेवा को ही भगवान् की सच्ची उपासना समझेगा।

सन्दर्भ

1 परस्परोपग्रहो जीवानाम्। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र 5 21

2. स्थानाग सूत्र—दशम-स्थान

3. स्थानाग सूत्र—3 4.21

4 दशवैकालिक सूत्र—4 2 23

5 दशाश्रुतस्कन्ध —नवमदशा

6 निशीयसूत्र—उद्दे 4

7 उत्तराध्ययन—तपोमार्ग अध्ययन

8 औपपातिक सूत्र—पीठिका

9 स्थानाग सूत्र—8 91

10 भगवती सूत्र—श 2, उ 4

11 उत्तराध्ययन सूत्र– 29 43

12 उत्तराध्ययन, कमलसयमकृत टीका, परीषह अध्ययन

13. आचाराग—महावीर-जीवन

14 महावीर-चरित्र—आचार्य हेमचन्द्र कृत □

धर्म में दान को प्रथम स्थान क्यों ?

□ स्व उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी

'धर्मस्य त्वरिता गति, चत्वार पादा'
धर्म की गति तीव्र है, उसके चार चरण हैं।

नीतिकार तो इतनी-सी बात कहकर रह गए, अथवा ऊपर-ऊपर ही तैरते रह गए। मगर इसके तत्त्व की तह तक नही पहुँच सके। वास्तव मे धर्म के चार चरण हैं--दान, शील, तप और भाव,[1] इनके सहारे से धर्म अभीष्ट लक्ष्य की ओर त्वरित गति कर सकता है।

यद्यपि धर्म के[2] चारो चरण महत्त्वपूर्ण हैं, धर्मरथ को चलाने के लिए इन चारो की समय-समय पर जरूरत पडती है। किन्तु दान न हो तो शेष तीनो अगो से काम नही चल सकता। दान के अभाव मे शेष तीनो चरणो से नम्रता और उदारता सक्रिय रूप नही ले सकती। दान मानव-जीवन मे स्वार्थ, लोभ, तृष्णा और लालसा का त्याग कराता है, मानव हृदय को वह करुणा, परोपकार और परसुख-वृद्धि मे सहायता के लिए प्रेरित करता है। जैसे खेती करने से पहले किसान खेत की धरती पर उगे हुए कटीले झाड-झखाडो, काटो, ककड-पत्थरो फालतू घास आदि को उखाड कर उस धरती को साफ, समतल और नरम बना लेता है, तभी उसमे बोये हुए बीज अनाज की सुन्दर फसल दे सकते हैं। वैसे ही मानव की हृदय-भूमि पर उगे हुए तृष्णारूपी घास, लालसा, स्वार्थ और अहता रूपी काटो, कटीले झाड-झखाडो एव ककर-पत्थरो को उखाड कर उसे नम्र एव समरस बनाने के लिए दान की प्रक्रिया की जरूरत है, जिससे अन्य शील, तप आदि साधनाएँ भलीभाति हो सकें, धर्म भावो की फसल तैयार हो सके। निष्कर्ष यह है कि हृदयभूमि को नम्र व समरस बनाकर बोये हुए दानबीज से धर्म की उत्तम फसल तैयार होती है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो धर्म के चार चरणो मे सबमे महत्त्व-

पूर्ण और आवश्यक चरण दान है। वही शेप तीनो चरणो मे तीव्र गति पैदा कर सकता है।

धर्म के चार अगो में दान प्रथम क्यो ?

मोक्षमार्ग के चार प्रकार बताये गये है जिन्हे हम धर्म के चार अग कह सकते है, उनमे दान को प्राथमिकता दी गई है। प्रश्न यह होता है कि इन चारो मे से शील, तप या भाव को पहला स्थान न देकर दान को ही पहला स्थान क्यो दिया गया है ? इसके पीछे भी कुछ-न-कुछ रहस्य है, जिसे प्रत्येक मानव को समझना अनिवार्य है।

दान को प्राथमिकता देने के पीछे रहस्य यह है कि शील, तप या भाव के आचरण का लाभ तो उसके आचरणकर्त्ता को ही मिलता है, अर्थात् जो व्यक्ति शील का पालन करेगा, उसे ही प्रत्यक्ष लाभ मिलेगा, इसी प्रकार तप और भाव का प्रत्यक्ष फल भी उसके कर्त्ता को ही मिलेगा, जबकि दान का फल लेने वाले और देने वाले दोनो को प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। यद्यपि शील, तप और भाव का फल परोक्ष रूप से कुटुम्ब या समाज को भी मिलता है, किन्तु प्रत्यक्ष फल इन्हे नही मिलता। जबकि दान देने से लेने वाले की क्षुधा शान्त होती है, पिपासा बुझ जाती है, उसकी अन्य आवश्यकताओ या इच्छाओ की पूर्ति होती है, उसके दु ख का निवारण होकर सुख मे प्रत्यक्ष वृद्धि होती है और देने वाले को भी आनन्द, सन्तोष, औदार्य, सम्मान एव गौरव प्राप्त होता है। यदि दान लेने वाले को कोई लाभ न होता तो वह उसे लेता ही क्यो ? इसी प्रकार दान देने वाले को भी प्रत्यक्ष कोई लाभ न होता तो वह भी देता ही क्यो ? दान का लाभ दाता और सगृहीता दोनो को साक्षात् प्राप्त होता है। कभी-कभी दान का प्रत्यक्ष लाभ समाज को या अमुक पीडित, शोषित या अभावग्रस्त मानव को भी मिलता है। इसी कारण दान को धर्म के चार अगो मे या मोक्ष के चतुर्विध मार्ग मे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

दूसरी बात यह है कि शील का पालन या तप का आचरण कभी-कभी प्रत्यक्ष दिखाई नही देता, आम जनता सहसा नही जान पाती कि अमुक व्यक्ति ने तप किया है या अमुक आभ्यन्तर तप करता है,

तथा अमुक व्यक्ति शील का पालन करता है या उसने कुशील का सर्वथा त्याग कर दिया है। जबकि दान का आचरण सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। तप और शील कदाचित् सक्रिय नही भी होते, जबकि दान सदा सक्रिय होता है और भाव तो सदा ही परोक्ष, अज्ञात और निष्क्रिय रहता है। भाव का प्रत्यक्ष दर्शन तो सिवाय मन पर्यायज्ञानी या केवल ज्ञानी के और किसी को हो नही सकता। इस कारण भी दान को सबसे पहला स्थान दिया गया है।

तीसरा कारण यह है कि मनुष्य जब से इस दुनिया मे आँखें खोलता है, तब से आँखें मूदने तक यानी मनुष्य-जीवन प्राप्त होने से मृत्युपर्यन्त दान की प्रक्रिया जीवन मे चल सकती है, व्यक्ति दान दे सकता है, ले सकता है, जबकि शील, तप या भाव की प्रक्रिया इतनी लम्बी, दीर्घकाल तक या जन्म से लेकर मृत्यु तक नही चलती। शील की प्रक्रिया ज्यादा-से-ज्यादा चलती है तो समझदारी प्राप्त होने से लेकर देहान्त तक चल सकती है जबकि दान की प्रक्रिया तो व्यक्ति के मरणोपरान्त भी उसके नाम से पीढी-दर-पीढी तक चलती रहती है। तपश्चर्या की प्रक्रिया भी ज्यादा-से-ज्यादा समझदारी प्राप्त होने से देहावसान तक चलती है, वह भी प्रतिदिन नही चलती और शरीर मे रोग, मानसिक चिन्ता या शोक हो तो तप की प्रक्रिया ठप्प हो जाती है। दान का आचरण तो रोग, व्याधि, बुढापा, शोक आदि के होते हुए भी होता रहता है और भावो की प्रक्रिया भी समझदारी पक्की समझ प्राप्त होने से जीवनपर्यन्त चल सकती है, लेकिन बीच-बीच मे रोग, चिन्ता या लोभादि अन्य कारण आ पडने पर उसकी धारा टूट भी जाती है। इसलिए दीर्घकाल तक, जिन्दगी भर और कभी-कभी कई पीढियो तक दान की धारा ही अखण्डरूप से बह सकती है, इस दृष्टि से भी दान को सर्वाधिक उपयोगी समझकर प्राथमिकता दी गई है।

चौथा कारण यह है कि बालको मे या पारिवारिक व सामाजिक जीवन मे उदारता, नम्रता, परदु खकातरता, सेवा, सहानुभूति एव सहृदयता के सस्कार दान से ही जग सकते है, दान के आचरण से ही बालको मे उदारता आदि के सुसस्कार बद्धमूल हो सकते है। परिवार

एव समाज मे भी दूर तक दानाचरण के पवित्र परमाणु अपना प्रभाव डालते हैं। सारे वायुमण्डल को दान का आचरण स्वच्छ बना देता है, जबकि तप, शील या भाव के सस्कार सहसा नही पडते, न ही छोटे बच्चे उन सस्कारो को ग्रहण कर सकते है। दान के आचरण से या बालक के हाथ से स्वय दान कराने से उसमे बहुत ही शीघ्र उदारता, सहानुभूति आदि के सस्कार जड जमा लेते है। यही कारण है कि तप, शील या भाव को प्राथमिकता न देकर इन चारो मे दान को प्राथमिकता दी गई।

पाँचवाँ कारण दान को प्राथमिकता देने का यह है कि दान से समाज को सहयोग मिलता है, समाज पर दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ, सूखा, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप आ पडने पर दान से ही उस आपत्ति का निवारण हो सकता है, वह सकट मिट सकता है, जबकि तप, शील या भ.व से समाज को ऐसे प्राकृतिक दु ख निवारण मे प्रत्यक्ष मे उतना सहयोग या सहारा नही मिलता। समाज के अनाथ, अपाहिज, दीन-दु खी या अभावग्रस्त व्यक्ति को दान से ही तुरन्त सहारा मिल सकता है, उसका सकट मिटाया जा सकता है। इसलिए दान को ही पहला स्थान दिया जाना उचित है।

छठा कारण दान को प्रथम स्थान मिलने का यह प्रतीत होता है कि समाज मे व्याप्त विपमता, अभाव, शोषण या असमानता को मिटाने के लिए दान का होना अनिवार्य है। धनिको के धन का, यदि समाज मे व्याप्त विपमता को कुछ अश तक कम करने के लिए दान के रूप मे व्यय होता जाय अथवा समाज की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे उनकी धनराशि व्यय होती रहे, जैसे कि औषधालय, विद्यालय, अनाथालय आदि सस्थाओ को दिया जाता रहे तो समाज मे व्याप्त असतोप और प्रतिक्रिया दूर हो सकती है। समाज मे सुव्यवस्था और सुख-शान्ति व्याप्त हो सकती है। इसी ष्टिकोण से दान जितना समाज के लिए लाभदायक, सुख-शान्तिक एव विपमतानाशक हो सकता है, उतने अन्य साधन नही। दान को उत्कृष्ट मानकर प्रथम स्थान दिया गया है। श्रमण न् महावीर ने इसी दृष्टि से गृहस्थ साधको के लिए अतिथि

सविभागव्रत निश्चित किया है, ताकि गृहस्थ अपनी आय एव साधनो मे से यथोचित सविभाग उत्कृष्ट साधको, सेवाव्रती सस्थाओ एव अभावग्रस्त व्यक्तियो के लिए करे।

एक और कारण है, दान को प्राथमिकता देने का, वह यह है कि गृहस्थ के जीवन मे कूटने, पीसने, पकाने, पानी के घडो को भरने तथा सफाई करने आदि मे अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ होते रहते है, अत इनके जरिये घर मे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्र एव अतिथि आदि को देने पर पुण्य तथा नि स्वार्थ व उत्कट भावना से योग्य पात्र को देने पर धर्म का लाभ हो सकता है। इस दृष्टि से गृहस्थ के लिए दान अनिवार्य तथा प्रतिदिन की शुद्धि का कारण होने से उसे महाधर्म भी कहा है। पद्मनन्दि पर्चविशतिका मे स्पष्ट कहा गया है—

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जे,
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि।
उच्चै फल विदधतीह यथैकदाऽपि,
प्रीत्या तिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम्॥ 2 13॥

अर्थात् लोक मे अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्र के लिए दिया गया दान जैसे उन्नत फल को देता है, वैसा फल घर की अनेक झझटो से उत्पन्न हुए पापसमूहो के द्वारा कुबडे यानी शक्तिहीन किये हुए गृहस्थ के व्रत नही देते।

इस विषय मे आचार्यों ने और अधिक स्पष्टीकरण किया है—प्रश्न उठाया गया है कि[3] दानादि ही श्रावको (गृहस्थो) का परमधर्म कैसे है ? इसका उत्तर दिया है—"ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के अधीन हैं, इस कारण इनके आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए निश्चयरत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके ठिकाना ही नही है, यानी अवकाश ही नही है।"

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ के द्वारा हुए आरम्भजनित पापो की शुद्धि के लिए दानधर्म जितना आसान होता है, उतना शील, तप

और भाव नही। इसलिए दान को गृहस्थ के लिए परमधर्म कहा है, और इसी कारण उसको प्राथमिकता दी गई है।

वैदिकधर्म के व्यवहारपक्ष का प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थो मे गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान की परम्परा चालू रखने हेतु 'पच वैवस्वतदेवयज्ञ' का विधान है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा होने वाले आरम्भजनित दोषो को कम करने के लिए भोजन तैयार होते ही सर्वप्रथम गाय, कुत्ता, कौआ, अग्नि एव अतिथि इन पाचो के लिए ग्रास निकाला जाय। शील, तप या भाव का विधान वहाँ सभी गृहस्थो के लिए नही किया गया है। इस दृष्टि से भी दान को प्रथम स्थान दिया गया हो तो कोई आश्चर्य नही। इसीलिए परमात्मप्रकाश मे स्पष्ट कहा है गृहस्थो के लिए आहारदान आदि परमधर्म है।[4]

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी सम्भव है कि जगत् मे नि स्पृह, त्यागी साधु, सन्त या तीर्थंकर आदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन न देते या न दें तो मनुष्य दुर्लभबोधि, बर्बर, नरभक्षी या पिशाचवत् अतिस्वार्थी बना रहता। अफ्रीका के नरभक्षी मनुष्यो को मानव (इन्सान) बनाने मे वहाँ के साधुओ (पादरियो व धर्मगुरुओ) ने बहुत कष्टसाध्य तप किया है। परन्तु उनमे जो भिक्षाजीवी या गृहस्थो के दान पर आश्रित साधु, सन्त हैं, उनको जीवन की आवश्यक वस्तुएँ गृहस्थ लोग दान मे देकर पूर्ति करे तभी वे साधु अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि को स्वस्थ और सशक्त रखकर सघ (समाज) सेवा का उक्त महान् कार्य कर सकते है। इस प्रकार के मुनियो, श्रमणो या साधु-सन्तो को आहारादि दान देकर गृहस्थ को शेष अन्न को प्रसाद के रूप सेवन करना चाहिए। सत्पात्र को दान देना श्रावक का मुख्य धर्म बताया है। रयणसार मे इसी बात का समर्थन स्पष्टरूप से किया गया है—

जो मुणिभुत्तसेस भु जइ सो भु जए जिणवददिट्ठ ।
ससारसारसोक्ख कमसो णिव्वाणवरसोक्ख ॥[5]
दाण पूजामुक्ख सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा ।[6]

अर्थात् जो भव्य जीव मुनिवरो को आहार देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझ कर सेवन करता है, वह ससार के सारभूत उत्तम सुखो को पाता है और क्रमश उत्तम मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेता है।

सुपात्र को आहारादि चार प्रकार का दान देना श्रावक का मुख्य धर्म है। जो इन दोनो को मुख्य कर्त्तव्य मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्यग्दृष्टि है। दान के विना श्रावक श्रावक नही रहता।

इस पर से जाना जा सकता है कि दान जव जीवन मे अनिवार्य कर्त्तव्य है, तो उसे प्राथमिकता दिया जाना कथमपि अनुचित नही है।

दान को पहला स्थान केवल इस लोक मे ही नही, देवलोक मे भी दिया जाता है। यहाँ से आयुष्य पूर्ण करके जो भी व्यक्ति स्वर्ग मे पहुँचता है, उसके लिए पहला प्रश्न यह अवश्य पूछा जाता है--कि वा दच्चा, किं वा भुच्चा, किं वा किच्चा, किं वा समायरित्ता ? अर्थात् यह मनुष्यलोक से स्वर्ग मे आया हुआ जीव वहाँ क्या दान देकर, क्या उपभोग करके, क्या कार्य करके अथवा क्या आचरण करके आया है ? मतलव यह है कि देवलोक मे पहुँचते ही सर्वप्रथम और वातो का स्मरण न करके दान के विपय मे ही पूछा जाता है, दान की ही वात सवसे पहले याद की जाती है, अन्य वाते वाद मे पूछी जाती हैं।

इससे आप अन्दाजा लगा सकते है कि महापुरुषो ने दान को धर्म के चार अगो या मोक्ष के चार मार्गों मे पहला स्थान क्यो दिया है !

सन्दर्भ

1 'दान सील च तवो भावो एव चउविहो धम्मो।
सव्वजिणेहि भणिओ, तहा दुहा सुयाचरित्ते हि ॥
—सप्ततिशतस्थान प्रकरण गा 96

2 दुर्गति-प्रपतज्जन्तुधारणाद् धर्म उच्यते।
दानशील-तपोभावभेदात् स तु चतुर्विध ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 1 1 1 52

दान और पुण्य : एक विवेचन

□ उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म

भारतीय सस्कृति के सभी चिन्तको ने पुण्य-पाप के सम्वन्ध मे विस्तार से चिन्तन किया है। मीमासक दर्शन ने पुण्य-साधन पर अत्यधिक वल दिया है। उनका अभिमत है कि पुण्य से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते है। उन स्वर्गीय सुखो का उपभोग करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, पर जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' है। मोक्ष का अर्थ है—पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मो से मुक्ति पाना।[1] यह देहातीत या ससारातीत अवस्था है। जव तक प्राणी ससार मे रहता है, देह धारण किये हुए है, तव तक उसे ससार-व्यवहार चलाना पडता है और उसके लिए पुण्य कर्म का सहारा लेना पडता है। पाप कर्म से प्राणी दुखी होता है, पुण्य कर्म से सुखी। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वस्थ शरीर, दीर्घ आयुष्य, धन-वैभव, परिवार, यश-प्रतिष्ठा—आदि की कामना प्राणी मात्र करना है। मुख की कामना करने से सुख नही मिलता, किन्तु सुख प्राप्ति के कार्य-सत्कर्म (धर्माचरण) करने से ही सुख मिलता है। उस सत्कर्म को ही शुभयोग कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

योग शुद्ध पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यास[2]

शुद्ध योग पुण्य का आस्रव (आगमन) करता है, और अशुद्ध योग पाप का।

शुभयोग, शुभभाव अथवा शुभपरिणाम तथा सत्कर्म प्राय एक ही अर्थ रखते ह। केवल शब्द-व्यवहार का अन्तर है।

मतलब यह हुआ कि सुख चाहने वाले को शुभयोग का आश्रय लेना होगा। शुभयोग से ही पुण्यवध होता है। एक वार कालोदायी श्रमण ने भगवान् महावीर से पूछा—'जीवो को सुख रूप शुभफल (पुण्य) की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर मे भगवान् महावीर ने बताया—

कालोदाई! जीवाण कल्लाणाकम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जति।[3]

कालोदायी! जीवो द्वारा किए गए शुभ कर्म ही उनके लिए शुभ फल देने वाले होते है।

वास्तव मे धर्म की क्रिया द्वारा, शुभप्रवृत्ति द्वारा दो कार्य निष्पन्न होते है—अशुभ कर्म की निर्जरा और शुभकर्म का बन्ध। अर्थात् पाप का क्षय और पुण्य का बन्ध। पाप-क्षय से आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य बन्ध से जीव को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य की परिभाषा ही यही है

सुहहेउ कम्मपगइ पुन्न।[4]

—सुख की हेतुभूत कर्म प्रकृति पुण्य है।

पुण्य के सम्बन्ध मे पहली एक सर्वसम्मत मान्यता तो यह है कि पुण्य भी बन्ध है, कर्मसग्रह है और मोक्षकामी जीव के लिए वह बन्धन रूप होने से त्याज्य ही है। पाप लोहे की बेडी है और पुण्य सोने की बेडी है। बेडी टूटने से ही मुक्ति होगी चाहे सोने की हो या लोहे की। किन्तु यह भी सभी आचार्यो ने माना है कि पहले लोहे की बेडी तोडने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् पाप नाश के लिए ही पुरुषार्थ करना चाहिए। पुण्य क्षय के लिए कोई भी समझदार व्यक्ति प्रयत्न नही करता और न यह उचित ही है। क्योकि पुण्य का भोग ही पुण्य का स्वत क्षय करता है अत मुक्तिकामी को भी पुण्य के विषय मे अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नही। अपितु पुण्यबन्ध के हेतु भूत—शुभ कर्मो का आचरण करना चाहिए।

दूसरी एक मान्यता है जिसमे दो मत है। एक परम्परा है—जो शुभकर्म, धर्माचरण, दान, सेवा, दया, उपकार आदि कार्य से धर्म भी मानती है और पुण्य भी। जैसे व्रती, सयती आदि को दान देना, उनकी सेवा करना धर्म है, इससे सवर तथा निर्जरा रूप धर्म की वृद्धि

होती है। अशुभ कर्म का निरोध होना सवर है, बन्धे हुए अशुभ कर्मों का क्षय होना निर्जरा है और नए शुभ कर्म का बन्धना पुण्य है। तो सयती आदि को दान आदि देने से सवर-निर्जरा रूप धर्म भी होता है। किन्तु जो पूर्णव्रती नही है, सयतासयती या असयती है, फिर भी दान या सेवा के पात्र हैं, तो उनको दान देने से, उन पर अनुकम्पा करने से, उनकी सेवा करने से भले ही सवर रूप धर्म न हो, किन्तु पुण्य का बन्ध अवश्य होता है। उस सेवा-दान-अनुकम्पा आदि के फलस्वरूप जीव को पुण्य की प्राप्ति होती है। जैसा कि आचार्य उमास्वाति ने बताया कि—

"भूत अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सराग-सयम, शाति और शौच—ये छह साता वेदनीय कर्म (सुख) के हेतु हैं।[5]

इस मान्यता के अनुसार जिस प्रवृत्ति मे धर्म नही उसमे पुण्य भी नही।[6] व्रती, सयमी को दान देना, उनकी सेवा करना इसी मे धर्म है और इसी मे पुण्य है। अव्रती तथा व्रताव्रती की सेवा तथा दान मे धर्म भी नही और पुण्य भी नही।

यह मान्यता सिर्फ एक सम्प्रदाय की है, जैन जगत् के प्राय मूर्धन्य विचारको और विद्वानो ने इस धारणा का डटकर खण्डन किया है। क्योकि इससे दान, सेवा आदि का क्षेत्र बहुत ही सकुचित हो जाता है, सिर्फ साधु को दान देना ही उनकी दृष्टि मे धर्म है, पुण्य है, बाकी सब पाप है। पाप शब्द की जगह भले ही वे 'लोक व्यवहार' अथवा 'सामाजिक कर्तव्य' आदि मधुर शब्दो का प्रयोग करते हो, किन्तु इनसे उनका आशय तो 'पाप' ही है। उनसे पूछा जाय कि पाप-पुण्य के अलावा तीसरा कोई तत्त्व है क्या ? जिस कार्य मे आप पुण्य नही मानते उससे विपरीत उसे 'पाप' कहने मे क्यो हिचकते हैं ? अगर वास्तव मे ही सयती के अतिरिक्त किसी को देना पाप है तो उसे स्पष्ट रूप से, निर्भीक होकर मानना और कहना चाहिए अन्यथा मान्यता मे परिष्कार करना चाहिए। वह सिद्धान्त क्या काम का, जिसे स्पष्ट कहने मे भी डर लगे, जीभ अटके और जी कतराये ? फिर आगम की कसौटी पर भी तो वह कहां खरा उतरेगा ?

आगमो मे बताया है—तीर्थंकरदेव दीक्षा लेने से पहले वर्षीदान देते है ?[7] यह दान कौन लेते है ? क्या त्यागी श्रमण, सयती यह दान लेने जाते है ? नही। यह दान लेने जाते है—कृपण, दीन, भिक्षुक, अनाथ आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हे स्वर्ण-मणि आदि की आवश्यकता या कामना है, और वे तो स्पष्ट ही अव्रती या व्रताव्रती (श्रावक) की कोटि मे ही आयेंगे। तो क्या उन लोगो को दान देने मे तीर्थंकर देव को सवर रूप धर्म होता है ? नही, किन्तु हमारे पडौसी सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार अगर उसमे धर्म नही है तो एकान्त पाप ही है ? जबकि अन्य समस्त जैनाचार्यो ने इस दान को पुण्य हेतुक माना है। और वास्तव मे ही वह पुण्य है। अगर पुण्य नही होता तो तीर्थंकर देव—भगवान् महावीर आदि दीक्षा लेने के पूर्व इतना बडा पाप कृत्य क्यो करते ? इधर तो करोडो अरबो-खरबो स्वर्णमुद्राओ का दान और इधर पाप का बन्धन। क्या समझदारी है ? अत इस एक उदाहरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कार्य मे धर्म नही हो, उसमे भी पुण्य हो सकता है। बहुत से कृत्य धर्मवर्द्धक नही है, किन्तु पुण्यकारक है, जैसे तीर्थंकरो का वर्षीदान।

रायपसेणी सूत्र मे राजा प्रदेशी का जीवनवृत्त है। वह जब केशी-कुमार श्रमण से श्रावकधर्म अगीकार करता है तब अपने राज्य कोष को चार भागो मे बॉटता है। जिसके एक भाग मे वह अपने राज्य मे दानशालाएँ, भोजनशालाएँ, औषधालय, कुएँ, अनाथाश्रम आदि खुलवाता है जहॉ हजारो अनाथ, रुग्ण, भिक्षुक आदि आकर आश्रय लेते है, अपनी क्षुधापिपासा शात करते है और औषधि आदि प्राप्त कर स्वास्थ्य लाभ लेते है। अगर इन प्रवृत्तियो मे पुण्य नही होता तो केशीकुमार श्रमण अपने श्रावक राजा प्रदेशी को स्पष्ट ही कह देते—यह कार्य पुण्य का नही है, अत करने मे क्या लाभ है ? और फिर श्रावक व्रतधारी चतुर राजा भी यह सब आयोजन क्यो करता ? अतः आगम की इस घटना से भी स्पष्ट सूचित होता है कि बहुत से अनुकम्पापूर्ण कार्यों मे धर्म भले ही न हो, किन्तु पुण्यबन्ध तो होता है और इसी पुण्य हेतु व्यक्ति शुभ आचरण करता है। इससे दीन-अनाथ एव अनुकम्पा पात्र व्यक्तियो को भी सुखसाता पहुँचती है।

पुण्य के नौ भेद

पुण्य की चर्चा मे अधिक गहरे नही जाकर हम अपने विषय क्षेत्र मे ही रहना चाहते हैं। क्योकि दान का प्रकरण चल रहा है और इस प्रकरण मे हमे दान और पुण्य पर कुछ विचार करना है। क्या दान मे एकान्त धर्म ही होता है, या जहाँ धर्म नही, वहाँ पुण्य भी हो सकता है ? यह प्रश्न हमारे सामने है। और इसी सन्दर्भ मे हमने उक्त विचार प्रकट किये हैं कि आगमो मे उक्त दोनो विचारो का स्पष्ट समर्थन मिलता है।

स्थानाग सूत्र मे पुण्य के नौ स्थान (कारण) बताये हैं—जैसे[8] -

1 अन्न पुण्णे
2 पाण पुण्णे
3 वत्थ पुण्णे
4 लयण पुण्णे
5 सयण पुण्णे
6 मण पुण्णे
7 वयण पुण्णे
8 काय पुण्णे
९ नमोक्कार पुण्णे

यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य। अन्न, पान (पानी) वस्त्र, स्थान, शयन (बिछौना) आदि के दान से तथा मन, वचन, काया आदि की शुभ (परोपकार प्रधान) प्रवृत्ति से एव योग्य गुणी को नमस्कार करने से पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है। ये पुण्य के कारण हैं, कारण मे कार्य का उपचार कर इन कारणो को पुण्य की सज्ञा दी गई है। अर्थात् अन्नदान से अन्न पुण्य, पान (जल) दान से पान पुण्य इसी प्रकार अमुक कारण से जो पुण्य होगा उसे वही सज्ञा दी गई है।

पुण्यजनक दान एक चर्चा

कुछ लोगो का कहना है कि पूर्वोक्त नौ प्रकार का पुण्य तो केवल महाव्रती साधु-साध्वियो को देने से ही फलित होता है, अन्य को देने से नही। उनका यह तर्क है, अगर गृहस्थ को दान देने से ही फलित होता है तो वहा धनपुण्य, हस्तिपुण्य या वाहनपुण्य आदि का भी उल्लेख होता, परन्तु ऐसा उल्लेख नही है। वहाँ साधुवर्ग के लिए

कल्पनीय, ऐषणीय या ग्राह्य वस्तुओ का ही उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि अन्य दानो की गणना तो दस प्रकार के दानो मे आ ही जाती है, सिर्फ वे दान, जिनसे कर्मक्षय न होकर पुण्यबन्ध होता है, उनका उल्लेख करना शेष रह गया था, इसलिए सद्‌गृहस्थो को या अनुकम्पा पात्रो को देने योग्य सामान्य वस्तुएँ गिनाई गई है। धन या हाथी की अपेक्षा मुसीबत मे पडे मनुष्य को अन्न, वस्त्र और आवास की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इसलिए नौ प्रकार के पुण्योत्पादक दान सर्वसाधारण, अनुकम्पापात्र या तथाविध पात्र के लिए है और फिर साधु-साध्वी को ये वस्तुएँ देने से तो पुण्य वन्ध से भी आगे बढकर कर्म-निर्जरा होती है जिसका साक्षी भगवती सूत्र का पाठ है। अन्न की अपेक्षा उनके लिए अभीष्ट चतुर्विध आहार का दान कल्पनीय होता है। इस दृष्टि से भी साधु वर्ग की अपेक्षा सद्‌गृहस्थो या अनुकम्पा के पात्र को देने से नवविध पुण्य का होना अधिक प्रमाणित या सभावित है। अगर साधुवर्ग को देने मे ही इस नवविध पुण्य को परिसमाप्त कर दिया जाएगा तो फिर जहाँ साधुवर्ग नही पहुँच पाता है, जहाँ उसके दर्शन भी दुर्लभ है, वहाँ तो पुण्य वृद्धि या पुण्योपार्जन का कोई कारण नही रहेगा। वहाँ के लोग तो पूर्व पुण्य क्षीण कर देगे, नये पुण्य का उपार्जन नही कर सकेगे। फिर तो उनके लिए पुण्योपार्जन की कही भी कोई गुजाइश नही रहेगी। परन्तु ऐसा है नही। नौ प्रकार के पुण्य तो सर्वसाधारण योग्य पात्र को सार्वजनिक रूप मे या व्यक्तिगत रूप मे दान करने से उपार्जित हो सकते है, होते है, हुए है। ऐसा अर्थ ही अधिक सगत मालूम होता है।

इस अर्थ से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय, जाति-कौम या देश-कुल का हो, अपने स्थान या क्षेत्र मे रह कर भी पुण्य उपार्जित कर सकता है। शास्त्र मे जैसे पापार्जन के १८ प्रकार बताए है, वैसे ही पुण्योपार्जन के ये ९ भेद बताए हैं। इन्ही ९ प्रकारो में ससार के सभी प्रमुख पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे पुण्योपार्जन किया जाता है, बशर्ते कि ये ९ पदार्थ तद्‌योग्य पात्र को परिस्थिति देखकर दिए जाएँ। इसी कारण हमने दान के प्रकारो मे इन नवविध पुण्योत्पादक दानो का उल्लेख और विश्लेषण किया है।

सन्दर्भ

1. कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्ष । – तत्त्वार्थसूत्र 1/4 (सर्वार्थसिद्धि)
2 उमास्वातीयनवतत्त्वप्रकरण (आस्रवतत्त्व प्रकरण),
3 भगवती सूत्र 7 10
4 श्री देवेन्द्रसूरि कृत नवतत्त्व प्रकरण, गा. 28
5 तत्त्वार्थसूत्र 6 12
6 आचाय भिक्षुकृत-नवपदार्थ (पुण्य पदाय गा 54-56)
7 आचाराग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध
8 स्थानाग सूत्र 9 3 676 ☐

भारतीय साहित्य में दान की महिमा

□ श्री विजय मुनि, शास्त्री

भारत के समस्त धर्मों मे, इस तथ्य मे किसी भी प्रकार का विवाद नही है, कि 'दान' एक महान् धर्म है। दान की व्याख्या अलग हो सकती है, दान की परिभाषा विभिन्न हो सकती है, और दान के भेद-प्रभेद भी विभिन्न प्रकार के हो सकते है, परन्तु 'दान एक प्रशस्त धर्म है' इस सत्य मे जरा भी अन्तर नही है। दान धर्म, उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी मानव-जाति है। मानव-जाति मे, दान कब से प्रारम्भ हुआ ? इसका उत्तर सरल न होगा। परन्तु यह सत्य है कि दान का पूर्व रूप सहयोग ही रहा होगा। सकट के अवसर पर मनुष्यो ने एक-दूसरे को पहले सहयोग देना ही सीखा होगा। सहअस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग आवश्यक भी था। सहयोग के अभाव मे समाज मे सुदृढता तथा स्थिरता कैसे आ पाती ? समाज मे सभी प्रकार के मनुष्य होते थे – दुर्बल भी और सबल भी। अशक्त मनुष्य अपने जीवन को कैसे धारण कर सकता है ? जीवन धारण करने के लिए भी शक्ति की आवश्यकता है। शक्तिमान् मनुष्य ही अपने जीवन को सुचारु रूप से चला सकता था, और वह दुर्बल साथी को सहयोग भी कर सकता था। यह **'सहयोग'** समानता के आधार पर किया जाता था, और बिना किसी प्रकार की शर्त के किया जाता था। न तो सहयोग देने वाले मे अहभाव होता था, और न सहयोग पाने वाले मे दैन्य भाव होता था। भगवान् महावीर ने अपनी भाषा मे, परस्पर के इस सहयोग को **'संविभाग'** कहा था। सविभाग का अर्थ है --सम्यक् रूप से विभाजन करना। जो कुछ तुम्हे उपलब्ध हुआ है, वह सब तुम्हारा अपना ही नही है, तुम्हारे साथी का तथा तुम्हारे पडौसी का भी उसमे सहभाव तथा सहयोग रहा हुआ है। महावीर के इस 'सविभाग' मे न अह का भाव है, और न दीनता का भाव। इसमे एकमात्र समत्व भाव ही विद्यमान है। लेने वाले के मन मे जरा भी ग्लानि नही है, क्योकि वह अपना ही हक

ग्रहण कर रहा है, और देने वाला भी यही समझ रहा है, कि मैं यह देकर कोई उपकार नही कर रहा हूँ। लेने वाला मेरा अपना ही भाई है, कोई दूसरा नही है। इस प्रकार यह सविभाग शब्द अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

वाद मे आया 'दान' शब्द। इसमे न 'सहयोग' की सहृदयता है और न सविभाग की व्यापकता एव दार्शनिकता ही। आज के युग मे 'दान' शब्द काफी वदनाम हो चुका है। देने वाला दाता देता है, अहंकार मे और लेने वाला गृहीता लेता है, सिर नीचा करके। देने वाला अपने को उपकारी मानता है और लेने वाला अपने को उपकृत। लेने वाला वाध्य होकर लेता है, और देने वाला भी दवाव से ही देता है। आज के समाज की स्थिति ही इस प्रकार की हो गई है, कि लेना भी पडता है, और देना भी पडता है। न लेने वाला प्रसन्न है, और न देने वाला ही। यही कारण है, कि 'दान' शब्द से पूर्व कुछ विशेपण जोड दिए गए हैं—"करुणा दान, अनुकम्पादान एव कीर्तिदान आदि।"

'दान' शब्द का अर्थ है—देना। क्या देना ? किसको देना ? क्यो देना ? इसका कोई अर्थ-वोध दान शब्द से नही निकल पाता। शायद, इन्ही समस्याओ के समाधान के लिए 'दान' शब्द को युग-युगान्तर मे परिभापित करना पडा है। परन्तु कोई भी परिभापा 'दान' शब्द को वाधने मे समर्थ नही हो सकी। 'दान' शब्द के सम्बन्ध मे भेद-प्रभेद होते ही रहे है, मत मतान्तर चलते ही रहे है, वाद-विवाद वढते ही रहे है। धर्म के भवन मे, मतवाद की जो भयकर आग एक वार भभक उठती है, वह कभी भी वुझ नही पाती।

दान की मान्यता पर मतभेद

दान की मान्यता के सम्बन्ध मे जो मतवाद की आग कभी प्रज्वलित हुई थी, उसके तीन विस्फोटक परिणाम सामने आए—(१) दान पुण्य का कारण है, (२) दान पाप का कारण है और (३) दान धर्म का कारण है। जो लोग दान को शुभ भाव मानते है, उनके अनुसार दान से पुण्य होगा और पुण्य मे सुख। जो दान को अशुभ

भाव मानते है, उनके अनुसार दान से पाप होगा, पाप से दुख। शुभ उपयोग पुण्य का हेतु है और अशुभ उपयोग पाप का। पुण्य और पाप--दोनो आस्रव है, ससार के कारण है। उनसे कभी धर्म नही हो सकता। धर्म है सवर। धर्म है निर्जरा। सवर और निर्जरा—दोनो ही मोक्ष के हेतु है, ससार के विपरीत, मोक्ष के कारण है। तब, दान से संसार ही मिला, मोक्ष नही। दान का फल मोक्ष कैसे हो सकता है ? इस मान्यता के अनुसार दान, दया, व्रत और उपवास आदि पुण्य बन्ध के ही कारण हैं। क्योकि ये सब शुभ भाव है।

इसके विपरीत एक दूसरी मान्यता भी रही है, जिसके अनुसार दान भी और दया भी—दोनो पाप के कारण है। पाप के कारण तभी हो सकते है, जबकि दोनो को अशुभ भाव माना जाए। अत उनका तर्क है, कि दया सावद्य होती है। जो सावद्य है, वह अशुभ होगा ही। जो अशुभ है, वह निश्चय ही पाप का कारण है। दान के सम्बन्ध मे, उनका कथन विभज्यवाद पर आश्रित है। उन लोगो का तर्क है, कि दान दो प्रकार का हो सकता है—सयतदान और असयतदान। साधु को दिया गया दान, धर्म-दान है। अतएव उसका फल मोक्ष है। क्योकि साधु को देने से निर्जरा हाती है, और निर्जरा का फल मोक्ष ही हो सकता है, अन्य कुछ नही। परन्तु असयत दान, अधर्म दान है। उसका फल पाप है। पाप, कभी शान्ति का कारण नही हो सकता। यह पापवाद की मान्यता है।

पुण्यवाद और पापवाद के अतिरिक्त, एक धर्मवाद की मान्यता भी रही है। इसके अनुसार दान भी धर्म है, और दया भी धर्म है। दान, यदि पाप का कारण होता, तो तीर्थंकर दीक्षा से पूर्व वर्षीदान क्यो करते ? दान-परम्परा की स्थापना न करके निषेध ही करते। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरो ने दान दिया था। उन लोगो का तर्क यह है कि दान की क्रिया ममता और परिग्रह को कम करती है। ममता और परिग्रह का अभाव ही तो धर्म है। जितना दिया उतनी ममता कम हुई और जितना दिया उतना परिग्रह भी कम ही हुआ है। अत. दान से धर्म होता है। ममता और परिग्रह को कम करने से तथा उनका नाश करने से दान धर्म ही हो सकता

है, पाप कभी नही। यही धर्मवादी मान्यता है।

पुण्यवाद, पापवाद और धर्मवाद की गूढ ग्रन्थियो को सुलझाने का समझाने का समय-समय पर प्रयास हुआ है, परन्तु कोई भी मान्यता जब रूढ हो जाती है, तब वह मिट नही पाती। किसी भी मान्यता को मिटाने का प्रयास भी स्तुत्य नही कहा जा सकता। मानव जाति के विचार के विकास की भी एक कडी है, उसकी अपनी उपयोगिता है, अपना एक महत्त्व है।

भारत के वैदिक षड्दर्शनो मे एक मीमासा दर्शन ही पुण्यवादी दर्शन कहा जा सकता है। उसकी मान्यता है कि यज्ञ से पुण्य होता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है, स्वर्ग मे सुख है। पुण्य क्षीण होने पर फिर ससार है। मोक्ष की स्थिति मे उसे जरा भी रुचि नही है। यज्ञ से, तप से, जप से और दान मे पुण्य होता है, यह इसी मीमासा दर्शन की मान्यता रही है। यज्ञ नही करोगे, तो पाप होगा और यज्ञ करोगे तो पुण्य होगा। पाप और पुण्य की मीमासा करना ही, मीमासा दर्शन का प्रधान ध्येय रहा है। दान पर सबसे अधिक बल भी इसी दर्शन ने दिया है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार ब्राह्मण को दान देने से सबसे बडा पुण्य होता है। श्रमण परम्परा के दोनो सम्प्रदाय—जैन और बौद्ध, कहते है कि ब्राह्मण को दिया गया दान, पुण्य का कारण नही है। वह पाप दान है, वह धर्म नही हो सकता। मीमासा दर्शन भी जैन श्रमणो को और बौद्ध भिक्षुओ को दिए गए दान को पाप का कारण मानता है, धर्म का नही। इस प्रकार की मान्यताओ ने दान की पवित्रता को नष्ट कर डाला। अपनी मान्यताओ मे आबद्ध कर दिया। अपनो को देना धर्म, और दूसरो को देना पाप मानना इसी का परिणाम है।

वेद विरोधी दर्शनो मे एक चार्वाक दर्शन ही यह कहता है कि न दान करने से पुण्य होता है, न नही करने से पाप। पाप और पुण्य यह लुब्धक लोगो की परिकल्पना है, अन्य कुछ नही। न पाप है न पुण्य है, न लोक है न परलोक है। जो कुछ है, यही है, अभी है, आज ही है, कल कुछ भी नही। उनको इस

मान्यता के कारण ही चार्वाक दर्शन मे दान पर कुछ मीमाँसा नही हो सकी। दान पर विचार का अवसर ही वहाँ पर उपलब्ध नही है। वर्तमान भोग ही वहाँ जीवन है।

वैदिक दर्शनों में दान-मीमासा

वेदगत परम्परा के षड्दर्शनो मे साख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन ज्ञान-प्रधान रहे है। दोनो मे ज्ञान को अत्यन्त महत्त्व मिला है। वहाँ आचार को गौण स्थान मिला है। साख्य भेदविज्ञान से मोक्ष मानता है। प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान ही साधना का मुख्य तत्त्व माना गया है। वहाँ प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्वो का ही विश्लेषण किया गया है। इन दोनो का सयोग ही ससार है, इन दोनो का वियोग ही मोक्ष है। प्रकृति मोक्ष-शून्य है, तो पुरुष कर्तृत्व-शून्य है। इस दर्शन मे कही पर भी आचार को महत्त्व नही मिला। करना कुछ भी नही है, जो कुछ है, जानना है और समझना है। आचार पक्ष की गौणता होने के कारण 'दान' की मीमासा नही हो सकी। दान का सम्बन्ध करने से है, आचार से है, क्रिया और कर्म से सम्बद्ध है।

वेदान्त दर्शन की स्थिति भी यही रही है। कुछ मौलिक भेद अवश्य है। साख्य द्वैतवादी है, तो वेदान्त अद्वैतवादी रहा है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। यदि कुछ भी प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या ही है। 'अह ब्रह्मास्मि' इस भावना से समग्र बन्धन परि-समाप्त हो जाते है। वस्तुत बन्धन है ही कहाँ ? उसकी तो प्रतीति मात्र हो रही है। अपने को प्रकृति और जीव न समझकर, एकमात्र ब्रह्म समझना ही विमुक्ति है। इस दर्शन मे भी ज्ञान की प्रधानता होने से आकार की गौणता ही है। शम तथा दम आदि कुछ साधनो की चर्चा अवश्य की गई है, परन्तु वे साधना के अनिवार्य अग नही है। यही कारण है कि वेदान्तदर्शन मे भी दान की मीमासा नही हो पाई। दान का सम्बन्ध चारित्र से है, और उसकी वहाँ गौणता है।

न्यायदर्शन मे तथा वैशेषिकदर्शन मे, पदार्थ-ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है। वैशेषिकदर्शन मे सप्त पदार्थों का तथा न्याय-

दर्शन मे षोडश पदार्थों का अधिगम ही मुख्य माना गया है। न्याय-शास्त्र मे तो पदार्थ भी गौण है, मुख्य है प्रमाणों की मीमांसा। वैशेषिक की पदार्थ-मीमांसा और न्याय की प्रमाण-मीमांसा प्रसिद्ध है। साधना अथवा आचार का वहाँ कुछ भी स्थान नही है। फिर दान की मीमांसा को वहाँ स्थान मिलता भी कैसे? अतः वहाँ पर दान का कोई विशेष महत्त्व नही रहा जा सकता। उसका कोई दार्शनिक आधार नही है। न्यायदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए समर्थ तर्क किया गया है, और वैशेषिक ने परमाणु को सिद्ध करने के लिए। जीवन को छुआ या कहीं नहीं हो पाई।

योगदर्शन अवश्य ज्ञान-प्रधान न होकर क्रिया-प्रधान है। आचार का वहाँ विशेष महत्त्व माना गया है। मनुष्य के चित्त की वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसकी साधना का मुख्य लक्ष्य है—समाधि की सम्प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। यमों मे अपरिग्रह और नियमों मे सन्तोष का ग्रहण किया गया है। परन्तु दान की मीमांसा को यहाँ पर भी अवसर नही मिला। दान का साधन के रूप मे कहीं उल्लेख नही है। अतः यह सिद्ध होता है कि वेद मूलक षड्-दर्शनों मे एक मीमांसा दर्शन को छोड़कर शेष पाँच दर्शनों मे दान का कोई महत्त्व नही है। न उसका विधान है और न उसकी व्याख्या ही की गई है।

श्रमण परम्परा मे दान मीमांसा

वेद विरुद्ध श्रमण परम्परा के तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध है—जैन, बौद्ध और आजीवक। आजीवक परम्परा का प्रवर्तक गोशालक था। वह नियतिवादी के रूप मे भारतीय दर्शनों मे सुपरिचित एवं विख्यात था। उसकी मान्यता थी कि जो भाव नियत है, उन्हे बदला नही जा सकता। संसार के किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ मे कोई मनुष्य किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता। सब अपने आप मे नियत है। आज के इस वर्तमान युग मे, आजीवक सम्प्रदाय का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है। अतः दान के सम्बन्ध मे गोशालक के क्या विचार

थे ? कुछ भी कहा नही जा सकता । उसके नियतिवादी सिद्धान्त के अनुसार तो उसकी विचारधारा मे दान का कोई फल नही है। दान से कोई लाभ नही और नही देने से कोई हानि भी नही।

बौद्ध परम्परा मे आचार की प्रधानता रही । प्रज्ञा और समाधि का महत्त्व भी कम नही है, फिर भी प्रधानता शील की ही है। शील शब्द यहाँ व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । मनुष्य जीवन के उत्थान के लिए जितने भी प्रकार के सत्कर्म है वे सब शील मे समाहित हो जाते है । बुद्ध ने शील को बहुत ही महत्त्व दिया है। तत्त्व पर इतना जोर नही दिया गया, जितना शील पर दिया गया है, जितना सदाचार पर दिया गया है । दान भी एक सत्कर्म है, अत यह भी शील की ही सीमा के अन्दर आ जाता है। बौद्ध धर्म मे बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जिन दशपारमिताओ का वर्णन किया गया है, उनमे से एक पारमिता दान को भी माना गया है। दान की पूर्णता भी बुद्धत्व लाभ का मुख्य कारण माना गया है। दान के सम्बन्ध मे बुद्ध ने 'दीर्घनिकाय' मे कहा है कि "सत्कार पूर्वक दान दो, अपने हाथ मे दान दो, मन से दान दो, दोष रहित पवित्र दान दो ।" इस कथन मे दान के विषय मे चार बाते कही गई है – दान सत्कारपूर्वक हो, अपने हाथ से दिया गया हो, भावना पूर्वक दिया हो और दोष शून्य हो। इस प्रकार के दान को पवित्र दान कहा गया है। 'सयुत्तनिकाय' मे भी बुद्ध ने कहा है—"श्रद्धा से दिया गया दान, प्रशस्त है । दान से भी बढकर धर्म के स्वरूप को समझाया है।" इस कथन मे स्पष्ट है कि यदि दान मे श्रद्धा भाव नही है, तो वह दान, तुच्छ दान है। जो भी देना हो, जितना भी देना हो, वह श्रद्धा से दिया जाना चाहिए, तभी देने की सार्थकता कही जा सकती है। हीन भाव से दिया गया दान अथवा अनादर से दिया गया दान, प्रशस्त दान नही कहा जा सकता। 'धम्मपद' मे भी दान के सम्बन्ध मे बुद्ध ने बहुत सुन्दर कहा है "धर्म का दान, सब दानो से बढकर है। धर्म का रस, सब रसो से श्रेष्ठ है।" -विमुख मनुष्य को धर्मपथ पर लगा देना भी एक दान ही है।

बौद्ध परम्परा मे अनेक व्यक्तियो ने सघ को दान दिया था। अनाथपिण्ड ने जेतवन का दान बौद्ध सघ को दिया था। राजगृह मे,

वेणुवन भी दान में ही मिला है। वैशाली में आम्रपाली ने अपना उपवन बुद्ध को दान में दे दिया था। सम्राट् अशोक ने भी हजारों विहार बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए दान में दे दिये थे। बौद्ध परम्परा का इतिहास दान की महिमा से और दान की गरिमा से भरा पड़ा है। बौद्ध धर्म में दान को एक महान् सत्कर्म माना गया है। यह एक महान् धर्म है। यही कारण है कि इस धर्म में दान को बहुत बड़ा महत्त्व मिला है।

जैन-परम्परा में भी दान को एक सत्कर्म माना गया है। जैन धर्म न एकान्त क्रियावादी है, न एकान्त ज्ञानवादी है और न एकान्त श्रद्धा-वादी ही है। श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष की सम्प्राप्ति होती है। फिर भी जैन धर्म को आचार-प्रधान कहा जा सकता है। ज्ञान कितना भी ऊँचा हो, यदि साथ में उसका आचरण नहीं है, तो जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। जैन-परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा गया है। दान का सम्बन्ध चारित्र से ही माना गया है। आहारदान, औषधदान और अभयदान आदि अनेक प्रकार के दानों का वर्णन विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृतांग' सूत्र में अभयदान को सबसे श्रेष्ठ दान कहा है—दाणाठा सेट्ठम भयप्पयाणं।" दूसरों के प्राणों की रक्षा ही अभयदान है। आज की भाषा में इसे ही जीवनदान कहा गया है। दान के सम्बन्ध में महा-वीर ने, 'स्थानांग सूत्र' में कहा है--"मेघ चार प्रकार के होते हैं—एक गर्जना करता है, पर वर्षा नहीं करता। दूसरा वर्षा करता है, पर गर्जना नहीं करता। तीसरा गर्जना भी करता है और वर्षा भी करता है। चौथा न गर्जना करता है और न वर्षा करता है।" मेघ के समान मनुष्य भी चार प्रकार के हैं—कुछ बोलते हैं, देते नहीं। कुछ देते है, किन्तु कभी बोलते नहीं। कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं। कुछ न बोलते हैं, न देते ही हैं। महावीर के इस कथन से दान की महिमा एवं गरिमा स्पष्ट हो जाती है। जैन परम्परा में धर्म के चार अंग स्वीकार किए हैं—दान, शील, तप एवं भाव। इनमें दान ही मुख्य एवं प्रथम है। "सुखविपाक सूत्र" में दान का ही गौरव गाया गया है।

ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य मे दान-विचार

वेद-परम्परा के साहित्य मे भी दान की मीमासा पर्याप्त हुई है। मूल वेदो मे भी यत्र-तत्र दान की महिमा है। उपनिपदो मे ज्ञान-साधना की प्रधानता होने से आचारो को गौण स्थान मिला है। परन्तु आचार-मूलक ब्राह्मण-साहित्य मे, आरण्यक-साहित्य मे और स्मृति-साहित्य मे दान के सम्बन्ध मे बहुत विस्तार मे वर्णन किया गया है। आरण्यक मे कहा गया है कि "सभी प्राणी दान की प्रशसा करते है, दान से बढकर अन्य कुछ दुर्लभ नही है।" इस वाक्य मे दान को दुर्लभ कहा गया है, जिसका अभिप्राय है कि दान करना आसान काम नही है। हर कोई दान नही कर सकता है। सम्पत्ति बहुतो के पास हो सकती है, पर उसका मोह छोडना सरल नही है। वस्तु पर से जब तक ममता न छूटे, तब तक दान नही किया जा सकता। ममता को जीतना ही दान है। एक दूसरे स्थान पर भी 'आरण्यक' मे कहा गया है—"दान से शत्रु भी मित्र हो जाते है, दान मे सब कुछ प्रतिष्ठित है।" इस वस्तु मे दान को जीवन का आधार माना गया है और दान की व्यापक व्याख्या की गई है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति मे दान का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। पाराशर स्मृति मे दान के सम्बन्ध मे कहा है—"ग्रहीता के पास स्वय जाकर दान देना, उत्तम दान है। उसे अपने पास बुलाकर देना, मध्यम दान है। उसके बार-बार मॉगने पर देना, अधम दान है। उससे खूब सेवा कराकर देना, निष्फल दान है।" इसमे दान के चार प्रकार कहे गये है। चतुर्थ प्रकार के दान को ही हीन कोटि का कहा गया है। देना भी, पर परेशान करके देना, सेवा कराकर देना, उसे लज्जित करके देना उत्कृष्ट दान नही है। दान की घोषणा करना पर देना कुछ भी नही भी उचित नही है।

गीता के १७वे अध्याय के श्लोक २०, २१ एव २२ मे तीन प्रकार के दानो का कथन मिलता है—"सात्त्विक दान, राजस दान और तामस दान।" जो दान कर्त्तव्य समझकर दिया जाता है तथा जो देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, जो दान अनुपकारी को दिया जाता है, उसे गीता मे श्रेष्ठ दान, उत्तम दान एव सात्त्विक दान कहा गया है। यह दान किसी भी प्रकार के फल की आकाक्षा से रहित

होता है। जो दान क्लेशमूलक हो, फल की आशा रखकर दिया गया हो, फल को दृष्टि मे रखकर दिया गया हो, वह दान मध्यम है, उसे राजस दान कहा गया है। जो दान, बिना सत्कार के दिया गया हो, अपमान के साथ दिया गया हो, देश, काल और पात्र का विचार किए बिना दिया गया हो, जो दान किसी कुपात्र को दिया गया हो, वह अधम दान है। वह दान तामसदान कहा गया है। इस प्रकार गीता के तीन श्लोको मे दान की जो मीमासा की गई है, वह दान की दार्शनिक व्याख्या है। इन श्लोको मे दान की केवल गरिमा तथा महिमा का वर्णन नही किया गया है, बल्कि दान की व्याख्या, दान की परिभाषा और दान की मीमासा की गई है। कहा गया है कि अपनी वस्तु भर किसी को दे डालना दान नही कहा जा सकता। उसमे दाता के भाव का भी मूल्य है। देश और काल की परिस्थिति पर भी विचार किया जाना चाहिए। दान जिसको दिया जा रहा है, उस पात्र की, उस ग्रहीता की योग्यता पर भी विचार करना चाहिए। किसी को कुछ देने भर से ही दान नही हो जाता। गीताकार ने दान की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। अतः यह व्याख्या अत्यन्त ही सुन्दर रही है। मनुष्य के चित्त मे उठने वाले सत्त्वभाव, रजोभाव और तमोभाव के आधार पर दान के परिणाम भी तीन प्रकार के बताए गये है। सत्त्वभाव से दिया गया दान दाता और पात्र दोनो के लिए हितकर है। रजोभाव से दिया गया दान, चित्त मे चचलता ही उत्पन्न करता है। तमोभाव से दिया गया दान, चित्त मे मूढता ही उत्पन्न करता है।

भगवान् महावीर ने बहुत सुन्दर शब्दो का प्रयोग किया है—मुधादायी और मुधाजीवी। दान वही श्रेष्ठ है, जिससे दाता का भी कल्याण हो और ग्रहीता का भी कल्याण हो। दाता स्वार्थ रहित होकर दे और पात्र भी स्वार्थ-शून्य होकर ग्रहण करे। भारतीय साहित्य मे इन दो शब्दो से सुन्दर शब्द, दान के सम्बन्ध मे अन्यत्र उपलब्ध नही होते। दाता और ग्रहीता तथा दाता और पात्र—शब्दो मे वह गरिमा नही है, जो मुधादायी और मुधाजीवी मे है। 'मुधा' शब्द का अभिधेय अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ है - व्यर्थ। परन्तु लक्षणा के द्वारा इसका लक्ष्यार्थ होगा—स्वार्थ रहित। व्यञ्जना के द्वारा व्यग्यार्थ होगा—वह दान,

जिसके देने से दाता के मन मे अहभाव न हो और लेने वाले के मन मे दैन्यभाव न हो। इस प्रकार का दान विशुद्ध दान है, यह दान ही वस्तुत. मोक्ष का कारण है। न देने वाले को किसी प्रकार का भार और न लेने वाले को किसी प्रकार की ग्लानि। यह एक प्रकार का धर्मदान कहा जा सकता है। शास्त्रो मे जो दान की महिमा का कथन किया गया है, वह इसी प्रकार के दान का है। यह भव-बन्धन काटने वाला है। यह भव-परम्परा का अन्त करने वाला दान है।

रामायण-महाभारत मे दान की महिमा

सस्कृत साहित्य के इतिहास मे, जिसे इतिहासविद् विद्वानो ने महाकाव्य काल कहा है, उसमे भी दान के सम्बन्ध मे उदात्त विचारो की झलक मिलती है। महाकाव्य काल के काव्यो मे सबसे महान् एव विशाल काव्य दो है—रामायण और महाभारत। अन्य महाकाव्यो के प्रेरणा-स्रोत ये ही महाकाव्य है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने प्रसिद्ध काव्यशास्त्र ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' मे कहा है—" 'रामायण' महाकाव्य है, करुण रस उसका मुख्य रस है, अन्य रस उसके अगभूत है। 'महाभारत' भी एक महाकाव्य है, शान्त रस उसका प्रधान रस है। शान्त रस अगी है, और अन्य रस उसके अग हैं।" इन दोनो महाकाव्यो मे यथाप्रसग अनेक स्थानो पर दान के सम्बन्ध मे वर्णन उपलब्ध होते हैं। कुछ प्रसग तो अत्यन्त हृदयस्पर्शी कहे जा सकते है। 'रामायण' मे एक प्रसग है—राजा दशरथ अपनी रानी कैकेयी को राम के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे समझा रहे है। राम के गुणो का वर्णन करते हुए दशरथ कह रहे हैं—"सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, नम्रता, विद्या और गुरुजनो की सेवा—ये सब गुण राम मे निश्चित रूप से विद्यमान हैं।' यही राम का व्यक्तित्व है। इन गुणो मे दान की भी परिगणना की गई है। यह कथन 'अयोध्या काण्ड' मे किया गया है। दान से सर्वजनप्रियता उपलब्ध होती है। राम अपने मित्रो के प्रति ही उदार नही थे, अपने विरुद्ध आचरण करने वालो के प्रति भी उदार थे। उदार व्यक्ति मे ही दाता होने की क्षमता होती है।

के दान गुण का रामायण मे अनेक स्थलो पर वर्णन प्राप्त होता

है। एक प्रसंग पर राम ने कहा है कि दान देना हो, तो मधुर वचन के साथ दो।

महाभारत में विस्तार के साथ दान का वर्णन अनेक प्रसंगों पर किया गया है। 'महाभारत' में कर्ण, 'दानवीर' के रूप में प्रसिद्ध है। अपने द्वार पर आने वाले किसी भी व्यक्ति को वह निराश नहीं लौटने देता। अपनी कितनी भी हानि हो, पर याचक को वह निराश नहीं लौटने देता। धर्मराज युधिष्ठिर का भी जीवन अत्यन्त उदार वर्णित किया गया है। महाभारत के एक प्रसंग पर कहा गया है – "तप, दान, श्रम, दम, लज्जा, सरलता, सर्वभूत पर दया सन्तों ने स्वर्ग के ये सात द्वार कहे हैं।" इस कथन में भी दान की महिमा गाई गई है। एक अन्य प्रसंग पर कहा गया है—"धन का फल दान और भोग है।" धन प्राप्त करके भी जिसने अपने जीवन में न तो दान ही दिया और न उसका उपभोग ही किया है, उसका धन प्राप्त करना ही निष्फल कहा गया है। महाभारत में युधिष्ठिर और नागराज के संवाद में कहा गया है–"सत्य, दम, तप, दान अहिंसा, धर्म-परायणता आदि सद्‌गुण ही मनुष्य की सिद्धि के हेतु हैं, उसकी जाति और कुल नहीं।" इस कथन से फलित होता है, कि दान आदि मनुष्य की महानता के मुख्य कारण रहे हैं। किसी जाति में जन्म लेना और किसी कुल में उत्पन्न होना, उसकी महानता के कारण नहीं हैं। इस प्रकार महाभारत में स्थान-स्थान पर दान की गरिमा और दान की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। दान भव्यता का द्वार है, दान स्वर्ग का द्वार है, दान मोक्ष का द्वार है। दान से महान् अन्य कौन-सा धर्म होगा ? इन महाकाव्यों में दान का वर्णन व्याख्या रूप में ही नहीं, आख्यान रूप में भी किया गया है। कथाओं के आधार पर दान का गौरव बताया गया है।

संस्कृत महाकाव्यों में दान पर विचार

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों को दो विभागों में विभक्त किया गया है लघुत्रयी और बृहत्‌त्रयी। लघुत्रयी में महाकवि कालिदास कृत तीन काव्यों की गणना की गई है – 'रघुवंश', 'कुमार सम्भव' और 'मेघदूत'। मेघदूत एक खण्ड काव्य है, शृंगार प्रधान काव्य है।

काव्यगत गुणो की दृष्टि से यह श्रेष्ठ काव्य माना गया है। इसमे दान की महिमा के प्रसग अत्यन्त विरल रहे है, फिर भी शून्यता नही रही। काव्य का नायक यक्ष अपने मित्र मेघ से कहता है—हे मित्र! याचना करनी हो, तो महान् व्यक्ति से करो, भले ही निष्फल हो जाए, परन्तु नीच व्यक्ति से कभी न मागो भले ही वह सफल भी हो जाए।' इसमे कहा गया है कि महान् व्यक्ति से ही दान की मांग करो, हीन व्यक्ति से नही, इस कथन मे कालिदास ने दान का महान् रहस्य प्रकट कर दिया है।

'कुमार सम्भव' महाकाव्य मे महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती का वर्णन किया है। यथाप्रसग जीवन के अनेक रहस्यो के मर्म का प्रकाशन भी किया है। शिव को कवि ने आशुतोष कहा है। शिव सबको वरदान देते है, किसी को भी अभिशाप नही। कवि ने अनेक स्थलो पर शिव की दान-वीरता का मधुर भाषा मे वर्णन किया है। शिव ने अपनी भोग साधना मे विघ्न डालने वाले कामदेव को जब तृतीय नेत्र से भस्म कर दिया, तो उसकी पत्नी रति विलाप करती हुई, शिव के समक्ष उपस्थित होकर, अपने पति के पुनर्जीवन का वरदान माँगती है। रति के शोक से अभिभूत होकर शिव उसे जीवनदान का वरदान दे बैठते है। यह कवि की अलकृत भाषा है। परन्तु इस कथन से शिव की दान-शीलता का स्पष्ट चित्रण हो जाता है, यही अभीष्ट भी है।

कवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवश' मे रघुवश के राजाओ का विस्तार से वर्णन किया है। दिलीप, रघु, अज, दशरथ राम और लव-कुश आदि रघुवशीय राजाओ की दानशीलता का कवि ने प्रस्तुत काव्य के अनेक सर्गों मे वर्णन किया है। एक स्थल पर कहा गया है—'जैसे मेघ पृथ्वी से पानी खीच कर, फिर वर्षा के रूप मे उसे पुन लौटा देता है वैसे ही रघुवशीय राजा अपने प्रजाओ से कर लेकर, दान के रूप मे वापस लौटा देते है।' रघुवश काव्य मे ही एक दूसरा सुन्दर प्रसग है—'वरतन्तु का शिष्य कौत्स, अपने गुरु को दक्षिणा देने का सकल्प करता है। वह याचना करने के लिए राजा रघु के द्वार पर पहुँचा, पर पता लगा, कि राजा सर्वस्व का दान कर

चुका है। निराश लौटने को तैयार, पर रघु लौटने नही देता। तीन दिनो तक रुक जाने की प्रार्थना करता है। राजा रघु उसकी इच्छा पूरी करके उसे गुरु के आश्रम मे भेजता है।' रघुवश महाकाव्य का यह प्रसग अत्यन्त सुन्दर हृदयस्पर्शी और मार्मिक बन पडा है। दान की गरिमा का और दान की महिमा का इससे सुन्दर चित्रण अन्यत्र दुर्लभ ही है।

महाकवि कालिदास भारतीय सस्कृति के मधुर उद्गाता कवि हैं। अपने तीन नाटको—शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय मे भी अनेक स्थलो पर दान के सुन्दर प्रसगो की चर्चा की है, कही सकेत देकर ही आगे बढ गये हैं। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य मे और नाटको मे दान के सम्बन्ध मे काफी कहा गया है। यहा पर अधिक विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही उल्लेख किया गया है।

सस्कृत महाकाव्यो मे वृहत्त्रयी मे तीन का समावेश होता है—किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधचरित। महाकवि भारवि ने अपने काव्य 'किरातार्जुनीय' मे किरातरूपधारी शिव और अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया है। शिव के वरदान का और उसकी दानशीलता का काव्यमय भव्य वर्णन किया है। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल वध' मे अनेक स्थलो पर दान का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। माघ स्वय भी उदार एव दानी माने जाते रहे है। कोई भी याचक द्वार से खाली हाथ नही लौट पाता था। कवि का यह दान गुण उनके समस्त काव्य मे परिव्याप्त है। श्री हर्ष ने अपने प्रसिद्ध काव्य नैषध मे राजा नल और दमयन्ती का वर्णन किया है, जिसमे राजा नल की उदारता और दान-शीलता का भव्य वर्णन किया गया है।

सस्कृत के पुराण साहित्य मे दान

सस्कृत के पुराण साहित्य मे, दान का विविध वर्णन विस्तार से किया गया है। व्यास रचित अष्टादशपुराणो मे से एक भी पुराण इस प्रकार का नही है, जिसमे दान का वर्णन नही किया गया हो। दान के विषय मे उपदेश और कथाएँ भरी पडी है। रूपक तथा कथाओ के माध्यम से दान के सिद्धान्तो का सुन्दर वर्णन किया गया है। जैन-

परम्परा के पुराणो मे – आदिपुराण, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, हरिवशपुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि मे दान सम्बन्धी उपदेश तथा कथाएँ प्रचुर मात्रा मे आज भी उपलब्ध है, जिनमे विस्तार के साथ दान की महिमा वर्णित है। इसके अतिरिक्त धन्यचरित्र, शालिभद्रचरित्र तथा अन्य चरित्रो मे दान की महिमा, दान का फल और दान के लाभ बताए गए है। बौद्ध परम्परा के जातको मे दान सम्बन्धी कथाएँ विस्तार के साथ वर्णित हैं। बुद्ध के पूर्वभवो का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है। बुद्ध ने अपने पूर्व भवो मे दान कैसे दिया और किसको दिया और कब दिया आदि विषयो का उल्लेख जातक कथाओ मे विशदरूप मे किया गया है। जैन-परम्परा के आगमो की सस्कृत टीकाओ मे तथा प्राकृत टीकाओ मे तीर्थंकरो के पूर्वभवो का जो वर्णन उपलब्ध है, उसमे भी दान के विषय मे विस्तार से वर्णन मिलता है। आहार दान, शास्त्रदान, वस्त्रदान और औषध दान के सम्बन्ध मे कही पर कथाओ के आधार से तथा कही पर उपदेश के रूप मे दान की महिमा का उल्लेख बहुत ही विस्तार से हुआ है। इन दानो मे विशेष उल्लेख योग्य है – शास्त्र दान। हजारो श्रावक एव भक्त जन साधुओ को लिखित शास्त्रो का दान करते रहे हैं। अन्य दानो की अपेक्षा इस दान का विशेष महत्त्व माना जाता था। शिष्य दान का भी उल्लेख शास्त्रो मे आया है। पुराणो मे आश्रम दान, भूमिदान और अन्नदान का स्थान-स्थान पर उल्लेख उपलब्ध है। जैन-परम्परा के श्रमण, मुनि और तपस्वी आश्रम और भूमि को दान के रूप मे ग्रहण नही करते थे। रजत और सुवर्ण आदि का दान भी ये ग्रहण नही करते थे। परन्तु सन्यासी, तापस और बौद्ध भिक्षु इस प्रकार के दानो को सहर्ष स्वीकार करते रहे है, और दाताओ की खूब प्रशसा भी करते रहे हैं।

सस्कृत-साहित्य के पुराणो मे भागवत पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ाना जाता है। उसमे कृष्ण जीवन पर बहुत लिखा गया है, साथ ही दान के विपय मे विस्तार से लिखा गया है। भागवत के दशम स्कन्ध के पञ्चम अध्याय मे, दान की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है "दान न करने से मनुष्य दरिद्र हो जाता है, दरिद्र होने से वह

पाप करने लगता है, पाप के प्रभाव से वह नरकगामी बन जाता है, और बार-बार दरिद्र तथा पापी होता रहता है।" दान न देने के कितने भयकर परिणाम भोगने पडते है। दान के अभाव मे मनुष्य का कैसा एव कितना पतन हो जाता है। फिर उससे अगले ही श्लोक मे दान के सद्भाव का वर्णन किया गया है "सत्पात्र को दान देने से मनुष्य धन-सम्पन्न हो जाता है, धनवान् होकर वह पुण्य का उपार्जन करता है, फिर पुण्य के प्रभाव से स्वर्गगामी बन जाता है, और फिर बार-बार धनवान् और दाता बनता रहता है।" इसमे बताया गया है, कि दान का परिणाम कितना सुन्दर और कितना सुन्दर होता है। दान न करने से क्या हानि हो सकती है और दान करने मे क्या लाभ हो सकता है ? गुण-दोषो का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है। अन्य पुराणो मे भी दान के सम्बन्ध मे यथाप्रसग काफी लिखा गया है। कही पर उपदेश के द्वारा, तो कही पर कथा के द्वारा दान की गरिमा तथा दान की महिमा का विशद निरूपण किया गया है। सत्पात्र को देने से पुण्य और अपात्र को देने से पाप होता है, इसका भी उल्लेख किया गया है। दाता की प्रशसा और प्रदाता की निन्दा भी की है।

सस्कृत के नीति-काव्यो मे दान की गरिमा

जैन परम्परा के कथात्मक नीति ग्रन्थो मे दान का बहुत विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। महाकवि धनपाल द्वारा रचित 'तिलकमञ्जरी' मे जीवन से सम्बद्ध प्राय सभी विषयो का वर्णन सुन्दर और मधुर शैली मे तथा प्राञ्जल भाषा मे हुआ है। उसमे दान की महिमा का वर्णन अनेक स्थलो पर किया गया है। दान का फल क्या है ? दान कैसे देना चाहिए ? दान किसको देना चाहिए ? इन विषयो पर विस्तार से लिखा गया है। आचार्य सोमदेवसूरि कृत 'यशस्तिलकचम्पू' मे धार्मिक, सास्कृतिक तथा अध्यात्म भावो का बडा ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है। सस्कृत साहित्य मे यह ग्रन्थ अद्वितीय एव अनुपम माना जाता है। मनुष्य जीवन से सम्बद्ध बहुविध सामग्री उसमे उपलब्ध होती है। साधु जीवन और गृहस्थ जीवन के सुन्दर सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। भाव, भाषा और शैली सुन्दर

ही है। उसमे यथाप्रसग अनेक स्थलो पर दान की महिमा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्य ग्रन्थो मे, कथात्मक ग्रन्थो मे और चरित्रात्मक ग्रन्थो मे भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का कही पर सक्षेप मे और कही पर विस्तार मे वर्णन हुआ है। जैन-परम्परा के नीति-प्रधान उपदेश ग्रन्थो मे तथा सस्कृत और प्राकृत के सुभाषित ग्रन्थो मे और धर्मग्रन्थो मे भी दान का बहुमुखी वर्णन उपलब्ध होता है। कुछ ग्रन्थ तो केवल दान के सम्बन्ध मे ही लिखे गये है। अत: दान के विषय पर लिखे गये ग्रन्थो की बहुलता रही है। नीतिवाक्यामृत और अर्हन्नीति जैसे ग्रन्थो मे अन्य विषयो के प्रतिपादन के साथ-साथ दान के विषय पर भी काफी प्रकाश डाला गया है, जो आज भी उपलब्ध होता है।

सस्कृत-साहित्य के नीति-प्रधान ग्रन्थो मे भर्तृहरिकृत शृंगार-शतक, वैराग्य-शतक तथा नीतिशतक जैसे मधुर नीति काव्यो मे मनुष्य जीवन को सुन्दर एव सुखद बनाने के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। भर्तृहरि ने अपने दीर्घ जीवन के अनुभवो के आधार पर जो कुछभी लिखा था, वह आज भी उतना ही सत्य एव जनप्रिय माना जाता है। उनके शतकत्रय मे दान के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा गया है। उन्होने दान को अमृत भी कहा है। दान मनुष्य जीवन का एक श्रेष्ठ गुण कहा गया है। मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखने वाले गुणो मे दान सबसे ऊँचा गुण माना गया है। एक स्थल पर कहा गया है—"मनुष्य के धन की तीन ही गति है—दान, भोग और नाश। जो मनुष्य न दान करता हो, न उपभोग करता हो, उसका धन पडा-पडा नष्ट हो जाता है। "सस्कृत के नीति काव्यो मे 'कवि-कण्ठाभरण' भी बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। उसमे दान के विषय मे विस्तार से वर्णन किया गया है। 'सुभाषित रत्नभाण्डागार' एक विशालकाय महाग्रन्थ है, जिसमे दान के विषय मे अनेक प्रकरण है। 'सूक्ति सुधा सग्रह' सुभाषित वचनो का एक सुन्दर सग्रह ग्रन्थ है, उसमे भी दान के सम्बन्ध मे बहुत लिखा गया है। 'सुभाषित सप्तशती' मे भी दान के विषय मे बहुत सुभाषित कथन मिलते है। 'सूक्ति त्रिवेणी' ग्रन्थ भी सूक्तियो का एक विशालकाय ग्रन्थ है, जिसमे सस्कृत, प्राकृत और पालि ग्रन्थो से सग्रह किया गया है। इसमे दान के विषय मे अद्भुत

सामग्री प्रस्तुत की गयी है । वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा के धर्मग्रन्थ और अध्यात्म ग्रन्थो से दान के विषय मे काफी सुन्दर सकलन किया गया है । यह प्रवक्ता, लेखक और उपदेशको के लिए एक सुन्दर कृति कही जा सकती है । एक ही इस ग्रन्थ मे तीन परम्पराओं के दान सम्बन्धी विचार उपलब्ध हो जाते हैं । अपने-अपने युग मे वैदिक, जैन और बौद्ध आचार्यों ने लोककल्याण के लिए, लोक मगल के लिए और जीवन उत्थान के लिए बहुत-से सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था । उनमे से दान भी एक मुख्य सिद्धान्त रहा है । प्रत्येक परम्परा ने दान के विषय मे अपने देश और काल के अनुसार दान की मीमासा की है, दान पर विचार-चर्चा की है और दान पर अपनी मान्यताओ का विश्लेषण भी किया है । दान की मर्यादा, दान की सीमा, दान की परिभाषा और दान की व्याख्या सबकी एक जैसी न भी हो, परन्तु दान को भारत की समस्त परम्पराओ ने सहर्ष स्वीकार किया है, उसकी महिमा का गान किया है ।

हिन्दी काव्य और दान

हिन्दी साहित्य की नीति-प्रधान कविताओ मे भी दान के विषय मे काफी लिखा गया है । 'तुलसी दोहावली', 'रहीम दोहावली' और 'बिहारी सतसई' तथा सूर के पदो मे भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का विस्तार से उल्लेख हुआ है । तुलसी का 'रामचरितमानस' तो एक प्रकार का सागर ही है, जिसमे दान के विषय मे अनेक स्थलो पर बहुत कुछ लिखा गया है । हिन्दी के अनेक कवियो ने इस प्रकार के जीवन चरितो की रचना भी की है, जिनमे विशेष रूप से दान की महिमा का ही वर्णन किया गया है । राम भक्त कवियो ने, कृष्ण भक्त कवियो ने और प्रेममार्गी सूफी कवियो ने अपने काव्य ग्रन्थो मे, दान के विषय मे यथाप्रसग काफी लिखा है । दान की कोई भी उपेक्षा नही कर सका है । कबीर ने भी अपने पदो मे और दोहो मे दान के विषय मे यथाप्रसग बहुत लिखा है । अपने एक दोहे मे कबीर ने कहा है—'यदि नाव मे जल बढ जाए और घर मे दाम बढ़ जाए तो उसे दोनो हाथो से बाहर निकाल देना चाहिए, बुद्धिमानो का यही समझदारी का काम है ।' तुलसी दोहावली मे भी दान के

विषय मे कहा गया है सरिता मे से, यदि पक्षी थोडा जल पान कर लेता है, तो क्या उसका पानी कम पड जाएगा ? नही। ठीक इसी प्रकार दान देने से भी धन घटता नही है।' स्वामी रामतीर्थ ने दान के सम्बन्ध मे कहा है—'दान देना ही धन पाने का एक मात्र द्वार है।' सन्त विनोबा ने कहा है—'बुद्धि और भावना के सहयोग मे जो क्रिया होती है, वही सुन्दर है। दान का अर्थ—फेकना नही, बल्कि बोना ही है।'

भारत के अपने धर्मों के समान बाहर से आकर पनपे ईसाई और मुस्लिम धर्मों मे भी दान का बडा ही महत्त्व माना गया है। बाइबिल और कुरान मे भी ईसा और मुहम्मद ने अनेक स्थलो पर दान की महिमा का यथाप्रसग वर्णन ही नही किया, बल्कि उस पर पर्याप्त बल भी डाला है। दान के अभाव मे ईसा मनुष्य का कल्याण नही मानते थे। ईसा ने प्रार्थना और सेवा पर विशेष बल दिया था, पर दान को भी कम महत्त्व नही दिया। बाइबिल मे दान के विषय

पाषाण हृदय को क्या मालूम कि दान मे कितनी मिठास है। जो बिना माँगे ही देता हो, वही श्रेष्ठ दाता है। एक कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है –'दान से सभी प्राणी वश मे हो जाते है, दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना हो जाता है। अधिक क्या कहे, दान सभी विपत्तियो का नाश कर देता है।' कवि के इस कथन से दान की गरिमा और दान की महिमा स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समग्र साहित्य दान की महिमा से भरा पडा है। ससार मे न कभी दाताओ की कमी रही है, और न दान लेने वाले लोगो की ही कमी रही है। दान की परम्परा ससार मे सदा चलती ही रहेगी।

आचार-शास्त्र मे दान की मीमासा

जैन-परम्परा के आचार-शास्त्र के ग्रन्थो मे, फिर भले ही वे ग्रथ सस्कृत भाषा मे हो, अथवा प्राकृत-अपभ्रश भाषा मे भी लिखे गए हो, सब ग्रन्थो मे आचार के सिद्धान्तो का प्रतिपादन कही पर सक्षेप मे और कही पर विस्तार मे किया गया है। साधु जीवन के आचार का भी वर्णन किया गया है। परन्तु इस प्रकार के ग्रन्थो की भी भूयसी सख्या है, जिनमे केवल श्रावक के आचार का ही वर्णन किया गया है। उन ग्रन्थो मे सागारधर्मामृत, वसुनन्दी श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, उपासकाध्ययन, ज्ञानार्णव, योग-शास्त्र तथा उपासकदशाग सूत्र मुख्य कहे जा सकते है। इनमे आचार के सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार के भेद-प्रभेदो का वर्णन किया गया है। त्यागी जीवन से सम्बद्ध सभी बातो का समावेश इन ग्रन्थो मे कर दिया गया है।

श्रावक के इस आचार मे दान का भी समावेश हो जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ मे दान की गरिमा और दान की महिमा का वर्णन किया गया है। उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है। बताया गया है, कि दान देना क्यो आवश्यक है? देना, जीवन के विकास का एक अनिवार्य सिद्धान्त है। दान देने से किस गुण की अभिवृद्धि होती है? दान किस प्रकार का होना चाहिए? दान का स्वरूप क्या है? दान के प्रकार कितने है? दाता के भाव कैसे रहने चाहिए? दान देते

समय दान लेने वाला पात्र अथवा ग्रहीता कैसा होना चाहिए ? जो वस्तु दी जा रही है, वह कैसी होनी चाहिए। दान देने की विधि क्या है ? इस प्रकार दान के सम्बन्ध मे बहुमुखी विचार इन ग्रन्थो मे किया गया है।

जैन-परम्परा के आचार्यों मे, जिन्होने आचार ग्रन्थ लिखे है, उनमे आचार्य अमितगति एक प्रसिद्ध आचार्य है। उनका ग्रन्थ है—'अमितगति श्रावकाचार।' इसमे बडे ही विस्तार के साथ दान की मीमासा की गई है। यह ग्रन्थ पञ्चदश परिच्छेदो मे विभक्त है। उसके नवम, दशम और एकादश परिच्छेदो मे दान से सम्बद्ध समस्त सिद्धान्तो का विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य विषयो की अपेक्षा, दान का विचार बहुत ही लम्बा है। दान के सम्बन्ध मे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किए गए है। दान का इतना विस्तार, अन्य किसी ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होता। ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि, सम्भवत. यह ग्रन्थ आचार्य ने दान की महिमा के लिए ही लिखा हो।

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ मे ही आचार्य ने कहा है—दान, पूजा, शील और उपवास ये चारो ही भवरूप वन को भस्म करने के लिए, आग के समान हैं। पूजा का अर्थ है—जिनदेव की भक्ति। भाव के स्थान पर पूजा का प्रयोग आचार्य ने किया है। दान क्रिया के पॉच अग माने गए है -दाता, देयवस्तु, पात्र, विधि और मति। यहॉ पर मति का अर्थ है विचार। बिना विचार के, बिना भाव के दान कैसे दिया जा सकता है ? आचार्य अमितगति ने दाता के सात भेदो का उल्लेख किया है -भक्तिमान् हो, प्रसन्नचित्त हो, श्रद्धावान् हो, विज्ञान सहित हो, लोलुपता रहित हो, शक्तिमान् हो और क्षमावान् हो। 'विज्ञान वाला हो' से अभिप्राय यह है कि दाता, द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव का ज्ञाता हो। अन्यथा, दान की क्रिया निष्फल हो सकती , अथवा दान का विपरीत परिणाम भी हो सकता है। दाता के कुछ विशेष गुणो का भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे उल्लेख किया है—विनीत हो, भोगो मे नि स्पृह हो, समदर्शी हो, प्रियवादी हो, मत्सर-रहित हो, सघवत्सल हो और वह सेवा परायण भी हो। दान की

महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है "जिस घर मे से योगी को भोजन न दिया गया हो, उस गृहस्थ के भोजन से क्या प्रयोजन ? कुबेर की निधि भी उसे मिल जाये, तो क्या ? योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा सयम से होती है, राजा की शोभा सत्य-वचन से और गृहस्थ की शोभा दान से होती है।" आचार्य ने यह भी कहा है जो भोजन करने से पूर्व साधु के आगमन की प्रतीक्षा करता है, साधु का लाभ न मिलने पर भी वह दान का भागी है।

विधि सहित दान का महत्त्व बताते हुए आचार्य ने कहा—"विधिपूर्वक दिया गया थोडा दान भी महाफल प्रदान करता है। जिस प्रकार धरती मे बोया गया छोटा-सा वट-बीज भी समय पर एक विशाल वृक्ष के रूप मे चारो ओर फैल जाता है, जिसकी छाया मे हजारो प्राणी सुख भोग करते है, उसी प्रकार विधि सहित छोटा दान भी महाफल देता है।" दान के फल के सम्बन्ध मे, आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है—"जैसे मेघ मे गिरने वाला जल एक रूप होकर भी नीचे आधार को पाकर अनेक रूप मे परिणत हो जाता है, वैसे ही एक ही दाता से मिलने वाला दान विभिन्न उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रो को पाकर विभिन्न फल वाला हो जाता है।" कितनी सुन्दर उपमा दी गई है। अपात्र को दिए गए दान के सम्बन्ध मे आचार्य ने कहा है—"जैसे कच्चे घडे मे डाला गया जल अधिक देर तक नही टिक पाता और घडा भी फूट जाता है, वैसे ही विगुण अर्थात् अपात्र को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है, और लेने वाला नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार ग्रन्थ मे और उसके दशम परिच्छेद मे दान, दान का फल आदि विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ विचार किया है।

एकादश परिच्छेद मे आचार्य ने विस्तार के साथ अभयदान, अन्नदान, औषधदान और ज्ञानदान—इन चार प्रकार के दानो का वर्णन किया है। वस्तुत देने योग्य जो वस्तु है, वे चार ही होती हैं, अभय, अन्न, औषध और ज्ञान अर्थात् विवेक। अभय को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अभय से बढकर अन्य कोई वस्तु इस जगत् मे हो नही सकती। भीत को अभय देना ही परमदान है। अन्न अर्थात् आहार

देना भी एक दान है । यह शरीर, जिससे मनुष्य धर्म की साधना करता है, बिना अन्न के कैसे टिक सकता है ? सयमी को, त्यागी को भी अपने सयम को स्थिर रखने के लिए अन्न की आवश्यकता पडती है । अन्न के अभाव मे साधना भी कब तक चल सकती है ? कितना भी बडा तपस्वी हो, कितना भी लम्बा तप किया जाए, आखिर अन्न की शरण मे तो जाना ही पडता हे । स्वस्थ शरीर से ही धर्म और कर्म किया जा सकता है । रुग्ण काय से मनुष्य न धर्म कर सकता है, और न कोई शुभ या अशुभ कर्म ही कर सकता है । आरोग्य परम सुख है । उसका साधन है, औपध । अत शास्त्रकारो ने औषध को भी दान मे परिगणित किया है, देय वस्तुओ मे उसकी गणना की है । ज्ञान, आत्मा का गुण है । वह तो सदा ही सप्राप्त रहता है । अत ज्ञान का अर्थ है, विवेक । विवेक का अर्थ हे–करने योग्य और न करने योग्य का निर्णय करना । यह शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है । जिसने शास्त्र नही पढे, उसे अन्धा कहा गया है । विधि और निषेध का निर्णय शास्त्र के द्वारा ही होता है । अत शास्त्र का भी दान कहा गया है ।

इतिहास के संदर्भ मे दान-विचार

भारत देश एक धर्म प्रधान देश रहा है । भारत के जन-जन के जीवन मे धर्म के सस्कार गहरे और अमिट है । यहा का मनुष्य अपने कर्म को, धर्म की कसौटी पर कस कर देखता है । भारत का मनुष्य धन को, जन को, परिवार को, समाज को, अपने जीवन को भी छोड सकता है, परन्तु अपने धर्म को नही छोड सकता । धर्म उसे अत्यन्त प्रिय रहा है । धर्म के व्याख्याकार ऋषि एव मुनि सदा नगर से दूर वनो मे रहा करते थे । गुरुकुल और आश्रमो की स्थापना नगरो मे नही, दूर वनो मे की गई थी । गुरुकुल और आश्रमो मे हजारो छात्र तथा हजारो साधक रहा करते थे । भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था का प्रश्न बडा जटिल था । छात्रो के अध्ययन मे किसी प्रकार का विघ्न न हो, और साधको की साधना मे किसी प्रकार की बाधा न पडे इसलिए राजा और सेठ-साहूकार गुरुकुलो को और आश्रमो को दान दिया करते थे । दान के बिना सस्थाओ का चलना

कैसे सम्भव हो सकता था ? दान का प्रारम्भ इन गुरुकुलो और आश्रमो से हुआ था। फिर मन्दिर आदि धर्मस्थानो को तथा तीर्थ-भूमि को भी दान की आवश्यकता पडी। दान के क्षेत्रो का नया-नया विकास होता रहा और दान की सीमा का विस्तार भी धीरे-धीरे आगे बढता रहा।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि भारत के तीन विश्व-विद्यालय थे—नालन्दा, तक्षशिला और विक्रमशिला। इन विश्वविद्या-लयो मे हजारो छात्र अध्ययन करते थे और हजारो अध्यापक अध्या-पन कराते थे। ये सब विद्यालय भी दान पर ही जीवित थे, दान पर ही चला करते थे। दान के बिना इन सस्थाओ का जीवित रहना ही सम्भव नही था। राजा और सेठ-साहूकारो के उदार दान से ही ये सब चलते रहते थे। साहित्य रचनाओ मे भी दान की आवश्यकता पडती थी। अजन्ता की गुफाओ का निर्माण, आबू के कलात्मक मन्दिरो का निर्माण बिना दान के कैसे हो सकता था। दान एक व्यक्ति का हो, या फिर अनेक व्यक्तियो के सहयोग से मिला हो, पर सब था, दान पर अवलम्बित ही। कवि को यदि रोटी की चिन्ता बनी रहे, तो वह काव्य की रचना कर ही नही सकता। कलाकार यदि जीवन की व्यवस्था मे ही लगा रहे, तो कैसे कला का विकास होगा ? कवि को, दार्शनिक को, शिल्पी को और कलाकार को चिन्ताओ से मुक्त करना ही होगा, तभी वह निर्माण कर सकता है। इन समस्याओ के समा-धान मे से ही दान का जन्म हुआ है। व्यक्ति अकेला जीवित नही रह सकता, वह समाजगत होकर ही अपना विकास कर सकता है। अत दान की प्रतिष्ठा समाज के क्षेत्र मे निरन्तर बढती रही है। आज भी सस्थाओ को दान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कभी पहले थी। सस्था कैसी भी हो, धार्मिक, सामाजिक हो और चाहे राष्ट्रीय हो सब को दान की आवश्यकता रही है, और आज भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है। शान्तिनिकेतन, अरविन्द आश्रम, विवेकानन्द आश्रम और गाधीजी के आश्रम—इन सबका जीवन ही दान रहा है। जिसके दान का स्रोत सूख गया, उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। अत दान की आवश्यकता आज भी उतनी है, जितनी कभी पहले रही है। भारत के इतिहास मे अनेक सम्राटो का वर्णन आया

है, जिन्होंने जनकल्याण के लिए अपना सर्वस्व दान कर दिया था। सम्राट् अशोक के दान का उल्लेख स्तूपों पर और चट्टानों पर अंकित है। सम्राट हर्ष प्रति पञ्चवर्ष के बाद अपना सब कुछ दान कर डालते थे। सन्यासी, तपस्वी, मुनि और भिक्षुओं को सत्कारपूर्वक दान दिया जाता था। ब्राह्मणों को भी दान दिया जाता था। साधु, सन्यासी, भिक्षु और ब्राह्मण– ये चारों परोपजीवी रहे हैं। दान पर ही ये सब जीवित हैं। दान की परम्परा विलुप्त हो जाए, तो सब समाप्त हो जाए। स्मृति में कहा गया है, कि गृहस्थ जीवन धन्य है, जो सबके भार को उठाकर चल रहा है। गृहस्थ जीवन पर ही सब संस्थाएँ चल रही हैं। अन्य सब दानोपजीवी हैं, एकमात्र गृहस्थ ही दाता है। □

अहिंसा बनाम दया

महात्मा गांधी

अहिंसा और दया मे उतना ही अन्तर है जितना सोने मे और सोने के गहने मे, बीज मे और वृक्ष मे। जहा दया नही वहा अहिंसा नही। अत यो कह सकते है कि जिसमे जितनी दया है उतनी ही अहिंसा है। अपने पर आक्रमण करने वाले को मै न मारूँ, उसमे अहिंसा भी हो सकती है और नही भी। यदि उसे भयवश न मारूँ तो वह अहिंसा नही हो सकती। दयाभाव से ज्ञानपूर्वक न मारने मे ही अहिंसा है।

जो बात शुद्ध अर्थशास्त्र के विरुद्ध हो वह अहिंसा नही हो सकती। जिसमे परम अर्थ हो वह शुद्ध है। अहिंसा का व्यापार घाटे का व्यापार नही होता। अहिंसा के दो पलडो का जमा खर्च शून्य होता है। अर्थात् उसके दोनो पलडे समान होते है। जो जीने के लिए खाता है, सेवा करने के लिए जीता है, मात्र पेट पालने के लिए कमाता है वह काम करते हुए भी अक्रिय है। क्रियाहीन अहिंसा आकाश कुसुम के समान है क्रिया हाथ पैर से ही होती हो, ऐसा नही, मन हाथ-पैर की अपेक्षा बहुत ज्यादा काम करता है। विचार मात्र क्रिया है। विचार रहित अहिंसा हो ही नही सकती। अतएव ऐसा नही कहा जा सकता कि अहिंसा निष्क्रिय है और दया सक्रिय है, बल्कि दोनो ही सक्रिय है।

सर्वभक्षी जब दया से प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा निश्चित करता है तब उस हद तक वह अहिंसा धर्म का पालन करता है। इसके विपरीत जो रूढि के कारण मासादि नही खाता, वह अच्छा तो करता है लेकिन यह नही कहा जा सकता कि उसमे अहिंसा का भाव है ही। जहाँ अहिंसा है वहा ज्ञानपूर्वक दया होनी ही चाहिए।

लेकिन अहिंसा धर्म सच्चा धर्म हो तो व्यवहार मे हर तरह

उसका आचरण करना भूल नही बल्कि कर्त्तव्य है। व्यवहार और धर्म के बीच विरोध नही होना चाहिए। धर्म का विरोधी व्यवहार छोड देने योग्य है। सब जगह सब समय सम्पूर्ण अहिंसा सम्भव नही, ऐसा कहकर अहिंसा को एक ओर रख देना हिंसा, मोह और अज्ञान है। सच्चा पुरुषार्थ तो इसमे है कि हमारा आचरण सदा अहिंसा के अनुसार हो। इस तरह आचरण करने वाला मनुष्य अन्त मे परम पद प्राप्त करेगा, क्योकि वह सम्पूर्णतया अहिंसा का पालन करने योग्य बनेगा और यो देहधारी के लिए सम्पूर्ण अहिंसा बीज रूप ही रहेगी। देह धारण के मूल मे ही हिंसा है इसी कारण देहधारी के पालने योग्य धर्म का सूचक शब्द निषेधात्मक अहिंसा के रूप मे प्रकट हुआ है।

(नव जीवन से साभार)

साराश

(1) अहिसा और दया मे उतना ही अन्तर है, जितना सोने और सोने के गहने मे, बीज और वृक्ष मे। (2) जहा दया नही वहा अहिसा नही है। (3) क्रियाहीन (निषेधात्मक) अहिंसा आकाश कुसुम के समान है कारण कि विचार मात्र क्रिया है और विचार रहित अहिसा नही हो सकती (4) हिसा का पूर्ण त्याग ही अहिंसा नही है, हिसा मे कमी करना, घटाना, सीमित करना भी अहिसा का विस्तार है। □

करुणा के विविध रूप

[] मुनि श्री भद्रगुप्त विजय जी

ससार के प्रत्येक जीवात्मा को मित्र मान लिया, मित्र के प्रति स्नेह जाग्रत हो गया, फिर यदि मित्र दु ख मे आ गया तो उसका दु ख दूर करने की भावना पैदा होगी ही। 'परदु खविनाशिनी करुणा' करुणा दूसरो के दु ख मिटाने की प्रेरणा देती ही है। मित्र का दु ख कैसे देखा जाय ! मित्र दु ख मे हो और अपन चैन मे रहे, ऐसा हो सकता है क्या ?

आत्मा की क्रमिक विकास यात्रा मे जब आत्मा काल की अपेक्षा से चरम 'पुद्गल परावर्त' मे आता है यानी 'अब वह निश्चित-निर्धारित काल मे मोक्ष पायेगा,' ऐसा केवलज्ञानी की दृष्टि मे निश्चित होता है, तब उस जीवात्मा मे तीन विशेषताएं प्रकट होती है।

1 दु खी जीवो के प्रति अत्यन्त दया।
2 गुणवान् पुरुषो के प्रति अद्वेष, और
3 सर्वत्र उचित प्रवृत्ति का पालन।

देखिये, यहाँ सर्व प्रथम बात कौन-सी बतायी ? दया बतायी न ? दया कहो, करुणा कहो, एक ही बात है। मामूली दया नही, अत्यन्त दया होती है उस जीवात्मा मे। मामूली करुणा और अत्यन्त करुणा का भेद समझ लो। दु खी जीव को देखकर हृदय मे विचार आये कि 'बेचारा दु खी है, कुछ दू भूखा है चवन्नी दे दू खा लेगा कुछ !'' यह हुई मामूली करुणा ! चू कि आप के पास उसको भर-पेट खिलाने के पैसे होते हुए भी आपने चवन्नी देकर ही सतोष कर लिया ! अत्यत करुणा क्या करवाती है, जानते हो ? उसको पेटभर के खिलायेगा। चाहे एक रुपया लगो या दो रुपया लगो। करुणा के चार प्रकार 'षोडशक' ग्रन्थ मे आचार्यदेव ने बताये है

1 मोहयुक्त-करुणा
2 असुख-करुणा
3. सवेग करुणा
4 अन्यहित-करुणा

इन चारो प्रकार की करुणा को समझ लो। करुणा का इतना तल-स्पर्शी विवेचन दूसरे ग्रन्थो मे नही मिलता है। हरिभद्रसूरिजी ने मनोवैज्ञानिक ढग से 'षोडशक' मे बहुत ही अच्छा विवेचन किया है।

1 **मोहयुक्त करुणा**—एक करुणा मोह अथवा अज्ञानमूलक होती है। जैसे, एक मा है, उसका लडका बीमार पडा, वैद्य-डॉक्टर ने कहा है . 'इस बच्चे को मिठाई मत खिलाना, तला हुआ कोई पदार्थ मत खिलाना।' घर मे मिठाई बनी है, लडका मिठाई मागता है मा को लडके के प्रति खूब प्रेम है, प्रेम के बहाव मे वह लडके को मिठाई खिला देती है। इसको अज्ञानमूलक, मोहजन्य करुणा कहते है। माता को ज्ञान नही कि मिठाई खाने से लडके का ज्वर बढ जायेगा, बीमारी बढ जायेगी ···।' स्वास्थ्य विषयक अज्ञानता के कारण वह खिला देती है मिठाई।

2 **असुख-करुणा**—असुख यानी दु ख। जिसके पास सुख के साधन नही है, रहने को घर नही, पहनने को वस्त्र नही, खाने को अन्न नही ऐसे मनुष्यो को मकान, वस्त्र, भोजन आदि देना, करुणा का दूसरा प्रकार है। कोई बीमार है, उसको दवाई देना, सेवा करना, किसी की सकट मे सहायता करना, उपद्रव से मुक्त करना वगैरह का करुणा के दूसरे प्रकार मे ही समावेश होता है।

दु.खी जीवो के प्रति हृदय मे अत्यन्त करुणा होनी चाहिए। जिस मनुष्य मे ऐसी करुणा होती है, वह अपने सुख-दु ख का विचार नही करता है। अपना सुख देकर भी वह दूसरो के दु ख दूर करने का प्रयत्न करता है।

3 **सवेग-करुणा**—सवेग का अर्थ होता है मोक्ष की अभिलाषा। जिस पुरुष मे ऐसी मोक्षाभिलाषा पैदा हुई हो, वह चाहता है कि 'मैं

अकेला ही मोक्ष मे जाऊँ इसमे क्या, सब जीव मोक्ष पाये परम सुख, परमानन्द, परम शान्ति प्राप्त करे तो बहुत अच्छा !' ऐसे महानुभावो मे, ससार के भौतिक सुखो से समृद्ध जीवो के प्रति भी करुणा होती है 'ये बेचारे ससार के सुखो मे लीन हो जायेंगे, राग-रग और भोगविलास मे डूब जायेंगे तो इनकी दुर्गति हो जायेगी भविष्य मे दु खी हो जायेंगे मैं उनको इन क्षणिक सुखो का त्यागी बना दू अथवा मैं चाहता हूँ कि वे इन सुखो के त्यागी बने !'

4 अन्यहित-करुणा--इस करुणा का क्षेत्र विशाल है। अपितु सर्व जीवो के प्रति हित कामना। सर्व जीवो के प्रति अनुकम्पा अनुग्रहपरकता। प्रीतिजन्य, स्नेहजन्य कोई सम्बन्ध से करुणा नही, अपितु सर्व जीवो के प्रति सहज, स्वाभाविक करुणा।

मोहजन्य करुणा का मैंने आपको उदाहरण एक ही दिया है, ऐसे अनेक उदाहरण है इसके। यह करुणा उपादेय नही है। ऐसी करुणा से दूसरे जीवो का हित नही होता है, अहित होता है। दूसरे जीव सुखी नही बनते, दु खी बनते है। इसलिये करुणा ज्ञानजन्या होनी चाहिए। 'अपने उपाय से सामने वाला जीव सुखी बनेगा या दु खी, इसका ज्ञान होना चाहिए अपने को। दु ख दूर करने के उपायो का सही ज्ञान होना चाहिए। यदि ऐसा ज्ञान नही हो तो 'इसका दु ख दूर हो', इतनी सद्भावना रखनी चाहिए।

दु खी जीवो के प्रति निर्दयता, कृपाहीनता, उपेक्षावृत्ति, मन की एक बहुत बडी अशुद्धि है मलीनता है। 'वह दु खी है तो मैं क्या करू ? उसके ऐसे पापकर्म होगे, अत भोग रहा है।' यह सोचना घोर निर्दयता है। 'वह तो दु खी होना ही चाहिए--उसने कईयो को दु ख दिये हैं· अब उसको मरने दो·· ।' यह निष्ठुर हृदय का विचार है। 'मुझे उससे क्या लेना-देना है ? वह सुखी हो तो भले, दु खी हो तो भले ।' यह उपेक्षावृत्ति है, मन की रोगी अवस्था है। ऐसा मन धर्म आराधना के लिए योग्य नही है। दु खी जीवो के प्रति अत्यन्त दया-करुणा होना अनिवार्य माना गया है धर्मक्षेत्र मे। दया और करुणा के बिना धर्मक्षेत्र मे प्रवेश नही हो सकता है।

दूसरा मनुष्य भूखा मर रहा हो और आप मजे से मिठाई खा सकते हो ? दूसरा मनुष्य नगा फिर रहा हो और आप खूब शृगार सजा सकते हो ? दूसरा व्यक्ति रास्ते मे धूली पर सो रहा हो और आप बगले मे 'डनलप' की गद्दी पर सो सकते हो ? दूसरा मनुष्य रोग और व्याधि से कराह रहा हो और आप आनन्द प्रमोद कर सकते हो ? यदि 'हा' तो आपका हृदय निर्दय है, करुणाहीन है, आप परमात्मा जिनेश्वरदेव का धर्म पाने के पात्र नही हो। पात्रता के बिना धर्म पाया नही जा सकता। धर्म आत्मसात् नही बनता।

यदि आप दूसरे जीवो के दुःख से दुःखी होते हो, यदि आप दूसरो के दुःख दूर करने का प्रयत्न करते हो, अपना सुख देकर भी दूसरो को दुःखमुक्त करने का कार्य करते हो तो आप सुपात्र है, आपकी कोमल आत्मा मे धर्मतत्त्व का प्रवेश होगा। मृदु जमीन मे पानी उतर जाता है, पथरीली जमीन मे पानी प्रवेश नही पाता है।

ससार मे दुःखी जीव दो प्रकार के होते है, एक द्रव्य से दुःखी, दूसरे भाव से दुःखी। जिनके पास खाने को नही, पीने को नही, पहनने को नही, वे लोग द्रव्य से दुःखी है। शरीर रोगी है, निर्धनता है, अनाथता है यह सब द्रव्य दुःख है यानी बाह्य दुःख है। जिनके जीवन मे धर्म नही है, पाप है, वे भाव से दुःखी है। हिंसा करते है, चोरी करते है, दुराचारी है, परिग्रही है, क्रोध करते है, अभिमान करते है, माया-कपट करते है ये सब आन्तर दुःखी है। पापाचरण करने वाले आन्तर दुःखी है। पापकर्म के उदय से जो दुःखी है वे बाह्य दुःखी हैं। जिनको पापकर्मों का उदय है और यहा भी पापाचरण करते है वे बाह्य और आन्तर दोनो दृष्टि से दुःखी है। ऐसे भी जीव ससार मे बहुत है, जो यहा दुःखी है फिर भी पापाचरण नही छोडते। ऐसे जीव करुणापात्र हैं।

ऐसे जीवो के प्रति अपने हृदय मे करुणा होनी चाहिए। 'मोहमूढ बनकर यह बेचारा पाप करता है दुर्गति मे चला जायेगा, घोर दुःख पायेगा ' ऐसा विचार करना चाहिए। 'मेरा वश चले तो मैं उसको पापो से रोक दू, पापो से बचा लू भले, मुझे कष्ट उठाना पडे तो

उठाऊंगा परन्तु उसको बचा लूं ।' ऐसा विचार करना चाहिए।

धनवान है, परन्तु दान नही देता, तन्दुरस्त है, परन्तु तप नही करता बूढा हो गया है, परन्तु शीलव्रत का पालन नही करता है, समय एवं शक्ति है फिर भी परोपकार के कार्य नही करता है बुद्धि है फिर भी तत्त्वज्ञान पाने का पुरुषार्थ नहीं करता है ऐसे मनुष्य के प्रति धिक्कार या तिरस्कार नही करना चाहिए। आजकल तिरस्कार करना सामान्य बात बन गई है। द्वेषपूर्ण समालोचना करना साधारण बात बन गई है। चूंकि आजकल मनुष्य का हृदय करुणाहीन बनता जा रहा है। बाह्यदृष्टि से दुःखी जीवो के प्रति करुणा नही है तो आन्तर दृष्टि से दुःखी जीवो के प्रति करुणा करने की तो बात ही कहा ? निर्धन, रोगी, दीन-हीन जीवो के प्रति दया आती है क्या ? दूसरे नही, अपने स्नेही, अपने स्वजन ऐसी स्थिति मे आ गये हो, उनके प्रति भी दया आती है क्या ? एक भगत को मैंने कहा 'आपका भाई बहुत दुःखी स्थिति मे है, आप उसका सहाय करें तो उसकी स्थिति सुधर जाये।' झट भगत ने मुझे कहा 'महाराज सा आप उसको अच्छी तरह नहीं जानते। वह तो ऐसा ऐसा है ।' भगत ने अपने भाई की खूब बुराई की। मैंने कहा 'आपने अपने भाई मे जो जो बुराई बतायी, क्या आप मे ऐसी कोई बुराई नही है ? दूसरी बात, भाई बुरा है, उसका परिवार तो वैसा खराब नही है न ? आप परिवार को तो सहाय कर सकते हैं न ?' ऐसे है भगत लोग ! अब कहिए, आपसे क्या अपेक्षा रक्खूं ?

एक बात समझ लो, यदि हृदय मे मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भाव धारण नही किये तो आपकी कोई भी धर्मक्रिया 'धर्म' नही बनेगी। आपको ऐसी भावशून्य क्रियायें दुर्गति से नही बचायेगी। आप विश्वास मे रह जाओगे कि 'इतनी इतनी धर्मक्रियाये करते है अपन नरक मे नही जायेंगे।' परन्तु आप नही बच सकोगे। इसलिये कहता हूँ कि मैत्री वगैरह भावनाओ का अभ्यास करो, आत्मसात् करो। चित्त को शुद्ध करो। शुद्ध चित्त ही धर्म है। शुद्ध चित्त ही पुण्यानुबंधी पुण्य से पुष्ट बनता है। शुद्ध और पुष्ट चित्त ही मोक्ष-प्राप्ति का असाधारण कारण है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति

☐ प सुखलाल सघवी

निवृत्ति-प्रवृत्ति

जैन कुल मे जन्म लेनेवाले वच्चो मे कुछ ऐसे सुसस्कार मातृ स्तन्यपान के साथ वीजरूप मे आते ह जो पीछे मे अनेक प्रयत्नो के द्वारा भी दुर्लभ है। उदाहरणार्थ निर्मास भोजन, मद्य जैसी नशीली चीजो के प्रति घृणा, किसी को न सताने की तथा किसी के प्राण न लेने की मनोवृत्ति तथा केवल असहाय मनुष्य को ही नही, वल्कि प्राणिमात्र को सभवित सहायता पहुँचाने की वृत्ति। जन्मजात जैन व्यक्ति मे उक्त सस्कार स्वत सिद्ध होते हुए भी उनकी प्रच्छन्न शक्ति का भान सामान्य रूप से खुद जैनो मे भी कम पाया जाता है, जवकि ऐसे ही सस्कारो की भित्ति पर महावीर, बुद्ध, क्राईस्ट और गांधीजी जैसो के लोक-कल्याणकारी जीवन का विकास हुआ देखा जाता है। इसलिये हम जैनो को अपने विरासती सुसस्कारो को पहिचानने की दृष्टि का विकास करना सवसे पहले आवश्यक है। अनेक लोग सन्यास-प्रधान होने के कारण जैन-परम्परा को केवल निवृत्ति-मार्गी समझते है और कम समझदार खुद जैन भी अपनी धर्म परम्परा को निवृत्ति-मार्गी मानने-मनवाने मे गौरव लेते है। इससे प्रत्येक नई जैन पीढी के मन मे एक ऐसा अकर्मण्यता का सस्कार जाने-अनजाने पडता है जो उसके जन्मसिद्ध अनेक सुसस्कारो के विकास मे वाधक वनता है। इसलिए प्रस्तुत मौके पर यह विचार करना जरूरी है कि वास्तव मे जैन परम्परा की दृष्टि से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का सच्चा माने क्या है।

उक्त प्रश्नो का उत्तर हमे जैन सिद्धान्त मे भी मिलता है और जैन परम्परा के ऐतिहासिक विकास मे से भी।

सैद्धान्तिक दृष्टि

जैन सिद्धान्त यह है कि साधक अथवा धर्म का पालक व्यक्ति

प्रथम अपना दोष दूर करे, अपने आपको शुद्ध करे—तब उसकी सत्-प्रवृत्ति सार्थक बन सकती है। दोष दूर करने का अर्थ है दोष से निवृत्त होना। साधक का पहला धार्मिक प्रयत्न दोष या दोषों से निवृत्त होने का ही रहता है। गुरु भी पहले उसी पर भार देते हैं। अतएव जितनी धर्म प्रतिज्ञाये या धार्मिक व्रत हैं, वे मुख्यतया निवृत्ति की भाषा मे हैं। गृहस्थ हो या साधु, उसकी छोटी-मोटी सभी प्रतिज्ञाये, सभी मुख्य व्रत दोष निवृत्ति से शुरु होते हैं। गृहस्थ स्थूल प्राणहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल परिग्रह आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेता है और ऐसी प्रतिज्ञा निबाहने का प्रयत्न भी करता है। जबकि साधु सब प्रकार की प्राणहिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेकर उसे निबाहने का भरसक प्रयत्न करता है। गृहस्थ और साधुओं की मुख्य प्रतिज्ञाएँ निवृत्तिसूचक शब्दों मे होने से तथा दोष से निवृत्त होने का उनका प्रथम प्रयत्न होने से सामान्य समझवालों का यह ख्याल बन जाना स्वाभाविक है कि जैन धर्म मात्र निवृत्तिगामी है। निवृत्ति के नाम पर आवश्यक कर्त्तव्यों की उपेक्षा का भाव भी धर्म संघों मे आ जाता है। इसके और भी दो मुख्य कारण हैं। एक तो मानव-प्रकृति मे प्रमाद या परोपजीविता रूप विकृति का होना और दूसरा बिना परिश्रम से या अल्प परिश्रम से जीवन की जरूरतों की पूर्त्ति हो सके, ऐसी परिस्थिति मे रहना। पर जैन सिद्धान्त इतने मे ही सीमित नही है। वह तो स्पष्टतया यह कहता है कि प्रवृत्ति करे पर आसक्ति से नही, अनासक्ति से या दोषत्याग पूर्वक प्रवृत्ति करे। दूसरे शब्दो मे वह यह कहता है कि जो कुछ किया जाय वह यतनापूर्वक किया जाय। यतना के बिना कुछ न किया जाय। यतना का अर्थ है विवेक और अनासक्ति। हम इन शास्त्राज्ञाओं मे स्पष्टतया यह देख सकते हैं कि इनमे निषेध, त्याग या निवृत्ति का जो विधान है वह दोष के निषेध का है, न कि प्रवृत्ति मात्र के निषेध का। यदि प्रवृत्तिमात्र के त्याग का विधान होता तो यतना-पूर्वक जीवन मे प्रवृत्ति करने के आदेश का कोई भी अर्थ नही रहता और प्रवृत्ति न करना इतना मात्र कहा जाता।[1]

दूसरी बात यह है कि शास्त्र मे गुप्ति और समिति-ऐसे धर्म के दो मार्ग है। दोनो पर बिना चले धर्म की पूर्णता कभी सिद्ध नहीं हो

सकती। गुप्ति का मतलब है दोषो से मन, वचन, काया को विरत रखना और समिति का मतलब है विवेक से स्वपरहितावह सत्प्रवृत्ति को करते रहना। सत्प्रवृत्ति बनाए रखने की दृष्टि से जो असत्प्रवृत्ति या दोष के त्याग पर अत्यधिक भार दिया गया है उसी को कम समझ वाले लोगो ने पूर्ण मानकर ऐसा समझ लिया कि दोष निवृत्ति से आगे फिर विशेष कर्त्तव्य नही रहता। जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सच बात यह फलित होती है कि जैसे-जैसे साधना मे दोष-निवृत्ति होती और बढती जाए वैसे-वैसे सत्प्रवृत्ति की बाजू विकसित होती जानी चाहिए।

जैसे दोष-निवृत्ति के सिवाय सत्प्रवृत्ति असम्भव है वैसे ही सत्प्रवृत्ति की गति के सिवाय दोष निवृत्ति को स्थिरता टिकना भी असम्भव है। यही कारण है कि जैन-परम्परा मे जितने आदर्श पुरुष तीर्थंकर रूप से माने गये है उन सभी ने अपना समग्र पुरुषार्थ आत्म-शुद्धि करने के बाद सत्प्रवृत्ति मे ही लगाया है। इसलिये हम जैन अपने को जब निवृत्तिगामी कहे तब इतना ही अर्थ समझ लेना चाहिए कि निवृत्ति तो हमारी यथार्थ प्रवृत्तिगामी धार्मिक-जीवन की प्राथमिक तैयारी मात्र है।

मानस-शास्त्र की दृष्टि से विचार करे तो भी उपर्युक्त बात का ही समर्थन होता है। शरीर से भी मन और मन से भी चेतना विशेष शक्तिशाली या गतिशील है। अब हम देखे कि अगर शरीर और मन की गति दोषो से रुकी, चेतना का सामर्थ्य दोषो की ओर गति करने से रुका, तो उनकी गति-दिशा कौनसी रहेगी ? वह सामर्थ्य कभी निष्क्रिय या गति-शून्य तो रहेगा ही नही। अगर उस सदास्फूर्त सामर्थ्य को किसी महान् उद्देश्य की साधना मे लगाया न जाए तो फिर वह ऊर्ध्वगामी योग्य दिशा न पाकर पुराने वासनामय अधोगामी जीवन की ओर ही गति करेगा। यह सर्वसाधारण अनुभव है कि जब हम शुभ भावना रखते हुए भी कुछ नही करते तब अन्त मे अशुभ मार्ग पर ही आ पडते है। बौद्ध, साख्य, योग आदि सभी निवृत्ति-मार्गी कही जाने वाली धर्म-परम्पराओ का भी वही भाव है जो जैन धर्म-परम्परा का। जब गीता ने कर्मयोग या प्रवृत्ति मार्ग पर भार

दिया तब वस्तुत अनासक्त भाव पर ही भार दिया है।

निवृत्ति प्रवृत्ति की पूरक है और प्रवृत्ति निवृत्ति की। ये जीवन के सिक्के की दो बाजुए (पहलू) हैं। पूरक का यह भी अर्थ नही है कि एक के बाद दूसरी हो, दोनो साथ न हो, जैसे जागृति व निद्रा। पर उसका यथार्थ भाव यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति एक साथ चलती रहती हैं भले ही कोई एक अश प्रधान दिखाई दे। मन मे दोषो की प्रवृत्ति चलती रहने पर भी अनेक बार स्थूल जीवन मे निवृत्ति दिखाई देती है जो वास्तव मे निवृत्ति नही है। इसी तरह अनेक बार मन मे वासनाओ का विशेष दबाव न होने पर भी स्थूल जीवन मे कल्याण-वह प्रवृत्ति का अभाव भी देखा जाता है जो वास्तव मे निवृत्ति का ही घातक सिद्ध होता है। अतएव हमे समझ लेना चाहिए कि दोष निवृत्ति और सद्गुण प्रवृत्ति का कोई विरोध नही, प्रत्युत दोनो का साहचर्य ही धार्मिक जीवन की आवश्यक शर्त है। विरोध है तो दोषो से ही निवृत्त होने का और दोषो मे ही प्रवृत्त होने का। इसी तरह सद्गुणो मे ही प्रवृत्ति करना और उन्ही से निवृत्त भी होना, यह भी विरोध है।

असत्-निवृत्ति और सत्-प्रवृत्ति का परस्पर कैसा पोष्य-पोषक सम्बन्ध है, यह भी विचारने की वस्तु है। जो हिंसा एव मृषावाद से थोडा या बहुत अशो मे निवृत्त हो पर मौका पडने पर प्राणिहित की विधायक प्रवृत्ति से उदासीन रहता है या सत्य भाषण की प्रत्यक्ष जवाबदेही की उपेक्षा करता है वह धीरे-धीरे हिंसा एव मृषावाद की निवृत्ति से सचित बल भी गँवा बैठता है। हिंसा एव मृषावाद की निवृत्ति की सच्ची परीक्षा तभी होती है जब अनुकम्पा की एव सत्य भाषण की विधायक प्रवृत्ति का प्रश्न सामने आता है। अगर मैं किसी प्राणी या मनुष्य को तकलीफ नही देता पर मेरे सामने कोई ऐसा प्राणी या मनुष्य उपस्थित है जो अन्य कारणो से सकटग्रस्त है और उसका सकट मेरे प्रयत्न के द्वारा दूर हो सकता है या कुछ हलका हो सकता है, या मेरी प्रत्यक्ष परिचर्या एव सहानुभूति से उसे आश्वासन मिल सकता है, फिर भी मैं केवल निवृत्ति की बाजू को ही पूर्ण अहिंसा

मान लूँ तो मै तो खुद अपनी सद्गुणाभिमुख विकासशील चेतना शक्ति का गला घोटता हूं।

एकान्त निवृत्ति संभव नही

समाज कोई भी हो वह एक मात्र निवृत्ति की भूलभुलैयो पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न माननेवाले आखिर मे उस प्रवृत्ति के तूफान और आधी मे हो फसकर मर सकते ह तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय लिए बिना निवृत्ति हवा का किला ही बन जाता है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू है। दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तब तक कोई नही बच सकता जब तक वह दोपनिवृत्ति के साथ-ही-साथ सद्गुणो की ओर कल्याणमय प्रवृत्ति मे बल न लगावे। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और पुष्टि-कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नही रह सकता। उसे साथ-ही-साथ पथ्यसेवन करना चाहिए। शरीर से दूपित रक्त को निकालना जीवन के लिये अगर जरूरी है तो उतना ही जरूरी उसमे नए रुधिर का सचार करना भी है।

निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति

ऋषभ से लेकर आज तक निवृत्तिगामी कहलाने वाली जैन-सस्कृति भी जो किसी-न-किसी प्रकार जीवित रही है वह मात्र निवृत्ति के बल पर नही, किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे पर। यदि प्रवर्तक-धर्मी ब्राह्मणो ने निवृत्ति मार्ग के सुन्दर तत्त्वो को अपनाकर एक व्यापक कल्याणकारी सस्कृति का ऐसा निर्माण किया है जो गीता मे उज्जीवित होकर आज नए उपयोगी स्वरूप मे गाधीजी के द्वारा पुन अपना सस्करण कर रही है तो निवृत्तिलक्षी जैन-सस्कृति को भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्ति का सहारा लेकर ही आज की बदली हुई परिस्थिति मे जीना होगा। जैन-सस्कृति मे तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम है और वह जिन आदर्शों को आज तक पूँजी मानती आई है उनके आधार पर वह प्रवृत्ति का ऐसा मगलमय योग साध सकती हे जो सबके लिए क्षेमकर हो।

जैन-परम्परा मे प्रथम स्थान है त्यागियो का, दूसरा स्थान है गृहस्थो का। त्यागियो को जो पाच महाव्रत धारण करने की आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्गुणो मे प्रवृत्ति करने की या सद्गुण-पोषक-प्रवृत्ति के लिए बल पैदा करने की प्राथमिक शर्त मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषो से बिना बचे सद्गुणो मे प्रवृत्ति हो ही नही सकती और सद्गुणपोषक प्रवृत्ति को जीवन मे स्थान दिये बिना हिंसा आदि से बचे रहना भी सर्वथा असम्भव है। इस देश मे जो लोग दूसरे निवृत्ति-पथो की तरह जैन-पथ मे भी एक मात्र निवृत्ति की ऐकान्तिक साधना की बात करते है वे उक्त सत्य भूल जाते है। जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतो को धारण करने की शक्ति नही रखते उनके लिए जैन-परम्परा मे अणुव्रतो की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थो के लिए हिंसा आदि दोषो से अंशत बचने का विधान किया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषो से बचने का अभ्यास करे। किन्तु साथ ही यह आदेश है कि जिस जिस दोष को वे दूर करे उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणो को जीवन मे स्थान देते जाएँ। हिंसा का दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन मे व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी ? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण पोषक प्रवृत्तियो मे अपने आप को खपाना ही होगा। इस बात को ध्यान मे रखकर जैन-संस्कृति पर यदि आज विचार किया जाए तो आजकल की कसौटी के काल मे जैनो के लिए नीचे लिखी बाते कर्तव्यरूप फलित होती है।

जैन-वर्ग का कर्त्तव्य

1—देश मे निरक्षरता, वहम और आलस्य व्याप्त है। जहाँ देखो वहाँ फूट ही फूट है। शराब और दूसरी नशीली चीजे जड पकड बैठी है। दुष्काल, अति-वृष्टि, परराज्य और युद्ध के कारण मानव-जीवन का एक मात्र आधार पशुधन नाम शेष हो रहा है। अतएव इस सबध मे विधायक प्रवृत्तियो की ओर सारे त्यागी वर्ग का ध्यान जाना चाहिए।

2—देश मे गरीबी और बेकारी की कोई सीमा नही है। खेती-

बाडी और उद्योग धन्धे अपने अस्तित्व के लिए बुद्धि, धन, परिश्रम और साहस की अपेक्षा कर रहे है। अतएव गृहस्थो का यह धर्म हो जाता है कि वे सपत्ति का उपयोग तथा विनियोग राष्ट्र के लिए करे। वे गाँधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अमल मे लाएँ। बुद्धिसपन्न और साहसिको का धर्म है कि वे नम्र बनकर ऐसे ही कामो मे लग जाएँ जो राष्ट्र के लिए विधायक है। दलितो और अस्पृश्यो को भाई की तरह बिना अपनाए कौन यह कह सकेगा कि मैं जैन हूँ ? खादी और ऐसे दूसरे उद्योग जो अधिक से अधिक अहिंसा के नजदीक है और एक मात्र आत्मौपम्य एव अपरिग्रह धर्म के पोषक है उनको उत्तेजना दिये बिना कौन कह सकेगा कि मैं अहिंसा का उपासक हूँ ? अतएव उपसहार मे इतना ही कहना चाहता हूँ कि जैन लोग, निरर्थक आडम्बरो और शक्ति के अपव्ययकारी प्रसगो मे अपनी सस्कृति सुरक्षित है, यह भ्रम छोडकर उसके हृदय की रक्षा का प्रयत्न करे, जिसमे हिन्दू और मुसलमानो का ही क्या, सभी कौमो का मेल भी निहित है।

सस्कृति का सकेत

सस्कृति-मात्र का सकेत लोभ और मोह को घटाने व निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी सभव ही नही, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करनेवाली है वे आसक्तिपूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी सभव हैं। अतएव सस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का सकेत करती है। जैन-सस्कृति यदि सस्कृति-सामान्य का अपवाद बने तो वह विकृत बनकर अत मे मिट सकती है।

सदर्भ

1 यद्यपि शास्त्रीय शब्दो का स्थूल अर्थ साधु-जीवन का आहार, विहार, निहार सम्बन्धी चर्या तक ही सीमित जान पडता है पर इसका तात्पर्य जीवन के सब क्षेत्रो की सब प्रवृत्तियो म यतना लागू करने का है। अगर ऐसा तात्पर्य न हो, तो यतना की व्याप्ति इतनी कम हो जाती है कि फिर वह यतना अहिंसा सिद्धान्त की समर्थ बाजू बन नही सकती। समिति शब्द का तात्पर्य भी जीवन की सब प्रवृत्तियो मे है, न कि शब्दो मे गिनाई हुई केवल आहार-विहार-निहार जैसी प्रवृत्तियो से।

निवृत्ति एवं प्रवृत्तिपरक अहिंसा

□ महासती श्री पुष्पवतीजी म

निवृत्ति-प्रवृत्ति का रहस्य

यह सत्य है कि अहिंसा निवृत्त्यात्मक भी है, लेकिन किसी की हिंसा न करने मे ही अहिंसा परिसमाप्त नही हो जाती। यह तो उसका एक पक्ष है, निवृत्तिरूप है। अहिंसा की धारा इतने मे ही अवरुद्ध नही है। अहिंसा अगर प्रवृत्तिशून्य ही है तो उससे समाज मे निष्क्रियता, जडता एव असामाजिकता ही पैदा होगी। किन्तु समाज मे पारस्परिक सहयोग का कार्य प्रवृत्ति के विना चल नही सकता। मनुष्य के सामने परिवार, समाज, धर्म, सघ और राष्ट्र का उत्तर-दायित्व है, सेवा का क्षेत्र है। प्रवृत्तिशून्य अहिंसा को पकडने से यह उत्तरदायित्व कैसे पूर्ण हो सकता है ?

इसलिए जैनधर्म की अहिंसा न एकान्त निवृत्तिपरक है और न एकान्त प्रवृत्तिपरक। निवृत्ति उसका एक पहलू है, जबकि उसका दूसरा पहलू प्रवृत्ति है। वह निवृत्ति की आधारभूमि पर प्रवृत्ति (विधि) का रूप लेकर आगे बढती है। अहिंसा के ये दोनो रूप एक दूसरे की अपेक्षा रखते है। अहिंसा भगवती के निवृत्ति और प्रवृत्ति ये दोनो ही चरण है। निवृत्ति, प्रवृत्ति के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार करती है, वह प्रवृत्ति के लिए दिशानिर्देश करती है। प्रवृत्ति से पहले निवृत्ति, प्रवृत्ति मे विशुद्धि लाने के लिए आवश्यक है। विधेया-त्मक अहिंसा मे प्रवृत्त होने से पहले व्यक्तिगत जीवन मे हिंसा के द्रव्य-भावात्मक दोनो पहलुओ से निवृत्ति हुई है या नही ? यह देखना बहुत आवश्यक है। अगर अहिंसा के साधक की हिंसा के दोषो से विरति नही हुई है और वह लोककल्याण, समाज-सेवा या सामाजिक चेतना के अभ्युदय के लिए प्रवृत्त होगा तो उसकी वह प्रवृत्ति विशुद्ध नही हो सकेगी। किन्तु जब साधक अपने मर्यादाहीन व्यक्तिगत स्वार्थ, मोह, द्वेष, कषाय आदि हिंसा के रूपो से निवृत्त होकर समाज-सेवा या राष्ट्र-सेवा या समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करेगा तो उसकी

वह प्रवृत्ति विशुद्ध होगी, अहिंसा से पुनीत होगी, उसका जीवन और अन्तःकरण भी उक्त प्रवृत्ति से निर्मल होगा। व्यक्तिगत आकाक्षाओ, फलासक्ति एव देहासक्ति से निवृत्ति लेकर अहिंसा की विधेयात्मक प्रवृत्ति करना ही जैनदर्शन का नैतिक विधान है। इसका हार्द यही है कि व्यक्तिगत जीवन मे हिसाजन्य दोषो से निवृत्ति और सामाजिक जीवन मे लोकहिताय प्रवृत्ति हो। श्रावक, लोकसेवक, समाज या राष्ट्र का सेवक व्यक्तिगत स्वार्थों, कषायो आदि से दूर रहे और समाज या राष्ट्र की सेवा मे प्रवृत्त हो, यही निवृत्ति का रहस्य है।

अहिसा चारित्र का एक अग है। साधक के चारित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमे निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो को बराबर का स्थान दिया गया है। चारित्र न तो एकान्त निवृत्तिरूप है और न ही एकान्त प्रवृत्तिरूप। चारित्र का लक्षण करते हुए कहा है—

'असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्त ।'[1]

अर्थात्—अशुभ कार्यों, बुरे सकल्पो, दुर्वचनो एव कुत्सित आचरणो से निवृत्ति करना और शुभ कार्यों, शुभ सकल्पो, सुवचनो एव सदाचरणो मे प्रवृत्ति करना ही चारित्र है।

साधक के लिए कहा गया है-"वह एक ओर से विरति (निवृत्ति) करे और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करे। असयम से निवृत्ति करे और सयम मे प्रवृत्ति करे।"[2]

साराश यह है कि एक ओर किसी को कष्ट, दु ख या पीडा न पहुँचाओ, मारो-पीटो या सताओ मत, न किसी से वैर, द्वेष, मोह, ईर्ष्या आदि रखो, और न किसी से दुर्वचन या कटुवचन कहो, न ही किसी के प्रति बुरा सकल्प व दुश्चिन्तन ही करो। यह अहिंसा का निवृत्तिपरक पहलू है। दूसरी ओर प्राणिमात्र की सेवा, दया, करुणा, क्षमा, प्रेम, मैत्री, समर्पण आदि करना, पीडित जनो की पीडा दूर करना, उन्हे उचित सहयोग देना, स्वय जीना और दूसरो को जिलाना आदि अहिंसा का प्रवृत्तिपरक पहलू है। यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रमण की अपनी मर्यादा है उसी मे रहकर वह दूसरो की सेवा आदि

कर सकता है, मर्यादा का अतिक्रमण करके नही। इसी प्रकार श्रावक की भी मर्यादाएँ है, किन्तु गृहस्थ होने के नाते सामाजिक कर्त्तव्यो को निभाना उसके लिए ग्रावश्यक ह। ग्रत उसके लिए सेवा ग्रादि का विस्तृत क्षेत्र खुला रहता है।

इसलिए ग्रगर ग्राप ग्रहिंसा के सिर्फ नकारात्मक (निवृत्तिरूप) पहलू पर ही सोचेगे तो यह ग्रहिंसा की ग्रधूरी समझ होगी। ग्रहिंसा की सम्पूर्ण साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना ग्रादि विधेयात्मक पक्ष पर भी भलीभाँति विचार करना चाहिए। जैनागम प्रश्नव्याकरणसूत्र मे जहाँ ग्रहिंसा के 60 एकार्थक नाम दिये ह वहाँ दया, खती (क्षमा) रक्खा (रक्षा), ग्रभय, समिई (समिति), जण्णो (यज्ञ) ग्रादि विधेयात्मक (प्रवृत्तिपरक) नामो का भी निर्देश किया गया है। इसके ग्रतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र मे, मित्ती भूएमु कप्पए' (प्राणिमात्र के साथ मैत्री करो), 'वेयावच्च' (वैयावृत्य–सेवा), समता, दशवैकालिक सूत्र मे सर्वभूतात्मभूत, दया ग्रादि शब्द ग्रहिंसा के सन्दर्भ मे प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए ग्रहिंसा प्रवृत्ति-निवृत्ति—उभयात्मक हे। यदि वह प्रवृत्त्यात्मक नही हे तो ग्रकेली निवृत्ति का न तो कोई मूल्य हो है, न ग्रस्तित्व ही। ग्रनुकम्पा, ग्रभयदान, सेवा ग्रादि शब्द भी ग्रहिंसा के प्रवृत्तिप्रधान रूप है। ग्रहिंसा शब्द भाषा-शास्त्र की दृष्टि से निषेधवाचक जरूर है, लेकिन गहन चिन्तन के बाद स्वीकार करना होगा कि ग्रहिंसा प्रवृत्तिपरक या विधेयात्मक भी है। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनो मे ग्रहिंसा समाहित है, दोनो मे ग्रन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो केवल निवृत्ति को ही प्रधान मानकर चलता है, वह ग्रहिंसा की सम्पूर्ण साधना नही कर सकता, न ही ग्रहिंसा की ग्रात्मा को परख सकता है।

प्रवृत्ति की सीमा

जैनधर्म कहता है—प्रवृत्ति करो, पर वह निवृत्तिमूलक होनी चाहिए। यानी प्रवृत्ति (विधेयात्मक ग्रहिंसामय) करते समय पहले देखो कि उस प्रवृत्ति से पहले निषेधात्मक ग्रहिंसा (निवृत्ति) तुम्हारे जीवन मे ग्राई या नही ?

मान लीजिए, एक व्यक्ति धनाढ्य है। वह दान करता है, उसने यात्रियो के लिए धर्मशाला बनवा दी है, गरीबो की सेवा के लिए उसने कोई सस्था खोल दी है। किन्तु दूसरी ओर से वह शोषण का कुचक्र भी चला रहा है, अपने नौकरो से उनके सामर्थ्य से अधिक काम लेता है, जरा-सी देर से आने पर वेतन काट लेता है। तो ये बाते उस सेवा और दान के साथ कैसे मेल खा सकती है? यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई एक बोतल रक्त निकालकर बदले मे एक-दो बूँदे रक्त दे दे, या सौ दो सौ घाव करके एक-दो घावो पर मरहम-पट्टी कर दे। अत ऐसे दान और ऐसी सेवा का क्या अर्थ है?

दूसरी बात यह है कि कोई व्यक्ति समाजकल्याण की प्रवृत्ति करे, लेकिन उसके साथ अपना स्वार्थ पूरा करने, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्त्वाकाक्षा न हो, अपना चारित्र-दोष दबाकर जनता की नजरो मे धर्मात्मा, दयालु या सेवाभावी बनने की कल्पना न हो, अथवा सेवा, दया आदि के साथ अपना चारित्रिक पतन न करे, किसी सत्ताधीश या धनाढ्य के मुलाहिजे मे आकर उनकी चाटुकारिता करके उच्च पद या प्रतिष्ठा पाने के लिए लोकसेवा या राष्ट्रसेवा न करे या लोकसेवा के नाम पर अपना उल्लू न सीधा करे, धन न बटोरे। ये कुछ सीमाएँ है, प्रवृत्ति के साथ-साथ जिनका ध्यान रखना जरूरी है।

मान लीजिए, एक राष्ट्रसेवक दीन-दुखी या राष्ट्र के किसी पदाधिकारी की सेवा कर रहा है, उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ ऐसी बाते जरूरी हो रही है, जिनसे चारित्रिक पतन की या किसी कुव्यसन मे गिरने की सम्भावना है, ऐसी स्थिति मे कुछ राष्ट्र या उनकी सस्कृतियाँ तो वैसा करने के लिए सहमत हो जाती है, जैसे कि जापान मे जासूसी करने और दूसरे राष्ट्रो का भेद लेने के लिए दूसरे राष्ट्र के लोगो के पास ऐसी महिलाएँ भेजी जाती थी, जो उनके साथ अपने शील का सौदा करके उसके देश की गुप्त बाते निकलवा लेती थी। विदेश मे कई जगह ऐसी प्रथा है कि मेहमान को प्रसन्न करने के लिए गृहिणियाँ उसके साथ ताश खेलती है और अनाचार-सेवन करने के लिए भी प्रवृत्त हो जाती है। किन्तु जैन धर्म इस बात से जरा भी

सहमत नही है कि आप किसी शुभ अहिंसक प्रवृत्ति के साथ इस प्रकार की हिंसा, असत्य या कुशील-सेवन की प्रवृत्ति करें। फिर तो वह सारी ही शुभ प्रवृत्ति अशुद्ध और भावहिंसायुक्त हो जाएगी।

इसीलिए तो जैनधर्म विधेयात्मक अहिंसा की प्रवृत्ति करने से पहले निषेधात्मक अहिंसा के स्वीकार की बात कहता है। वह कहता है कि प्रवृत्ति तो करो, पर पहले अपने दोषो से निवृत्ति करके करो। आपका कर्त्तव्य है कि आप समाज या राष्ट्र की सेवा करें, दीन-दु खियो पर करुणा करें, जीवदया के कार्य करे, दूसरो के कल्याण के लिए अपनी सुख-सुविधाओ का बलिदान करे, अपने अधिकार की वस्तुओ को भी समर्पित कर दे, स्वय भूख-प्यास और नीद का कष्ट सहकर भी प्रसन्न रहे, परन्तु उस सेवा, करुणा, दया, परोपकार, दान या सहयोग के नाम पर अपना चरित्र न बेचे, अपने जीवन की उज्ज्वलता को दाँव पर न रखे, अपने जीवन को किसी दुर्व्यसन से ग्रस्त न बनाएँ अपने चरित्र और जीवन को किसी भी मूल्य पर कलकित न होने दे।

अपने चरित्र एव जीवन को पवित्र व उज्ज्वल रखते हुए सेवा, करुणा आदि जो कुछ भी विधेयात्मक अहिंसा की प्रवृत्ति की जाए, वह शुद्ध प्रवृत्ति होगी, नि स्वार्थ या निष्काम प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार की शुद्ध प्रवृत्ति ही समाज के एव अपने कल्याण के लिए उपादेय होती है। प्रवृत्ति की सीमा के सम्बन्ध मे जैनधर्म का यह स्पष्ट दृष्टिकोण है।

निवृत्ति की सीमा

इसी प्रकार जो निवृत्ति (निषेधात्मक अहिंसा) केवल निष्क्रियता पैदा करती हो, जो केवल अपने ही स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए या लोभवृत्ति से धारण की गई हो, वह निवृत्ति भी निरी आत्म-वचना है, अशुद्ध निवृत्ति है।

कई एकान्त निवृत्तिवादियो का यह कहना है कि कोई व्यक्ति दु खी या पीडित हो रहा हे, तो वह अपने ही कर्मों से हो रहा हे।

हमने उसको दु खी या पीडित नही किया और न ही ऐसा सकल्प किया कि वह दु खी या पीडित हो, ऐसी दशा मे अगर हम तटस्थ रहते है तो हमे कौन-सी हिसा या कौन-सा पाप लगेगा ?

इस प्रश्न का समाधान तो जैनधर्म ने पहले ही कर दिया है, 'मित्ती मे सव्वभूएसु', 'अप्पसम मन्निज छप्पि काए', आदि सेवा, दया, करुणा और मैत्री के ये पाठ जो प्रवृत्तिरूप है, वे किसलिए दिये है ? क्या वे केवल तटस्थ रहने के लिए दिये गये है ?

मान लीजिए, कोई जानवर आपके सामने मर रहा है। सम्भव है, उस समय आप दिल को कठोर बना कर बाहर से निवृत्ति भी कर ले, परन्तु ऐसे अवसर पर मन मे उसे बचाने के सकल्प स्वाभाविक रूप से आया करते है। अगर आप उन शुभ सकल्पो को जबरन दबाते है या उनकी उपेक्षा कर देते है, रक्षात्मक प्रवृत्ति नही करते है तो आपके हृदय मे प्रादुर्भूत दया कुचली जाती है। इस प्रकार अपनी आत्मा से ही अपनी आत्मा की बहुत बडी हिंसा हो जाती है। इस आत्महिसा को रोकना और अपने आपको उससे बचाना बहुत ही आवश्यक है।

एक जगह एक आदमी किसी को मार रहा है या एक आदमी जिन्दगी से ऊबकर स्वय आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो रहा है, उसी समय दा व्यक्ति वहाँ आ पहुँचते है। उनमे से एक तो तटस्थ होकर एक कोने मे खड़ा-खड़ा देखने लग जाता है और दूसरा उस मारने वाले या आत्महत्या करने वाले को समझाता है, स्वय बीच मे पड़कर उसे बचाने के लिए, उसकी रक्षा के लिए तत्पर होता है। अर्थात्—एक आदमी तटस्थ रहकर निवृत्ति धारण कर लेता है, दूसरा तटस्थ न रहकर बचाने को प्रवृत्ति करता है, आपकी अन्तरात्मा ऐसे अवसर पर किसको अहिसक या अधिक लाभ वाला कहेगी ?

मान लो, आप पर ही कोई ऐसा ही सकट आ पड़े तो आप तटस्थ रहने वाले को ठीक समझेगे या आपकी रक्षा के लिए तत्पर व्यक्ति को ?

'प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय' अन्त करण की आवाज ही अधिक प्रमाणभूत मानी जा सकती है। भगवान् महावीर की दृष्टि मे तो ऐसी दशा मे तटस्थ रहना कायरता का लक्षण है। यह स्पष्टतया निवृत्ति की भ्रान्ति है।

भगवान् महावीर का तो स्पष्ट आदेश है कि यदि को कोई साध्वी नदी मे डूब रही है, या कोई साधु दुर्घटनाग्रस्त होकर पानी मे गिर पडा है तो उस समय दूसरे साधु (जो तैरना जानते हो) तटस्थ होकर खडे न रहे, वे उक्त साध्वी या साधु को निकालें और सुरक्षित स्थान मे ले जाएँ।[3]

यहाँ तटस्थवादी साधु यह कह सकता है कि मैंने न तो उक्त साधु या साध्वी को पानी मे धक्का दिया है, न उनके ड्वने का सकल्प किया है, गिरने वाला अपने कर्मवश गिर गया है, और डूबने लगा है, इसमे मेरा क्या अपराध है? यदि मैं पानी मे कूदूगा या तैरकर जाऊँगा तो उस हलचल से अनेक जल-जन्तुओ तथा जल के आश्रित रहने वाले असख्य त्रसजीवो की भी हिंसा होगी, कई जन्तु भयभीत होगे, कुचल जाएँगे। इससे तो अच्छा है, मैं तटस्थ ही रहूँ।

मैंने पहले कहा था कि ऐसे मौके पर तटस्थ रहने वाला साधु अपने अन्त करण मे उठने वाली करुणा और अनुकम्पा को दवा देता है। दया के और दया से होने वाली असख्यगुणी निर्जरा के उत्तम अवसर को वह हाथ से खो देता है। इसलिए स्पष्ट है कि वह घाटे मे है। डूवते हुए साधु या साध्वी को वचाने के लिए जल मे प्रवेश करने वाले उसके साथी साधु को शुभ सकल्प मे लीन होने के कारण पुण्य-प्रकृति का वन्ध तो होता ही है, किन्तु अन्त करण मे जो अनुकम्पा की लहरे उठती हैं, करुणा की अजस्र धारा फूटती है, दया-भाव मे वह निमग्न हो जाता है, आत्मौपम्यभाव से विभोर हो उठता है, तब वह पाप-कर्मों की असख्य-असख्यगुणी निर्जरा कर लेता है। जल मे प्रवेश करने के कारण जलीय या जलाश्रित जीवो की हिंसा अवश्य हुई है, लेकिन वह हिंसा हुई है, सकल्पपूर्वक की नही गई है, उससे पापकर्म का बन्धन कम और पुण्यवध अधिक हुआ है, क्योकि पुण्य

या पाप का बन्ध भावो पर निर्भर है। साधु या साध्वी को निकालने के शुभ उद्देश्य से जो साधु पानी मे जाता है, वह जीवो को मारने या पीडा पहुँचाने की नीयत से नही गया, अपितु एक सयमी को बचाने की पवित्र भावना लेकर गया है। किसी की स्वतः हिसा होने मे और सकल्पपूर्वक हिसा करने मे बहुत अन्तर है। इस तरह हिसा-अहिसा की स्थूल क्रिया से कर्तव्य की भावना बहुत ऊँची है।

यही बात प्रमार्जन (सफाई), प्रतिलेखन, खान-पान, शयन, आदि जीवन की हर प्रवृत्ति के विषय मे भी समझ लेनी चाहिए कि ये प्रवृत्तियाँ यतना और अप्रमाद के साथ शुभ उद्देश्य से की जाती हैं, तो उनमे अहिसा का ही स्वर झकृत होगा। जैनधर्म मे अहिसा के उत्कृष्ट साधक के लिए पाँच समितियो और तीन गुप्तियो का विधान है। पाँच समितियाँ प्रवृत्तिरूप है और तीन गुप्तियाँ निवृत्तिरूप हैं। सामान्यरूप से अहिसा के साधक को यह ध्यान रखना है कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे प्रवृत्ति करे, उस प्रवृत्ति के साथ अहिसा के सकल्प को, दया की लहर को और आत्मौपम्य की भावना को जोड दे, तो उसकी प्रवृत्ति मे एक नई चेतना, नया प्राण और नई जागृति आ जाएगी।

मानव-जीवन मे निवृत्ति का भी महत्त्व है, पर है वह अमुक प्रसग पर ही। जब भी मन मे स्वार्थ, भोगाकाक्षा, लोभ, क्रोध और अहकार के बादल उमड-घुमडकर आने लगे, तब निवृत्ति ही श्रेयस्कर है। जहाँ विधेयात्मक अहिसारूप सेवा, परोपकार, करुणा, दया आदि का कार्य करने मे अपने चरित्र और शील को दाँव पर लगाने का अवसर आए वहाँ उससे निवृत्ति धारण करना ही श्रेयस्कर है, किन्तु शुभकार्यो मे—शुभभावो से प्रवृत्ति भी की जानी चाहिए।

संदर्भ

तीर्थंकरो का वर्षीदान क्या विसर्जन नहीं है ?

□ सघ प्रमुख मुनि श्री चन्दनमल जी

पात्रे धर्म-निबन्धन तदितरे श्रेष्ठ दयाख्यापक,
मित्रे प्रीति-विवर्धन तदितरे वैरापहारक्षमम् ।
भृत्ये भक्तिभरावह नरपतौ सम्मान-सम्पादकम्
भट्टादौ सुयशस्कर वितरण न क्वाप्यहो ! निष्फलम् ।।
—सूक्तिमुक्तावलि ।

आचार्य सोमप्रभ सिन्दूरप्रकर काव्य मे दान की महत्ता बतलाते हुए कहते ह कि वितरण अर्थात् दान कही भी निष्फल नही है। जैसे—पात्र-दान धर्म का हेतु है, सवर निर्जरा का कारण बनता हे। पात्रापात्र विवेचन के बिना दिया हुआ दान दयालुता का सूचक है, यानि वह व्यक्ति दयालु होता है जिसने दीन-दु खियो की सहायता की है। मित्र को दिया हुआ दान प्रीति बढाने वाला है, शत्रु को दिया हुआ दान वैर मिटाने मे सक्षम सिद्ध होता है। भृत्य-नौकर-चाकरो को दिया हुआ दान उनमे अत्यन्त भक्ति उत्पन्न कर देता है। राजा महा-राजा आदि को भेंट स्वरूप दिया हुआ दान सम्मान का सम्पादक है अर्थात् नगर-सेठ, राव आदि का गरिमापूर्ण पद दिलवाता है। वैसे ही चारण-भाट आदि को दिया हुआ दान सुयश फैलाता है। अन्त मे आचार्य इगित करते है कि बहुत क्या कहा जाय ? अहो ! दान कही भी निष्फल नही जाता।

विसर्जन और दान

आज तेरापथ के सामने एक ज्वलत प्रश्न पैदा होता है कि विस-र्जन के नाम से किया या करवाया जा रहा दान दान से कुछ अलग है या नही। दान और विसर्जन दो शब्द है, किन्तु शारदीया नाम माला

तथा हैमी नाममाला मे 'दान त्यागो विसर्जनम्', 'दानमुत्सर्जन त्याग' प्रदेशन-विसर्जने' इत्यादि नामो मे दान का ही नाम त्याग और विसर्जन है फिर विसर्जन की ओट मे दान क्यो अन्तर्हित किया जा रहा है ? हाँ, श्री भिक्षु स्वामी के सिद्धान्तानुसार सयती के सिवा अन्य को दान पाप-मूलक माना गया है। इसलिए श्री भिक्षु की मान्यता को अक्षरश प्रमाणित मानने वाले आप महानुभावो के लिए दान शब्द उभारते कुछ मन कपित होना स्वाभाविक है। सहज अन्त करण उद्वेलित होता है कि कल तक हम अनुकम्पा आदि दानो को एकान्त पाप मानते थे, आज दान के नाम से करोडो कैसे एकत्रित करवा सकते हैं ? यदि रुपये एकत्रित न करवाएं तो जैन 'विश्व भारती' जैसे भारी सस्थान कैसे चलाए जा सकते है ? फिर रास्ता तो निकालना ही पडता है। कोई गली तो खोजनी ही पडती है। पानी के नाम मे एलर्जी है तो 'वाटर' नाम से ही काम चलाओ। पानी तो चाहिए ही। इसको हम कमजोरी कहे, मायाजाल कहे या दुस्साहस ? नाक को चाहे सीधे हाथ से पकडो या गले के पीछे से हाथ को घुमाकर पकडो, आखिर पकडना तो नाक को ही है। गजब है लाखो समझदार लोग इस यथार्थता के साथ आख-मिचौनी खेल रहे है। या जानते हुए भी आई गई कर रहे है।

तीर्थङ्करो का वर्षीदान

हम एक प्रश्न उठाना चाहते है—तीर्थंकरो का वर्षीदान, जो प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षा स्वीकार करने की भावना के बाद एक वर्ष तक खुले हाथो सोनैयो का दान करते है, वह क्या है ? वह विसर्जन नही है क्या ? वह शुभ है या अशुभ ? वह पुण्यबन्ध का हेतु है या पापबन्ध का। अरे भव्यात्माओ ! कुछ तो आँख उघाडो। 'एक ऊंट आगे चला पीछे हुई कतार' ऐसा तो मत करो। पाँच-पाच सौ के एक लाख नोट देकर पाच करोड एकत्रित करें। किसे आपत्ति है ? पर यहां स्थिति अवश्य हृदयगम होनी चाहिए। मा के गर्भ मे ही जिनको तीन ज्ञान होते है, दीक्षा लेते ही जिनको चौथा मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न होने वाला है, ऐसे परम अवतारी पुरुष के दीक्षा लेने को उद्यत होने पर ख्याति-प्रलोभन-यश-कीर्ति आदि की भावना से कोसो दूर अभेद-

भाव से दिये जाने वाले दान को तो सावद्य पाप का हेतु बतलाते है पर विसर्जन को तेरापथ के आचार्य त्याग, सवर, निर्जरा और अनासक्ति घोषित कर रहे हे । यह कितना बडा छलावा है। भद्र जनता के साथ कितनी बडी धोखाधडी है । तीर्थंकरो का वर्षीदान तो अशुभ है पर जैन विश्वभारती, जय तुलसी फाउन्डेशन या किसी जैन-भवन आदि के लिए किया जाने वाला दान (विसर्जन) सवर-निर्जरा का हेतु है। थोडा भी चिन्तनशील व्यक्ति इस वाक् प्रपच को पकडे बिना रह नही सकता । यह कहकर टालना भी बहाना मात्र है कि 'तीर्थंकरो की तो अनादि-काल से परम्परा चली आ रही हे कि वार्षिक दान तो वे देकर ही सयम ग्रहण करते हैं । पर हम पूछना चाहते हे कि यह परम्परा क्यो ? सर्व विरति लेने से पूर्व करोडो स्वर्ण मुद्राओ का दान क्या जन-साधारण को ममत्व त्याग की विधि सिखलाने के लिए नही है ? गीता भी कहती है--

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

महापुरुप जो-जो आचरण करते हे, इतर व्यक्ति सहजतया उसका आचरण करने लग जाते है। महामना जो कुछ प्रमाणित करते है, आम जनता उसका अनुकरण स्वत करती हे। अत तीर्थंकरो का साँवत्सरिक दान सावद्य दान नही, बल्कि भव्य जनता के लिए ममत्व-त्याग का जीता-जागता निदर्शन है। स्थानकवासी-मदिर मार्गियो मे आज भी यह शब्द प्रचलित है कि श्रावको ! कुछ ममत्व त्याग करो, अर्थात् जिस धन को अपनत्व के साथ जोड रखा है, उसका त्याग करो। यह जगत्प्रभु का परिग्रह-त्याग सिखाने का प्रयत्न है । मै अपने सभी साथी सत-सतियो से सविनय अनुरोध करना चाहता हूँ कि आप इस यथार्थता को स्वीकारने मे हिचकिचाहट न करे। क्योकि आत्मा से तो आपका प्रवुद्ध मानस इसे शत-प्रतिशत स्वीकार कर चुका है फिर शब्दो मे अभिव्यक्ति दें कि हम अनुकम्पा दान को शुभ दान के रूप मे स्वीकार करते है। देखिए, तेरापथ के जन्म से सैकडो हजारो वर्ष पहले हमारे ज्योतिर्धर महामनीपी आचार्य स्पष्टतया स्वीकार कर चुके हैं। फिर उस यूथाधिप गन्धहस्ती के पथ पर हम उनके शिशु चले तो कुछ भी शोचनीय नही हे ।

जैसे—

दाण अणुकपाए दीणाणाहाण सत्तितो णेय ।
तित्थकर-नातेण साहूण य पत्तबुद्धिए ।।

दान-वितरणम् अन्नादे अनुकम्पया-दयया दीनानाथेभ्य: तत्र दीना: क्षीणविभवत्वाद् दैन्य प्राप्ता त एव सानाथ्यकारिरहिता: अनाथा अतस्तेभ्य: शक्तितो वित्तगत सामर्थ्यम् आश्रित्य इत्यर्थ ज्ञेय ज्ञातव्यम्। अथ दीनादीनामसयतत्वात्, तद्दानस्य दोषपोपकत्वाद् असगत तद्-दानम् इत्याशङ्क्य आह-तीर्थंकरज्ञातेन जिनोदाहरणेन । तथाहि-सगत दीनादि-दान प्रभावनागत्वात् जिनस्यैव । अथवा तीर्थंकरन्यायेन निर्विशेषतया इत्यर्थ । तीर्थंकर-प्रमाणतो वा । तथाहि-न दीनादिदान अविधेय, जिनाचरितत्वात्, महाव्रतानुपालनवदिति । दीनानामनु-कम्पा या तद्दानम् । अथ साधूनामपि कि तथैव इत्याशकया आह-साधूना सयतेभ्य पात्रबुद्ध्या ज्ञानादिगुणरत्नभाजनमेतदिति धिया भक्त्या इति गाथार्थ ।।

अर्थ –दीन अनाथो को अनुकम्पा-दयाभाव से दान देना विहित है तीर्थंकरो के उदाहरण से । अथवा तीर्थंकरो को प्रमाण भूत मानते हुए उनके द्वारा आचरित होने के कारण यह दान सगत है और आचरणीय है । सयत साधुओ को जो दान दिया जाता है, वह पात्र बुद्धि से दिया जाता है । ये मुनिवर्य गुण रत्नो के भाजन है, इस दृष्टि से इस भावना से दान दिया जाता है । यह गाथा का अर्थ है । इसी सदर्भ मे और भी अनेक स्पष्ट उल्लेख हमे प्राचीन ग्रथो से मिलते है ।

सव्वेहि पि जिणेहि दुज्जयतियरागदोसमोहेहि अणुकम्पादाण सड्ढयाण न कहिपि पडिसिद्ध ।। अर्थ—सभी जिनेश्वर जो दुर्जय राग-द्वेप-मोह से ऊपर उठ चुके है । उन्होने श्रावको के लिए कही भी अनुकम्पा दान का निपेध नही किया है, निषेध करने का तो प्रश्न ही नही उठ सकता, जब स्वय जिनेश्वरो ने वार्पिक दान देकर दीनो का उद्धार किया है । यथा—'श्रीजिनेनापि सावत्सरिकदानेन दीनोद्धार. कृत एव ।' यदि आप यह शका करे कि टीका-भाष्य-चूर्णि आदि के वर्णनो को छोडिये, पर कही ग्यारह अग, वारह उपाग आगमो मे

अनुकम्पादान का वर्णन हे क्या ? इसी शका का समाधान स्वय टीकाकार करते हे—"न कस्मिन्नपि सूत्रे प्रतिषिद्ध , प्रत्युत, देशनो-द्वारेण राजप्रश्नीयोपागे केशिनोपदेशितम् ।" अनुकम्पादान का किसी भी शास्त्र मे प्रतिषेध नही किया गया है, बल्कि देशना द्वारा राज-प्रश्नीय (रायप्पसेणीय) उपाग मे स्वय केशीस्वामी ने इसका उपदेश दिया है। जैसे "मा ण तुम पएसी ! पुव्वि रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि" इत्यादि ।

इससे ज्यादा आप आगम का प्रमाण क्या लेना चाहेगे ? अग सूत्रो मे स्थानाग मे वर्णित दश दानो मे अनुकम्पादान स्पष्ट वर्णित है ही । वह यदि अशुभ वध का हेतु होता तो प्रदेशी राजा ने दान शाला मे दान देते हुए और अणुव्रत पौषध-उपवास का पालन करते हुए विच-रुगा, ऐसी केशी स्वामी के सामने प्रतिज्ञा क्यो की ? और उसी के अनुमोदन मे केशी स्वामी ने क्यो कहा कि प्रदेशी ! रमणीय बनकर अरमणीय मत बनना । यानि जिस भाति तू अभी धर्म मे तत्पर बना है पीछे शिथिल मत बन जाना । इस पर इक्षु खेत आदि के चार दृष्टात दिए गए ।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरो का वार्षिक दान भिक्षु स्वामी सावद्य मानते हैं, उनके अनुयायी आज विसर्जन को सवर निर्जरा का हेतु मानते हे । कैसी विडम्बना है ? कैसा भद्र जनता की बुद्धि के साथ खिलवाड है ? विसर्जन शब्द को भी एक ऐसा चोगा पहनाया है कि प्रश्नकर्ता को यह बडे वाग्जाल से भ्रमित कर देता हे । विसर्जन का अर्थ केवल धन के लिए नही है । विसर्जन क्रोध का, मान का, लोभ का, दुर्व्यसनो का तथा धन का भी होता है, पर हम पूछना चाहते हैं अपनी छाती पर हाथ रखकर स्पष्ट कहिए कि यह विसर्जन शब्द का प्रयोग क्या दान के स्थान पर नही किया गया ? क्या स्वामी जी ने भी कभी विसर्जन को सवर निर्जरा कहा है ? हमारा तो प्रश्न है कि किसी सस्था, समाज या सहायता के लिए किया गया धन का विसर्जन क्या सवर-निर्जरा, त्याग-अनासक्ति है ? यदि है, तो तीर्थंकरो के वर्षीदान को एकात पाप बतलाना बुद्धिगम्य नही है, क्योकि आज के तथाकथित धनी श्रावको का विसर्जन तो एकान्त धर्म का हेतु है

और तीन ज्ञान के धनी द्रव्य तीर्थंकर का दान पाप का हेतु, कितना बडा अनर्थ है ? चिन्तन की कितनी दयनीयता है, कृपणता है। हाँ, तीर्थंकरो के दान का तो वह उच्च कोटि का स्वरूप है कि जिसकी तुलना मे आज के महत्त्वाकाक्षियो का दान आ ही कहाँ सकता हे ? उन महापुरुषो के दान मे न कोई जान-पहचान का सम्बन्ध है, और न ही कोई यश-कीर्ति आदि की कामना है। जो आया सो ले गया। कौन ले गया ? क्या बोलकर ले गया, कोई विवरण नही है। बस दिया जा रहा है, लेने वाले ले रहे हैं। यह तो फलो से लदे हुए उस महा सहकार वृक्ष का दान है कि कोई जाए ले आए, न कोई हिसाब है न कोई गणना है और न ही किसी बात की प्रत्युपेक्षा है। अहो ! कहा वह त्रिलोकीनाथ का नि स्वार्थ अनवद्य दान और कहा आज का भारी सभाओ मे लाउड स्पीकार पर जोर-जोर से तालियो की गडगडाहट के साथ घोषित होने वाला विसर्जन !

कुछ अल्पज्ञ ऐसे ही कह देते है कि तीर्थकरो द्वारा दिया जाने वाला अर्थ कौनसा उसका होता है। वह तो इन्द्र का लोकपाल वैश्रमण दान के लिए स्वर्ण-मुद्राओ का ढेर लगा देता है। प्रभु तो मात्र दिये जाते है। इसमे उनका क्या है ? यहाँ भी चिन्तन की अपेक्षा है। तीर्थंकरो के महाशुभनाम प्रकृति के उदय से वह अमित धनराशि वहाँ एकत्रित होती है। वह धन किसी और का नही उनके परम-पुण्य परिपाक का परिणाम है। शालिभद्र के स्वर्गवासी पिता अपने पुत्र के लिये प्रतिदिन अद्भुत वैभव सामग्री से परिपूर्ण तेतीस पेटिया उसके महल मे पहुँचाते थे। क्या उस धन का स्वामी शालिभद्र नही था ? अवश्य था ही। इसी भाँति तीर्थंकरो के प्रबल पुण्योदय से समुपस्थित होने वाले धन पर स्वामित्व उनका ही था, पर जन समुदाय को त्याग का प्रत्यक्ष पथ दिखलाने के लिए प्रभु ने दान का तरीका अपनाया। सोचो-सोचो गहराई से सोचो ! सत्य का साथ दो ! भव्यो ! जब से जगे तभी से प्रभात।

'सत्यमेव जयते नानृतम्' □

मनुष्य और सेवाधर्म

☐ श्री केदारनाथ

सेवावृत्ति का महत्त्व

हम मानते है कि मनुष्य अपने बौद्धिक बल से जगत् मे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ है। परन्तु यह पूर्णतया सही नही हे। थोडा विचार करने से हमारे खयाल मे आ सकता है कि श्रेष्ठता उसे केवल बौद्धिक बल से प्राप्त नही हुई है, उसका कारण मनुष्य के अन्य कई सद्‌गुण है। बौद्धिक विकास के साथ यदि मनुष्य का मानसिक विकास न हुआ होता, तो उसमे आज की मानवता न दिखाई देती, वह एक बुद्धिमान् पशु बन गया होता और बुद्धि की वृद्धि के साथ उसमे केवल पशुता की वृद्धि ही दिखाई देती। मनुष्य मे मानवता उत्पन्न होने मे जो सद्‌गुण और सद्‌वृत्तिया कारणभूत बनी हे, उसमे सेवावृत्ति का बहुत बडा महत्त्व समझना चाहिए। प्रेम, वात्सल्य, माता-पिता का भाव, करुणा, मैत्री, परोपकार आदि सारे भावो और भावनाओ का सेवा-वृत्ति के साथ निकट का सम्बन्ध है। इस सेवावृत्ति मे से ही सेवा-धर्म का उदय हुआ है। इस धर्म के ही कारण वात्सल्य का महत्त्व है। मातृ-पितृ भाव का सम्बन्ध वात्सल्य के साथ ही है, इतना ही नही, वात्सल्य ही माता-पिता की सम्पत्ति है और वही उनकी वास्तविक शक्ति है। इस वात्सल्य से ही उनकी सेवावृत्ति प्रकट होती है। उस वात्सल्य और उस सेवावृत्ति के कारण भावी पीढी का पोषण, सगोपन और सवर्धन होता है। वात्सल्य के द्वारा किसी भी माता को स्वय कष्ट, मुसीबतें और दु ख सहन करके अपने बालको को सुखी बनाने की शिक्षा मिलती है। सेवा की अत्यन्त उत्कट भावना और उसके अनुरूप कार्य इस वात्सल्य से ही प्रकट होते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को सेवा का प्रथम लाभ उसकी माता से मिलता है। माता के हृदय के वात्सल्य से ही उसकी वृद्धि होती है। पैदा हुआ बालक अपनी माता से अनेक प्रकार की सेवा लेते-लेते मनुष्य बनता

है। उसका जीवन पूरी तरह माता पर अवलम्बित होता है। बाल्य-काल मे माता का वात्सल्य और सेवावृत्ति ही उसके जीवन का मुख्य आधार होती है। इस दृष्टि से बाल्यकाल का विचार किया जाय तो हर तरह से और हर पहलू से असमर्थ और पराधीन स्थिति मे से निकाल कर माता ही बालक को धीरे-धीरे समर्थ और स्वाधीन बनाती है। जिसके लिए उसे बालक की हर प्रकार की सेवा करनी पडती है। रात-दिन उसे बालक की ओर ही सारा ध्यान लगाना पडता है। यह सब वात्सल्य के बिना नही हो सकता। प्रेम के बिना वात्सल्य नही टिक सकता और उत्कट भावना के बिना प्रेम नही टिक सकता। इस उत्कटता, प्रेम, सेवावृत्ति और वात्सल्य को यदि माता से अलग कर लें, तो मातृत्व के रूप मे उसके पास बाकी क्या रह जायगा? वह निरी स्त्री ही रह जायगी। जीवन की दृष्टि से केवल उसके स्त्री रूप का क्या मूल्य है?

सेवावृत्ति का विकास

इस दृष्टि से सोचे तो कहना पडेगा कि स्त्रियो मे पाया जाने वाला मातृभाव और सेवाभाव सारे जगत् की सेवा करता है। उनकी इन भावनाओ के कारण जगत् का पालन, पोषण, सगोपन और सवर्धन होता है। उनकी सेवा-भावना के कारण ही प्रत्येक पीढी मे मानवता आती है। जगत् मे आज तक जो बडे-बडे ज्ञानी-विज्ञानी, वडे राजपुरुष, राजनीतिज्ञ, योद्धा, धर्म-सस्थापक, पैगम्बर अथवा अवतारी माने गये व्यक्ति हुए है, वे सब अपनी माता की सेवावृत्ति का लाभ उठाते-उठाते ही बडे बने हैं। आधुनिक समय के ऐसे बडे पुरुष भी इस विषय मे अपनी माताओ के ऋणी है। जन्म से जिसकी मा का अवसान हो जाता है, उसे भी अन्य किसी स्त्री के मातृत्व का आधार मिल जाता है। किसी-न-किसी की सेवा भावना से ही उसका पालन-पोषण होता है। इस दृष्टि से हममे से प्रत्येक स्त्री-पुरुष, मनुष्य मात्र, मातृत्व का ही ऋणी है। ज्यो-ज्यो बालक बड़ा होता जाता है, त्यो-त्यो उसे अपने पिता भाई, बहन तथा निकट के सगे-सम्बन्धियो के वात्सल्य, प्रेम और सेवाभाव का लाभ मिलने लगता है। इसके विना उसका जीवन चल नही सकता। मनुष्य जैसे-जैसे

बड़ा होता है, जैसे-जैसे उसके जीवन की आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं और उसका सम्बन्ध व्यापक होता जाता है, वैसे-वैसे माता के सिवा अन्य अलग-अलग व्यक्तियों के प्रेम, सहानुभूति, सेवा और सहकार की उसे जरूरत पड़ती है। इस प्रकार उसके जीवन के लिए दूसरों की सद्भावनाओं की भी आवश्यकता मालूम होने लगती है। इस क्रम से बढ़ते-बढ़ते मनुष्य जब कुछ समर्थ हो जाता है, तब एक ओर वह दूसरों की सहानुभूति, प्रेम और सहकार स्वीकार करता है तो दूसरी ओर अपनी इन्हीं भावनाओं द्वारा दूसरों की सेवा करने योग्य भी बनता है। उस समय जैसे उसे दूसरों की सेवा लेनी पड़ती है, उसी तरह सेवावृत्ति से दूसरों की सहायता भी करनी पड़ती है। जिस दृष्टि से देखने पर हम सब मनुष्य – मानव जाति परस्पर प्रेम, करुणा, वात्सल्य, सेवाभाव आदि सद्भावनाओं पर अपना जीवन-व्यापार चलाते रहते हैं। हमारे सद्गुण ही हम सबके लिए परस्पर उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन एक-दूसरे की सहायता से चलता है। बचपन में हमसे बड़े और ज्ञानी लोगों की वात्सल्य, प्रेम आदि भावनाओं द्वारा हम सेवा लेते हैं, तो बड़ी उम्र में ये ही भावनायें अपनी सन्तान के प्रति रखकर हम उनकी सेवा करते हैं। इसी प्रकार बचपन में हमारी सार-सभाल करने वाले तथा अनेक प्रकार से हमारे कल्याण के लिए सतत प्रयत्न करने वाले लोग जब बूढ़े होते हैं तब हम कृतज्ञतापूर्वक उनकी सेवा करते हैं। मनुष्य बचपन में जैसे असमर्थ और पराधीन होता है, वैसे ही वृद्धावस्था में, रोगी अवस्था में और जीवन के अन्तिम काल में भी वह पराधीन हो जाता है। उस समय सेवा करने का उसका काल पूरा होता है और दूसरों से सेवा लेने का अवसर आता है। ऐसे समय प्रेम और कृतज्ञतापूर्वक उसकी सेवा करना वर्तमान पीढ़ी का धर्म हो जाता है। सेवा करने वाला वृद्ध हो जाता है तब उसे भी भावी पीढ़ी पर अवलम्बित रहना पड़ता है। जन्म से मनुष्य पराधीन होता है और जीवन के अन्त में भी वह पराधीन हो जाता है। बचपन में उसे पुरानी पीढ़ी से सेवा लेनी पड़ती है, बीच के काल में वह सेवा लेता है और दूसरों की सेवा करता है, और अन्तिम दिनों में उसे नई पीढ़ी से सेवा लेनी पड़ती है। इस तरह मानव-जीवन कभी स्वाधीन और कभी पराधीन

रहता है, अत. उसमे सेवा करने के तथा सेवा लेने के अवसर आते है। उनसे वह बच नही सकता। ऐसी पराधीन अवस्था को छोडकर भी जीवन का विचार करे तो मालूम होता है कि कोई भी मनुष्य अपने अकेले के सामर्थ्य और शक्ति-बुद्धि से अपना जीवन नही चला सकता। इसी कारण से परिवार, ग्राम, समाज, देश, राष्ट्र—इस प्रकार एक से एक अधिक व्यापक मानव-सस्थाये बनती आयी है। इन सब मे परस्पर सहकारवृत्ति और सेवाधर्म द्वारा परस्पर उपयोगी बनने का भाव हो, तो ही ये सस्थाये कार्यक्षम, समर्थ और स्थायी रह सकती है और मानव जाति की पीढिया अधिकाधिक सुसगठित, सुसस्कृत, व्यवस्थित, तेजस्वी, क्रियाशील और उन्नत बन सकती है। इस सबका आधार हमारी सेवा-परायणता और सेवाधर्म की निष्ठा पर टिका होता है।

इस सेवाधर्म के आधार पर ही मनुष्य छोटे से बडा होता है। यह सेवाधर्म स्त्रियो मे न होता, उनके हृदय मे मातृत्व का स्थान न होता. तो जगत् मे मानवता का निर्माण ही न हुआ होता। इसी कारण से ससार मे मातृत्व की इतनी महिमा मानी गई है। वात्सल्य के कारण ही उसे इतना महत्त्व प्रदान किया गया है। जीवन मे जब-जब कठिन अवसर आते है, तब-तब उनमे से अपने को छुडाने के लिए हमे किसी करुणाशील, प्रेमल और समर्थ व्यक्ति की आवश्यकता महसूस होती है। ये सारे भाव वात्सल्य मे है, और वह वात्सल्य माता मे भरा होता है। बचपन मे माता ही हमे सर्वस्व मालूम होती है। रोगी की दशा मे भी मनुष्य को वात्सल्य की जरूरत मालूम होती है। इसलिए रोगी मनुष्य को वात्सल्यपूर्ण भाव से व प्रेम से, अपनी सेवा करने वाला व्यक्ति माता के समान प्रिय लगता है। परमेश्वर को कुछ सतो ने माता की, तो कुछ सतो ने पिता की उपमा दी है। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य को जीवनभर मातृ-पितृ-भाव की, वात्सल्य की और प्रेमपूर्ण सेवा की जरूरत रहती है।

जीवनव्यापी सेवावृत्ति

जीवन के प्रथम क्षण से आरभ करके अतिम क्षण तक मनुष्य को

सेवा की आवश्यकता रहती है। सेवाधर्म मे निष्ठा रहे बिना सच्ची सेवा नही हो सकती। इस धर्म मे सारे सदगुणो का समावेश हो जाता है। सद्गुणो के कारण मानवता का विकास होता आया है। जगत् मे जितने भी धर्म है, उन सबमे सद्भावनाओ और सद्गुणो को महत्त्व दिया गया है। और किसी भी सदभावना या सद्गुण की जाच करे तो उसके साथ सेवा का ही सम्बन्ध दिखाई देगा। प्रेम, करुणा, मैत्री, बधुभाव, सहकार की भावना, उदारता, परोपकार-वृत्ति, समाज-देश-राष्ट्र आदि की भक्ति - इन सबमे मुख्यत सेवावृत्ति ही पाई जायेगी। सद्गुणो पर ही जगत् के कल्याण का आधार है। इससे हमे यह बोध मिलता है कि हममे परस्पर सेवाभाव होना चाहिये। यह सेवा भाव किसी जगह हमे माता-पिता के प्रेम और वात्सल्य मे प्रकट होता दिखाई देगा, किसी जगह भाई-बहन के प्रेम अथवा मित्र के प्रेम के रूप मे दिखाई देगा और किसी जगह दान, परोपकार, उदारता, करुणा, सहानुभूति, सहकार आदि गुणो द्वारा प्रकट होगा। किसी जगह वह पति-पत्नी के जीवन मे ओत प्रोत हुआ दिखाई देगा। इस प्रकार अनुभव से पता चलेगा कि सारी मानव-जाति सेवा-भावना के आधार पर ही जीती है। इस भावना की शुद्धि और वृद्धि लिए मानव-जीवन मे सेवा धर्म का महत्त्व समझना अत्यत आवश्यक है।

इस प्रकरण के आरभ मे ही कहा गया हे कि दूसरे प्राणियो की अपेक्षा मनुष्य मे बुद्धि अधिक है, परन्तु उस बुद्धि के बल पर ही वह आज की श्रेष्ठता को नही पहुचा है। बेशक, उसकी बुद्धि कुछ अश तक इस श्रेष्ठता का कारण है। परन्तु सद्गुणो के रूप मे बहुत हद तक व्यापक बने हुए सेवाभाव की वृद्धि मनुष्य मे न हुई होती तो आज की श्रेष्ठता प्राप्त करना उसके लिए कभी सभव नही होता। मनुष्य जिस तरह बुद्धि-प्रधान प्राणी है, उसी तरह वह सामाजिक प्राणी भी है। समाज के बिना उसका कोई अस्तित्व नही है। 'अस्तित्व नही है' से मेरा मतलब है कि जिस सास्कृतिक अवस्था मे आज वह है वह अवस्था उसके लिए सभव नही होती। उस सास्कृतिक अवस्था की वृद्धि सेवाधर्म की निष्ठा के बिना नही हो सकती। ऐसी निष्ठा निर्माण करने और उसे दृढ बनाने का प्रयत्न आज तक अनेक महा-

पुरुषो ने किया है। देश, काल और अवसर के अनुसार सेवा और सद्गुणो के महत्त्व का वर्णन उन्होने अलग-अलग ढग से किया है। त्याग के बिना सद्गुणो की वृद्धि नही होती, इतना ही नही, उसके बिना सद्गुण टिक ही नही सकते। इसलिए उन महापुरुषो ने बडे आग्रह के साथ त्याग का उपदेश दिया है। एक ओर त्याग और दूसरी ओर किसी का हित—ये दोनो बाते साधने की शक्ति प्रत्येक सद्गुण मे होनी चाहिये। सद्गुण मे यह शक्ति हो तो ही वह आत्म-कल्याण-कारी और परोपकारी बनकर प्रभावशाली सिद्ध होता है। परहित-कारी कार्य करते समय भी यदि हमारे चित मे सेवाभाव न हो, तो उस कार्य द्वारा हमारी उन्नति होने का विश्वास नही किया जा सकता। क्योकि उससे किसी समय हमारे मन मे अहकार उत्पन्न हो सकता है। कभी-कभी वह काम हम लाचारी से करते है और इसलिए हमारे मन का झुकाव उसे टालने की ओर होता है, और इस सम्बन्ध मे हमसे कुछ भी करते न बने तो वह कार्य हममे जड़ता अथवा गुलामी की वृत्ति पैदा करता है। अत किसी भी कार्य मे आत्म-कल्याण और परिहत जैसे दो उद्देश्य और सामर्थ्य हो, तो ही उससे हमारी और दूसरो की उन्नति हो सकती है। हमारे कार्य मे, कर्म मे, ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न हो, इसके लिए हमारे मन मे सेवाभाव होना चाहिये और यह भाव सदा बना रहे इसके लिए सेवाधर्म पर हमारी निष्ठा होना आवश्यक है।

त्याग और कर्त्तव्य-निष्ठा

हमारे कर्म इस निष्ठा से होते रहे, तो हममे मानवता का विकास होता रहेगा और हमारा समाज मानव समाज के रूप मे ससार मे टिका रहेगा। योग्य कर्म के बिना जीवन चल ही नही सकता। शुद्ध विवेक के बिना उचित और अनुचित कर्म के बीच हम भेद नही कर सकेगे। सेवाधर्म के बिना केवल कर्म से आत्म-कल्याण और परहित सिद्ध नही होगा। हम सेवाधर्म का पालन करे तो ही हमारे बीच सहकार रहेगा। हम सब एक-दूसरे के लिए उदात्त भावना से कष्ट न सहे, तो हममे प्रेम, विश्वास आदि भाव न तो उत्पन्न होगे और न बढेगे। प्रेम, विश्वास आदि भावो के बिना ऐक्य की स्थापना नही

हो सकती। ऐक्य के अभाव मे समाज का टिकना शक्य नही है। त्याग के बिना हममे उदात्तता नही आ सकती। उदात्तता के बिना हम एक-दूसरे के लिए सन्तोषपूर्वक थोडा-बहुत कष्ट सहन नही कर सकते। सयम के अभाव मे सच्चा त्याग नही सधेगा। और सच्चे त्याग के बिना सतोष का अनुभव नही होगा। सतोष के बिना आत्म-कल्याण सभव नही है। ये सब गुण सेवाधर्म और कर्त्तव्य पर निष्ठा रहे विना सिद्ध नही किये जा सकते। ये सब परस्पर ऐसे सम्बद्ध है कि इन्हे एक-दूसरे से अलग नही माना जा सकता।

पुत्र के लिए हर तरह से कष्ट उठाना माता-पिता को कौन सिखाता है ? देश के लिए प्राण अर्पण करनेवाले, उसके लिए सदा दु ख भोगनेवाले, धर्म के लिए बलिदान देनेवाले, परिवार मे एक-दूसरे के लिए सतोप के साथ कष्ट सहनेवाले—इन सबको अपनी निष्ठा से ही ऐसा करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। हमारा मानव-जीवन इस निष्ठा पर ही चलता है। इस कष्ट-सहन मे जहा बाधा आती है, जहा केवल स्वार्थवृत्ति से हम चलते है, वहा मानवता का विकास रुक जाता हे। यदि हम चाहते हो कि यह विकास सदा होता रहे, तो हमे अपने प्रत्येक कर्म मे कर्तव्य-निष्ठा और सेवा-भावना रखने का प्रयत्न करना चाहिये। जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक मानव-जाति के सद्गुणो पर ही हमारे जीवन का आधार होता है। मानव-जाति मे आज जो कुछ सुख, शाति, सन्तोष, आनन्द और उत्साह दिखाई देता है, उसका कारण हमारी मानवता अर्थात् हमारे सद्गुण हैं, और जो भी दु ख, आपत्ति और अनर्थ दिखाई देता है, उसका कारण हमारे दुर्गुण हैं। यह सब हमारे सद्गुणो और दुर्गुणो, सेवावृत्ति और स्वाथ, धर्म और अधर्म का ही परिणाम है। यह बात ध्यान मे रखकर हम सबको अपने जीवन मे सद्गुणो को, सेवाधर्म को महत्त्व प्रदान करना चाहिये। मानवता को अपने जीवन का आदर्श समझना चाहिये। इस बात पर ध्यान देगे तो हम सब अवश्य सुखी होगे। □

अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

□ श्री काका कालेलकर

जैन दृष्टि की जीवन-साधना मे अहिंसा का विचार काफी सूक्ष्मता तक पहुँचा है। उसमे अहिंसा का एक पहलू है जीवो के प्रति करुणा और दूसरा है स्वय हिंसा के दोष से बचने की उत्कट कामना। दोनो मे फर्क है। करुणा मे प्राणी के दुःख निवारण करने की शुभ कामना होती है। प्राणियो का दुःख दूर हो, वे सुखी रहे, उनके जीवनानुभव मे बाधा न पडे, इस इच्छा के कारण मनुष्य जीवो के प्रति अपना प्रेम बढाता है, सहानुभूति बढाता है और जितनी हो सके सेवा करने दौडता है।

दूसरी दृष्टि वाला कहता है कि सृष्टि में असख्य प्राणी पैदा होते है, जीते है, मरते है, एक-दूसरे को मारते है, अपने को बचाने की कोशिश करते है। यह तो सब दुनिया मे चलेगा ही। हर एक प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करेगा। हम कितने प्राणियो को दुःख से बचा सकते है? दुःख से बचाने का ठेका लेना या पेशा बनाना अहकार का ही एक रूप है। इस तरह का ऐश्वर्य कुदरत ने या भगवान् ने मनुष्य को दिया नही है। मनुष्य स्वय अपने को हिंसा से बचावे। न किसी प्राणी को मारे, मरावे या मारने मे अनुमोदन देवे। अपने को हिंसा के पाप से बचाना यही है अहिंसा।

इस दूसरी दृष्टि मे यह भी विचार आ जाता है कि हम ऐसा कोई काम न करे कि जिसके द्वारा जीवो की उत्पत्ति हो और फिर उनको मरना पडे। अगर हमने आस-पास की जमीन नाहक गीली होने दी, कीचड इकट्ठा होने दिया तो वहा कीट-सृष्टि होगी। पैदा होने के बाद उसे मरना ही है। वह सारा पाप हमारे सिर पर रहेगा। इसलिये हमारी ओर से जीवोत्पत्ति को प्रोत्साहन न मिले इतना तो हमें देखना ही चाहिये। यह भी अहिंसा की साधना है।

इसी वृत्ति से ब्रह्मचर्य का पालन अहिंसा की साधना ही होगी। जीव को पैदा नही होने दिया तो उसे पैदा करके मरणाधीन बनाने के पाप से हम बच जायेंगे।

करुणा इससे कुछ अधिक बढती हे। उसमे कुछ प्रत्यक्ष सेवा करने की बात आती है। प्राणियो को दु ख से बचाना, उनके भले के लिये स्वय कष्ट उठाना, त्याग करना, सयम का पालन करना यह सब क्रियात्मक बाते अहिंसा मे आ जाती हैं।

आजकल जैन समाज मे इसकी चिन्ता नही चलती कि हम हिंसा के दोष से कैसे वचें। जो कुछ जैनियो के लिये आचार बताया गया है उसका पालन करके लोग सतोप मानते है। धर्म बुद्धि जाग्रत है, लेकिन धार्मिक पुरुषार्थ कम है तो साधक अणुव्रत का पालन करेगे। साधना वढने पर दीक्षा लेकर उग्र व्रतो का पालन करेगे।

अब जिन लोगो ने जीवदया के अहिंसक आधार का विस्तार किया, उन लोगो ने अपने जमाने के ज्ञान के अनुसार बताया कि पानी गरम करके एकदम ठडा करके पीना चाहिये। आलू, बैगन जैसे पदार्थ नही खाने चाहिये। क्योकि हर एक बीज के साथ और हुए एक अकुर के साथ जीवोत्पत्ति की सम्भावना होती है। एक आलू खाने से जितने अकुर उतने जीवो की हत्या करने का पाप लगेगा। सूक्ष्माति-सूक्ष्म जीवो की हत्या से वचने के लिये इतना सतर्क रहना पडता है कि वही जीवन-व्यापी साधना बना जाती है। पानी गरम करके एक-दम ठडा करना, मुँहपत्ती लगाना, शाम के बाद भोजन नही करना इत्यादि रीतिधर्म का विकास हुआ।

शुरू-शुरू मे यह सब वैज्ञानिक शोध-खोज थी। हमारा वैज्ञानिक ज्ञान जैसा बढेगा उसके अनुसार हमारा अहिंसा का आकलन भी वढेगा, बढना चाहिये। उसके अनुसार आचार-धर्म मे सूक्ष्मता भी आनी चाहिये। अगर अनुभव से कोई बात गलत साबित हुई तो पुराने आचार-धर्म बदलने भी चाहिये। अहिंसा धर्म जड रूढिधर्म नही है, वह वैज्ञानिक धर्म है। विज्ञान के द्वारा जैसे-जैसे हमारा जीव विज्ञान

अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

□ श्री काका कालेलकर

जैन दृष्टि की जीवन-साधना मे अहिसा का विचार काफी सूक्ष्मता तक पहुँचा है। उसमे अहिसा का एक पहलू है जीवो के प्रति करुणा और दूसरा है स्वय हिसा के दोष से वचने की उत्कट कामना। दोनो मे फर्क है। करुणा मे प्राणी के दु ख निवारण करने की शुभ कामना होती है। प्राणियो का दु ख दूर हो, वे सुखी रहे, उनके जीवनानुभव मे वाधा न पडे, इस इच्छा के कारण मनुष्य जीवो के प्रति अपना प्रेम बढाता है, सहानुभूति बढाता है और जितनी हो सके सेवा करने दौड़ता है।

दूसरी दृष्टि वाला कहता है कि सृष्टि मे असख्य प्राणी पैदा होते है, जीते है, मरते है, एक-दूसरे को मारते है, अपने को बचाने की कोशिश करते है। यह तो सब दुनिया मे चलेगा ही। हर एक प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दु ख का अनुभव करेगा। हम कितने प्राणियो को दु ख से वचा सकते है ? दु ख से बचाने का ठेका लेना या पेशा बनाना अहकार का ही एक रूप है। इस तरह का ऐश्वर्य कुदरत ने या भगवान् ने मनुष्य को दिया नही है। मनुष्य स्वय अपने को हिसा से बचावे। न किसी प्राणी को मारे, मरावे या मारने मे अनुमोदन देवे। अपने को हिसा के पाप से बचाना यही है अहिसा।

इस दूसरी दृष्टि मे यह भी विचार आ जाता है कि हम ऐसा कोई काम न करे कि जिसके द्वारा जीवो की उत्पत्ति हो और फिर उनको मरना पडे। अगर हमने आस-पास की जमीन नाहक गीली कर दी, कीचड इकट्ठा होने दिया तो वहा कीट-सृष्टि होगी। पैदा होने के बाद उसे मरना ही है। वह सारा पाप हमारे सिर पर रहेगा। इसलिये हमारी ओर से जीवोत्पत्ति को प्रोत्साहन न मिले इतना तो हमे देखना ही चाहिये। यह भी अहिसा की साधना है।

इसी वृत्ति से ब्रह्मचर्य का पालन अहिंसा की साधना ही होगी। जीव को पैदा नही होने दिया तो उसे पैदा करके मरणाधीन बनाने के पाप से हम बच जायेंगे।

करुणा इससे कुछ अधिक बढती है। उसमे कुछ प्रत्यक्ष सेवा करने की बात आती है। प्राणियो को दु ख से बचाना, उनके भले के लिये स्वय कष्ट उठाना, त्याग करना, सयम का पालन करना यह सब क्रियात्मक बाते अहिंसा मे आ जाती हैं।

आजकल जैन समाज मे इसकी चिन्ता नही चलती कि हम हिंसा के दोष से कैसे बचें। जो कुछ जैनियो के लिये आचार बताया गया है उसका पालन करके लोग सतोष मानते हैं। धर्म बुद्धि जाग्रत है, लेकिन धार्मिक पुरुषार्थ कम है तो साधक अणुव्रत का पालन करेगे। साधना बढने पर दीक्षा लेकर उग्र व्रतो का पालन करेगे।

अब जिन लोगो ने जीवदया के अहिंसक आधार का विस्तार किया, उन लोगो ने अपने जमाने के ज्ञान के अनुसार बताया कि पानी गरम करके एकदम ठडा करके पीना चाहिये। आलू, बैगन जैसे पदार्थ नही खाने चाहिये। क्योकि हर एक बीज के साथ और हए एक अकुर के साथ जीवोत्पत्ति की सम्भावना होती है। एक आलू खाने से जितने अकुर उतने जीवो की हत्या करने का पाप लगेगा। सूक्ष्माति-सूक्ष्म जीवो की हत्या से बचने के लिये इतना सतर्क रहना पडता है कि वही जीवन-व्यापी साधना बना जाती है। पानी गरम करके एक-दम ठडा करना, मुँहपत्ती लगाना, शाम के बाद भोजन नही करना इत्यादि रीतिधर्म का विकास हुआ।

शुरू-शुरू मे यह सब वैज्ञानिक शोध-खोज थी। हमारा वैज्ञानिक ज्ञान जैसा बढेगा उसके अनुसार हमारा अहिंसा का आकलन भी बढेगा, बढना चाहिये। उसके अनुसार आचार-धर्म मे सूक्ष्मता भी आनी चाहिये। अगर अनुभव से कोई बात गलत साबित हुई तो पुराने आचार-धर्म बदलने भी चाहिये। अहिंसा धर्म जड रूढिधर्म नही है, वह वैज्ञानिक धर्म है। विज्ञान के द्वारा जैसे-जैसे हमारा जीव विज्ञान

प्राणि विज्ञान बढेगा वैसे-वैसे हमारा अहिंसा का आचार धर्म भी अधिकाधिक सूक्ष्म बनेगा। विशिष्ट प्राणी मे या वस्तु मे जीव है या नही है इसकी खोज तो होनी ही चाहिये। जैन तीर्थंकर और पूर्व आचार्यों के दिनो मे जीव-सृष्टि का विज्ञान जहा तक बढा था, उसके अनुसार उन्होने अहिंसक धर्म का आचार-धर्म कैसा-कैसा होता है, यह बताया। वे लोग अपने जमाने के विज्ञान-निष्ठ थे।

आज उसी प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टि का हमने रूपान्तर कर दिया है वचननिष्ठा मे और रूढिनिष्ठा मे।

इधर आज की दुनिया मे, विशेषकर पश्चिम मे जीव-विज्ञान बहुत कुछ आगे बढा है। जीव किसे कहे, किस चीज मे जीव तत्त्व कितना है, उसका विकास कैसे होता है, जीवो को मरण क्यो आता है, मरण से बचाने के लिये क्या-क्या करना चाहिये आदि अनेक बाते नये ढग से, नई दृष्टि से सोची जाती है और सोचनी चाहिये। यह है अनुसधान का विषय, न कि तीर्थंकरो के, गणधरो के, आचार्यो के आप्त वचनो का अर्थ करने का। अगर हम वैज्ञानिक दृष्टि छोड कर व्याकरण, तर्क और दृष्टि समन्वय के आधार पर चर्चा ही करते रहे तो वह दृष्टि वैज्ञानिक न रह कर वकीलो के जैसी चर्चात्मक ही बन जायेगी।

इसलिये हमे जीवविज्ञान मे, मनोविज्ञान मे और समाजविज्ञान मे अनुसधान करना होगा। प्रयोग और चिन्तन चला कर गहरा अनुसधान करना पडेगा और वह भी हमारी निजी मौलिक दृष्टि से।

पश्चिम के प्रयोग-वीरो ने जो आज तक अनुसधान किया है, उससे हम लाभ उठायेगे जरूर, लेकिन उनका प्रस्थान ही हमे मान्य नही है। पश्चिम मे वनस्पतिविज्ञान, कृमि-कीट आदि सूक्ष्म प्राणी-विज्ञान, आदि विज्ञान के अनेक विभाग अथवा क्षेत्र दिन-पर-दिन प्रगति करते जा रहे हैं, लेकिन उनका प्रस्थान ही गलत है। सामान्य तौर पर नीचे दिये गये सिद्धान्त ही उनके बुनियादी सिद्धान्त है।

(1) जिस तरह मिट्टी, पत्थर, पानी, सोना, चादी, लोहा आदि

धातु, यह सारी भौतिक सृष्टि मनुष्य के उपयोग के लिये है, उसी तरह सारी-की-सारी मनुष्येतर सृष्टि भी मनुष्य के उपयोग के लिये है। वृक्ष, वनस्पति, कद मूल, फल आदि वनस्पति-सृष्टि मनुष्य के उपभोग के लिये है, उसी तरह कीट-सृष्टि, पशु-पक्षी, आदि द्विपाद, चतुष्पाद और बहुपाद प्राणियो की सृष्टि, पशु-पक्षी आदि स्थलचर, सॉप आदि सरिसृप और मछलियाँ आदि जलचर सब मनुष्य के आहार के लिये, सेवा के लिये, उपभोग और आनन्द के लिये हैं। इन्हे मार कर खाना, पकड कर काम मे लाना और उन पर अपना स्वामित्व रखना यह सब मनुष्य के अधिकार मे आता है।

(2) अगर इनकी सख्या कम होने लगी तो इनकी पैदाइश वढे, इनकी नई-नई नस्ले तैयार हो जाये और इनसे अधिकाधिक सेवा मिल जाय इसलिये सब तरह से पुरुषार्थ करने का भी मनुष्य को अधिकार है।

(3) वनस्पति-सृष्टि का और प्राणसृष्टि का उपयोग करते अगर कुछ नुकसान होता है, रोग होते है, बाधाये पहुँचती है, खतरे उठाने पडते है तो अपनी बुद्धि चलाकर इन सब चीजो का और प्राणियो का उपभोग निराबाध बन सके इसका इलाज भी ढूँढना है।

(4) और, इस तरह से वनस्पति और प्राणि-सृष्टि पर अधिकार जमने के बाद उनसे जो लाभ होता है वह सारी-की-सारी मनुष्य जाति को मिल सके इसलिये आवश्यक है वैज्ञानिक सशोधन करना, सगठन वढाने की शक्ति बढाना और अधिक-से-अधिक लाभ आसानी से मिल सके ऐसी व्यवस्था काम मे लाना।

इन चारो पुरुषार्थों मे मूल विचार है स्वामित्व प्राप्त करके उपभोग करने का। अहिंसा का प्रस्थान बिलकुल इसके विपरीत होगा। इसलिये हमारी फिजिकल लैबोरेटरी मे वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे, एनिमल हसबेंडरी मे—पशु-सवर्धन मे हमारी दृष्टि ही अलग होगी।

हम कहेगे कि वनस्पति, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर जीव-सृष्टि को जीने का स्वतन्त्र अधिकार है। न हम उनके मालिक है, न उन पर हमारा कोई अधिकार है। बात सही है कि इनके बिना हम जी

नही सकते, लेकिन इन्हे मारने का, इन्हे लूटने का, इनके परिश्रम से लाभ उठाने का हमे कोई नैतिक अधिकार नही है। इसलिये यह सारी स्वार्थी प्रवृत्ति घटाने की हमारी कोशिश होनी चाहिये। अहिंसा और मानवता की दृष्टि से हमे एक ऐसा क्रम बाँधना होगा, जिसके द्वारा अपने जीवन मे हम हिंसा को उत्तरोत्तर कम करते जाय। आज गाय, बैल, भैसे आदि बडे-बडे जानवरो को अभयदान दिया, कल बकरे, मेढे, दुबे, हिरण आदि छोटे जानवरो को मारना छोड दिया, परसो मासाहार मे मछलियाँ और अडे के बाहर मासाहार न करने का नियम बनाया, आगे जाकर प्राणी के शरीर से उत्पन्न होने वाले दूध, घी आदि स्वाभाविक आहार की मदद लेकर धान्य, फल, सब्जी, कदमूल आदि अन्नाहार से सतोष माना, उसके बाद हिम्मत पूर्वक दूध आदि पदार्थ अडे के जैसे ही त्याज्य मानकर उनके बिना चलाने की कोशिशे करना और दूध, घी आदि मासाहार के प्रतीको की जगह वनस्पति मे से हम क्या-क्या पैदा कर सकते हैं इसके प्रयोग करना, यह होगी हमारी अहिसावृत्ति की शोध खोज।

अगर दूध देने वाली गाय पवित्र है, तो शहद देने वाली मधुमक्खी भी उतनी ही पवित्र हे। गौहत्या महापाप है तो शहद की मक्खियो को मारना, उनके छत्तो का नाश करना, धुआँ और आग के प्रयोग से उनका नाश करना, यह सब हिसा है, घातकता है और अनावश्यक क्रूरता है, यह भी समाज को समझाना चाहिये।

रेशम के लिये जो हम कीट-सृष्टि मे भयानक सहार चलाते हैं उसका भी हमे विचार करना होगा। इसमे इतना कहने से नही चलेगा कि इतनी हिंसा हम मान्य रखते है, बाकी की मान्य नही रखते। केवल मान्यता की ही बात सोची जाय तो उसमे अनेक पथ पैदा होगे ही और ऐसे पथो को मान्य रखना ही धर्म्य होगा।

मनुष्य को मार कर खाने वाले समाज भी इस दुनिया मे थे। प्राचीन या मध्यकालीन जैन मुनियो ने ऐसे लोगो के बीच जाकर भी उन्हे अहिंसा की ओर आकृष्ट किया। इसके आगे जाकर पशु-पक्षी का मास खाने वाले लोगो ने गाय-बैल का मास छोडा, यह भी एक प्रगति हुई। लेकिन इतने पर से गाय-बैल का मास खाने वाले को हम

पापी या पतित नही कह सकते, उनसे घृणा भी नही कर सकते। दुनिया मे बहुमत उनका है। उनकी धर्मबुद्धि और हमारी धर्मबुद्धि मे फर्क है। ऐसे करोडो हिन्दू है, जो पूज्यभाव के कारण गाय-बैल का मास नही खाते, किन्तु इतर पशु-पक्षियो का मास खाते है। ऐसे भी हिन्दू है जो बतक के अडे खाते है, किन्तु घृणा के कारण मुर्गी के अडे नही खाते। मुसलमान ऐसी ही घृणा के कारण सूअर का मास नही खाते। यहूदियो के भी अपने नियम हैं। और, हिन्दुओ मे भी गोमास खाने वाले नही सो नही।

यह सारा विस्तार इसलिये किया है कि हम केवल आदर और तिरस्कार पर आधारित मनोवृत्ति के वश न होकर वैज्ञानिक ढग से प्रयाग करते जायँ और सब के प्रति हम सहानुभूति रखें।

और, अब अहिसा की हमारी साधना को केवल शास्त्र-वचनो पर धार्मिक रस्म-रिवाजो पर आधारित न रखकर उसे वैज्ञानिक सशोधन का विषय बनावे।

आज तक पशु-हिसा, निरामिषाहार, तपस्या और आहार-शुद्धि इतनी ही दृष्टि को प्रधान बना कर अहिसा का विचार और प्रचार किया और पुराने जमाने की स्थूल वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार एकेन्द्रिय प्राणी, पचेन्द्रिय प्राणी आदि भेदो की बुनियाद पर अहिसा के नियम बनाये। अब जब विज्ञान और खास करके जीव विज्ञान बहुत कुछ बढा है और हम नई बुनियाद लेकर जीव विज्ञान बढा सकते हैं, तब पुराने, कालग्रस्त जीव विज्ञान से हम सतोष न माने। जो बुनियाद मजबूत नही है उसे छोड दे और वचन-प्रामाण्य एव पुराने धर्मकारो के अनुयायित्व से सतोष न मान कर आध्यात्मिक दृष्टि से नये-नये प्रयोग करने के लिए हम तैयार हो जाएँ।

इसके लिए पश्चिम की प्रयोगशालाओ से भिन्न अहिसा-परायण प्रयोगशालाओ की स्थापना करनी होगी। प्रयोग-वीर अध्यापक उसमे काम करेगे। सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय करके मानव जाति के उत्कर्ष के लिए वे नसीहत देते जायेंगे। उनकी नसीहत धर्म-

पुरुषो की आज्ञा का रूप नही लेगी। जिसमे सत्य निष्ठा है और अहिंसा की सार्वभौम दृष्टि जिसे मजूर है, उसके लिए अदरूनी प्रेरणा से जो बात मान्य होगी सो मान्य। हर एक जमाने के मानव-हितचिन्तक तटस्थ तपस्वियो की नसीहत ही धर्मजीवन के लिए अन्तिम प्रमाण होगी और अन्तिम आधार हृदय के सतोप का ही होगा। 'शुद्धहृदयेन हि धर्मं जानाति।' इसलिये केवल प्राचीन धर्मग्रथ और धर्मकारो के वचन से बाहर नही सोचने का स्वभाव छोडकर हमे वैज्ञानिक ढग से शुद्ध निर्णय पर आना होगा।

केवल आहार और आजीविका के साधन के क्षेत्र से अपने को मर्यादित न करके अहिसा-जैसे सार्वभौम, सर्वकल्याणकारी सिद्धान्त का उपयोग और विनियोग, युद्ध और शाति-जैसे जगत्व्यापी सवालो का सर्वोदयी हल ढूढने मे ऐसा करना जरूरी हो गया है। वशसघर्प, वर्गसघर्प आदि विश्वव्यापी भयानक सघर्षों का निराकरण करके समन्वय की स्थापना करने के लिये अहिसा की मदद कैसी हो सकती है, यह देखने के लिये कृपि-तुल्य चिन्तन और विज्ञानवीरो की प्रयोग-परायणता एकत्र करनी होगी। ऐसा मिलान करने से ही सजीवनी विद्या प्राप्त होगी।

इस दिशा मे प्रारम्भ करना ही सब से महत्त्व की बात है। प्रारम्भ होने पर भगवान् की ओर से बुद्धियोग मिलेगा और योग्य व्यक्तियो का सहयोग तथा दिशा-दर्शन भी मिलेगा। पूर्व के और पश्चिम के मनीषियो ने आज तक जो चिन्तन किया है, अनुभव पाया है, और प्रयोग भी किये है, उनको एकत्र लाने से भविष्य की दिशा स्पष्ट हो सकेगी। किसी ने ठीक ही कहा है कि प्राचीनो की योगविद्या और आधुनिक काल की प्रयोग-विद्या दोनो के समन्वय से सत्ययुग की और धर्मयुग की स्थापना हो सकेगी। यह समय ऐसे नये प्रस्थान का है। □

कर्मक्षय और प्रवृत्ति

☐ श्री किशोरदास घ. मश्रुवाला

एक सज्जन मित्र लिखते है कुछ लोग कहते है कि कर्म का सपूर्ण क्षय हुए विना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती, और कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय की सभावना नही है। इसलिये निवृत्ति मार्ग ही आत्मज्ञान अथवा मोक्ष का मार्ग है। क्योकि जो भी कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात् मनुष्य जब तक कर्म मे प्रवृत्त रहेगा तब तक, वह चाहे अनासक्ति से कर्म करता हो तो भी कर्मफल के भार से मुक्त नही हो सकता। इससे कर्मबधन का आवरण हटने के बदले उलटा घना होगा। इसके फलस्वरूप उसकी साधना खडित होगी। लोक-कल्याण की दृष्टि से भले ही अनासक्ति वाला कर्मयोग इष्ट हो, परन्तु उससे आत्मज्ञान की साधना सफल नही होगी। इस विषय मे मै आपके विचार जानना चाहता हूँ।"

मेरी राय मे कर्म, कर्म का बधन और क्षय, प्रवृत्ति और निवृत्ति, आत्मज्ञान और मोक्ष इत्यादि की हमारी कल्पनाएँ बहुत ही अस्पष्ट हैं। अतएव इस सबध मे हम उलझन मे पड जाते है और साधनो मे गोते लगाते रहते है।

इस सबध मे पहले हमे यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मन की क्रिया मात्र कर्म है। कर्म का यदि हम यह अर्थ लेते है तो जब तक देह है तब तक कोई भी मनुष्य कर्म करना बिलकुल छोड नही सकता। कथाओ मे आता है उस तरह कोई मुनि चाहे तो वर्ष-भर तक निर्विकल्प समाधि मे निश्चेष्ट होकर पडा रहे, परन्तु जिस क्षण वह उठता है उस क्षण वह कुछ-न-कुछ कर्म अवश्य करेगा। इसके अलावा यदि हमारी कल्पना ऐसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देह से पूरे जन्म-जन्मान्तर पाने वाला जीवरूप है, तब तो देह के विना भी वह क्रियावान् रहेगा। यदि कर्म से निवृत्त हुए विना कर्मक्षय

न हो सके तो उसका अर्थ हुआ कि कर्मक्षय होने की कभी भी सभावना नही है।

इसलिये निवृत्ति अथवा निष्कर्मता का अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझने मे भूल होती है। निष्कर्मता एक सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक भावना का विषय और इससे भी परे जीवात्मक है। क, ख, ग, घ नाम के चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नाम के चार भूखे आदमियो को एक-सा अन्न देते है। चारो बाह्य कर्म करते है और चारो को समान स्थूल तृप्ति होती है। परन्तु सभव है कि 'क' लोभ से देता हो, 'ख' तिरस्कार से देता हो, 'ग' पुण्येच्छा मे देता हो और 'घ' आत्मभाव मे स्वभावत. देता हो। उसी तरह 'प' दु ख मानकर लेता हो, 'फ' मेहरबानी मानकर लेता हो, 'ब' उपकारक भावना से लेता हो, और 'भ' मित्र भाव मे लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधातृप्ति रूपी बाह्य फल सबका समान होने पर भी देने के भेदो के कारण कर्म के बधन और क्षय की दृष्टि से बहुत फर्क पड जाता है। उसी तरह क, ख, ग, घ से प, फ, ब, भ, अन्न मागे और चारो व्यक्ति उन्हे भोजन नही करावे, तो इसमे कर्म से समान परावृत्ति है, और चारो को स्थूल भूख पर इसका समान परिणाम होता है। फिर भी भोजन न करावे या जल न पाने के पीछे रही बुद्धि भावना नीति, सवेदना, इत्यादि भेद से इस कर्म-परावृत्ति से कर्म के बधन और क्षय एक-से नही होते।

तो यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के साथ परावृत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जैसे है। परावृत्ति का अर्थ निवृत्ति नही है। परन्तु बहुत-से लोग परावृत्ति को ही निवृत्ति मान बैठते है। और वृत्ति अथवा वर्तन का अर्थ प्रवृत्ति नही है। परन्तु बहुत-से लोग वृत्ति को ही प्रवृत्ति समझते है। वृत्ति का अर्थ है केवल बरतना। प्रवृत्ति का अर्थ है विशेष प्रकार के आध्यात्मिक भावो से बरतना। परावृत्ति का अर्थ है वर्तन का अभाव, निवृत्ति का अर्थ है वृत्ति तथा परावृत्ति-सबधी प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार की विशिष्ट आध्यात्मिक सवेदना।

अब कर्म-बधन और कर्मक्षय के विषय मे बहुतो का ऐसा ख्याल

मालूम होता है, मानो कर्म नाम की हर एक के पास एक तरह की पूजी है। पाच हजार रुपये ट्रंक मे रखे हुए हो और उनमे किसी तरह की वृद्धि न हो, परन्तु उनका खर्च होता रहे तो दो-चार वर्ष मे या पच्चीस वर्ष मे तो वे सब अवश्य खर्च हो जायेगे। परन्तु यदि मनुष्य उन्हे किसी कारोबार मे लगाता है तो उनमे कमीबेशी होगी और सभव है कि पाँच हजार के लाख भी हो जाये या लाख न होकर उल्टा कर्ज हो जाय। यह घाटा भी चिंता और दुख उत्पन्न करता है। सामान्य रूप से मनुष्य ऐसी चिन्ता और दुख की सभावना से घबराते नही और लाख होने की सभावना से प्रसन्न नही होते। वे न तो रुपयो का क्षय करना चाहते हैं और न रुपयो के बधन मे पडने से दुखी होते हैं। निवृत्ति-मार्गी साधु भी मन्दिरो मे और पुस्तकालयो मे बढने वाले परिग्रह से चितातुर नही होते। परन्तु कर्म नाम की पूजी की हमने कुछ ऐसी कल्पना की है मानो वह एक बडी गठरी है और उसको खोलकर, जैसे बने वैसे उसे खत्म कर डालने मे ही मनुष्य का श्रेय है, कर्म का व्यापार करके उससे लाभ उठाने नही। कर्म को पूजी की तरह समझने के कारण उसे खत्म करने की ऐसी कल्पना पैदा हुई है।

परन्तु कर्म का बधन रुपयो की गठरी जैसा नही है। और वृत्ति परावृत्ति (अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति) से यह गठरी घटती-बढती नही है। जगत् मे कोई भी क्रिया हो चाहे जानने मे हो या अनजान मे, वह विविध प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म परिणाम एक ही समय मे या भिन्न-भिन्न समय मे, तुरन्त या कालान्तर मे एक ही साथ या रह-रहकर पैदा करती है। इन परिणामो मे से एक परिणाम कर्म करने वाले के ज्ञान और चारित्र के ऊपर किसी तरह का रजकण जितना ही असर उपजाने का होता है। करोडो कर्मों के ऐसे करोडो असरो के परिणाम स्वरूप हर एक जीव का ज्ञान-चारित्र का व्यक्तित्व बनता बनता है। यह निर्माण यदि उत्तरोतर शुद्ध होता जाय और ज्ञान, धर्म, वैराग्य इत्यादि की ओर अधिकाधिक झुकता जाये तो उसके कर्म का क्षय होता है, ऐसा कहा जायेगा। यदि वह उत्तरोतर अशुद्ध होता जाय तो उसके कर्म का सचय होता है, ऐसा कहा जायेगा।

इस तरह कर्मों की वृत्ति-परावृत्ति नही, परन्तु कर्म कर्म का जीव के ज्ञान-चारित्र पर होने वाला असर ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। जीवन काल मे मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है ऐसी उच्च स्थिति का आदर्श जिस स्थिति के प्राप्त होने के वाद उस व्यक्ति के ज्ञान-चारित्र पर ऐसा असर पैदा हो कि उसमे पुन अशुद्धि घुस सके।

इसके लिए कर्त्तव्य कर्मों का विवेक तो अवश्य करना पडेगा। उदाहरणार्थ अपकर्म नही करने चाहिए, सत्कर्म ही करने चाहिए, कर्त्तव्य रूप कर्म तो करने ही चाहिये, अकर्त्तव्य कर्म छोडने ही चाहिये। चित्तशुद्धि मे सहायक सिद्ध होने वाले कर्म दान, तप और भक्ति के कर्म करने चाहिये इत्यादि। इसी तरह कर्म करने की रीति मे भी विवेक करना पडेगा। जैसे, ज्ञान पूर्वक कर्म करना, सावधानी-पूर्वक करना, सत्य अहिसा आदि नियमो का पालन करते हुए करना, निष्काम भाव से अथवा अनासक्ति भाव से करना इत्यादि। परन्तु यह कल्पना गलत है कि कर्मों से परावृत्ति होने पर कर्मक्षय होता है। कर्त्तव्य रूप कर्म परावृत्त होने की अपेक्षा कदाचित् सकाम भाव से अथवा आसक्ति भाव से किये हुए सत्कर्मों से अधिक कर्म-बन्धन होने की पूरी सम्भावना है। इसकी अधिक सविस्तार चर्चा के लिये गीता मथन नाम पुस्तक पढे। □ (ससार और धर्म से साभार)

करुणा मोह का अंश नहीं, ध्वंस है

□ आचार्य श्री विद्यासागर जी म.

(1)

वासना का विलास मोह है।
दया का विकास मोक्ष है।
एक जीवन को बुरी तरह जलाती है
भयकर है, अगार है।
एक जीवन को पूरी तरह जिलाती है
शुभकर है, शृ गार है।
हाँ ! हाँ !!
अधूरी दया करुणा
मोह का अश नही है
अपितु आशिक मोह का ध्वस है।
वासना की जीवन-परिधि
अचेतन है वन है।
दया-करुणा निरवधि है
करुणा का केन्द्र वह
सवेदन धर्मा चेतन है
पीयूष का निकेतन है।
करुणा की कणिका से
अविरल झरती है
समता की सौरभ-सुगध
ऐसी स्थिति मे
कौन कहता है
कि
करुणा का वासना से सम्बन्ध है।

(2)

पर पर दया करना
बहिर्दृष्टि-सा मोह-मूढता-सा
स्व-परिचय से वंचित-सा
अध्यात्म से दूर
प्राय लगता है
ऐसी एकान्त धारणा से
अध्यात्म की विराधना होती है ।
क्योंकि, सुनो !
स्व के साथ पर का
और
पर के साथ स्व का
ज्ञान होता ही है,
गौण-मुख्यता भले ही हो ।
चन्द्र-मण्डल को देखते हैं
नभ-मण्डल भी दीखता है ।
पर की दया करने से
स्व की याद आती है
और
स्व की याद ही
स्व-दया है
विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या-द—द-या ।

(3)

मैं तुम्हे, हृदय-शून्य तो नही कहूँगा
परन्तु
पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा,

दूसरो का दु ख-दर्द
देखकर भी
नही आ सकता कभी
जिसे पसीना
है ऐसा तुम्हारा जीना
फिर भी
ऋषि-सन्तो का
सदुपदेश सदादेश
हमे यही मिला कि
पापी से नही
पाप से
पकज से नही
पक से
घृणा करो ।
नर से
नारायण बनो
समयोचित कर कार्य ।

(4)

करुणा हेय नही,
करुणा की अपनी उपादेयता है
अपनी सीमा
फिर भी,
करुणा की सही स्थिति समझना है
करुणा करने वाला
अह का पोषक भले ही बने
परन्तु
स्वय को गुरु-शिष्य
अवश्य समझता है
और

जिस पर करुणा की जा रही है वह
स्वय को शिशु-शिष्य
अवश्य समझता है ।
दोनो का मन द्रवीभूत होता है
शिष्य शरण लेकर
गुरु शरण देकर
कुछ अपूर्व अनुभव करते है
पर इसे
सही सुख नही कह सकते हम
दु ख मिटने का
और
सुख मिलने का द्वार खुला अवश्य
फिर भी ये दोनो
दु ख को भूल जाते है इस घडी मे ।

(5)

करुणा की दो स्थितियाँ होती है—
एक विषय-लोलुपिनी
दूसरी विषय-लोपिनी दिशा-बोधिनी
पहली की चर्चा यहाँ नही है
चर्चा-अर्चा दूसरी की है ।
इस करुणा का स्वाद
किन शब्दो मे कहू
गर यकीन हो
नमकीन आँसुओ का
स्वाद है वह ।

(6)

करुणा-रस जीवन का प्राण है
घम-घम समीरधर्मी है।
वात्सल्य जीवन का त्राण है
धवलिम नीर धर्मी है।
करुणा-रस उसे माना है, जो
कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है।
वात्सल्य का बाना है
जघन्यतम नादान को भी
सोम बना देता है।

'मूकमाटी' से उद्धृत

सेवा-धर्म

□ श्री युगल किशोर मुख्तार

अहिसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रयधर्म सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्मनामो से हम बहुत कुछ परिचित हैं, परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक बहुत ही अपरिचित-सा बना हुआ है। हम प्राय: समझते ही नही कि सेवाधर्म भी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनो ही ने तो सेवाधर्म को सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है, वे सेवक को गुलाम समझते है और गुलामी मे धर्म कहा? इसी से उनकी तद्रूप सस्कारो मे पली हुई बुद्धि सेवाधर्म को कोई धर्म अथवा महत्त्व का धर्म मानने के लिये तैयार नही। वे समझ ही नही पाते कि एक भाडे के सेवक, अनिच्छापूर्वक मजबूरी से काम करने वाले परतन्त्र सेवक और स्वेच्छा से अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्म का अनुष्ठान करनेवाले अथवा लोकसेवा मे दत्तचित्त रहनेवाले स्वयसेवक मे कितना बडा अन्तर है। ऐसे लोग सेवाधर्म को शायद किसी नये धर्म की सृष्टि समझते हो, परन्तु ऐसा समझना ठीक नही है। वास्तव मे सेवाधर्म सब धर्मों मे ओत-प्रोत है और सब मे प्रधान है। बिना इस धर्म के सब धर्म निष्प्राण है, नि:सत्त्व है और उनका कुछ भी मूल्य नही है। क्योकि मन-वचन-काय से स्वेच्छा एव विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओ का छोडना जो किसी के लिये हानिकारक हो और ऐसी क्रियाओ का करना जो उपकारक हो 'सेवा-धर्म' कहलाता है।

'मेरे द्वारा किसी जीव को कष्ट अथवा हानि न पहुँचे, मैं सावद्य-योग से विरक्त होता हूँ', लोकसेवा की ऐसी भावना के बिना अहिसा धर्म कुछ भी नही रहता, और, 'मै दूसरो का दु:ख-कष्ट दूर करने मे कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावना को यदि दया-धर्म से निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या अवशिष्ट रहेगा? इसे सहृदय पाठक स्वय समझ सकते है। इसी तरह दूसरे धर्मो का हाल है। सेवाधर्म की

भावना को निकाल देने से वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते है। सेवाधर्म ही उन सब मे, अपनी मात्रा के अनुसार, प्राणप्रतिष्ठा करने वाला है। इसलिये सेवाधर्म का महत्त्व बहुत ही बढा-चढा है और वह एक प्रकार से अवर्णनीय है। अहिंसादिक सब धर्म अङ्ग अथवा प्रकार है और वह सब मे व्यापक है। ईश्वरादिक की पूजाभक्ति अथवा उपासना भी उसी मे शामिल (गर्भित) है, जो कि अपने पूज्य एव उपकारी पुरुषो के प्रति किये जाने वाले अपने कर्त्तव्य के पालनादि स्वरूप होती है। इसी से उसको 'देवसेवा' भी कहा गया है। किसी देव अथवा धर्म-प्रवर्तक के गुणो का कीर्तन करना, उसके शासन को स्वय मानना, सदुपदेश को अपने जीवन मे उतारना और शासन का प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तक की सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियो की जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्मसेवा अथवा लोकसेवा है। इस तरह एक सेवा मे दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती है।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने इष्टदेव भगवान् महावीर के विषय मे सेवा का और अपने को उनकी फलप्राप्ति का जो उल्लेख एक पद्य मे किया है वह पाठको के जानने योग्य है और उससे उन्हे देवसेवा के कुछ प्रकारो का बोध होगा और साथ ही यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदय से और पूर्ण तन्मयता के साथ की हुई वीर- प्रभु की सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है। इसी से उस पद्य को उनके 'स्तुति-विद्या' नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चन चापि ते
हस्तावजलये कथाश्रुतिरत कर्णोऽक्षि सप्रेक्षते ।
सुस्तुत्या व्यसन शिरोनतिपर सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृतो तेनैव तेज पते ।।

स्तुतिविद्या-114

इसमे बतलाया है कि—'हे भगवन् ! आपके मत मे अथवा आपके ही विषय मे मेरी सुश्रद्धा है—अन्ध श्रद्धा नही, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता

सेवा-धर्म

□ श्री युगल किशोर मुख्तार

अहिसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रयधर्म सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्मनामो से हम बहुत कुछ परिचित हैं, परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक बहुत ही अपरिचित-सा बना हुआ है। हम प्राय: समझते ही नही कि सेवाधर्म भी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनो ही ने तो सेवाधर्म को सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है, वे सेवक को गुलाम समझते है और गुलामी मे धर्म कहा ? इसी से उनकी तद्रूप संस्कारो मे पली हुई बुद्धि सेवाधर्म को कोई धर्म अथवा महत्त्व का धर्म मानने के लिये तैयार नही। वे समझ ही नही पाते कि एक भाड़ के सेवक, अनिच्छापूर्वक मजबूरी से काम करने वाले परतन्त्र सेवक और स्वेच्छा से अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्म का अनुष्ठान करनेवाले अथवा लोकसेवा मे दत्तचित्त रहनेवाले स्वयसेवक मे कितना बड़ा अन्तर है। ऐसे लोग सेवाधर्म को शायद किसी नये धर्म की सृष्टि समझते हो, परन्तु ऐसा समझना ठीक नही है। वास्तव मे सेवाधर्म सब धर्मो मे ओत-प्रोत है और सब मे प्रधान है। बिना इस धर्म के सब धर्म निष्प्राण है, नि:सत्त्व है और उनका कुछ भी मूल्य नही है। क्योकि मन-वचन-काय से स्वेच्छा एव विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओ का छोडना जो किसी के लिये हानिकारक हो और ऐसी क्रियाओ का करना जो उपकारक हो 'सेवा-धर्म' कहलाता है।

'मेरे द्वारा किसी जीव को कष्ट अथवा हानि न पहुँचे, मैं सावद्य-योग से विरक्त होता हूँ', लोकसेवा की ऐसी भावना के बिना अहिंसा धम कुछ भी नही रहता, और, 'मैं दूसरो का दु:ख-कष्ट दूर करने मे कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावना को यदि दया-धर्म से निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या अवशिष्ट रहेगा ? इसे सहृदय पाठक स्वय समझ सकते है। इसी तरह दूसरे धर्मो का हाल है। सेवाधम की

भावना को निकाल देने से वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते है। सेवाधर्म ही उन सब मे, अपनी मात्रा के अनुसार, प्राणप्रतिष्ठा करने वाला है। इसलिये सेवाधर्म का महत्त्व बहुत ही बढा-चढा है और वह एक प्रकार से अवर्णनीय है। अहिंसादिक सब धर्म अङ्ग अथवा प्रकार है और वह सब मे व्यापक है। ईश्वरादिक की पूजाभक्ति अथवा उपासना भी उसी मे शामिल (गर्भित) है, जो कि अपने पूज्य एव उपकारी पुरुषो के प्रति किये जाने वाले अपने कर्त्तव्य के पालनादि स्वरूप होती है। इसी से उसको 'देवसेवा' भी कहा गया है। किसी देव अथवा धर्म-प्रवर्तक के गुणो का कीर्तन करना, उसके शासन को स्वय मानना, सदुपदेश को अपने जीवन मे उतारना और शासन का प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तक की सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियो की जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्मसेवा अथवा लोकसेवा है। इस तरह एक सेवा मे दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती है।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने इष्टदेव भगवान् महावीर के विषय मे सेवा का और अपने को उनकी फलप्राप्ति का जो उल्लेख एक पद्य मे किया है वह पाठको के जानने योग्य है और उससे उन्हे देवसेवा के कुछ प्रकारो का बोध होगा और साथ ही यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदय से और पूर्ण तन्मयता के साथ की हुई वीर- प्रभु की सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है। इसी से उस पद्य को उनके 'स्तुति-विद्या' नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चन चापि ते
हस्तावजलये कथाश्रुतिरत कर्णोऽक्षि सप्रेक्षते।
सुस्तुत्या व्यसन शिरोनतिपर सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेज पते ॥

स्तुतिविद्या-114

इसमे बतलाया है कि —'हे भगवन् ! आपके मत मे अथवा आपके ही विषय मे मेरी सुश्रद्धा है—अन्ध श्रद्धा नही, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता

हू, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाजलि करने के निमित्त है, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुनने मे लीन रहते है, मेरी आँखें आपके ही रूप को देखती है, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियो[1] के रचने का है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करने मे तत्पर रहता है, इस प्रकार की चूँकि मेरी सेवा है मैं निरन्तर ही आपका इस तरह सेवन किया करता हूँ—इसीलिये हे तेजःपते ! (केवलज्ञानस्वामिन् !) मै तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान्) हूँ।'

यहाँ पर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि सेवा बडो की—पूज्य पुरुषो एव महात्माओ की होती है और उसी से कुछ फल भी मिलता है, छोटो—असमर्थों अथवा दीन-दुखियो आदि की सेवा में क्या धरा हे ? ऐसा समझना भूल होगा। जितने भी बडे, पूज्य, महात्मा अथवा महापुरुष हैं वे सब छोटो, असमर्थों, असहायो एव दीन-दुखियो की सेवा से ही हुए है। सेवा ही सेवक को सेव्य बनाती अथवा ऊँचा उठाती है और इसलिये ऐसे महान् लोक-सेवको की सेवा अथवा पूजा-भक्ति का यह अभिप्राय नही कि हम उसका कोरा गुणगान किया करे अथवा उनकी ऊपरी (औपचारिक) सेवा-चाकरी में ही अपने को लगाये रक्खें। उन्हे तो अपने व्यक्तित्व के लिये हमारी सेवा की जरूरत भी नही है। कृतकृत्यो को उसकी जरूरत भी क्या हो सकती है ? इसीलिए स्वामी समन्तभद्रने कहा है—"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे"—अर्थात् हे भगवन् ! पूजा-भक्ति से आपका कोई प्रयोजन नही है, क्योकि आप वीतरागी हैं—राग का अश भी आपकी आत्मा मे विद्यमान नही है, जिसके कारण किसी की पूजा-सेवा से आप प्रसन्न होते। वास्तव मे ऐसे महान् पुरुषो की सेवा-उपासना का मुख्य उद्देश्य उपकारस्मरण और कृत-ज्ञता-व्यक्तीकरणके साथ तद्गुणलब्धि—उनके गुणो की संप्राप्ति—होती है। इसी बात को श्री पूज्य-

---

1 समन्तभद्र की देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयभूस्तोत्र नाम की स्तुतिया बडे ही महत्व की एव प्रभावशालिनी है और उनमे सूत्ररूप मे जैनागम अथवा वीरशासन भरा हुआ है।

पादाचार्यने 'सर्वार्थसिद्धि' के मगलाचरण ('मोक्षमार्गस्य नेतार' इत्यादि) मे "वन्दे तदगुणलब्धये" पद के द्वारा व्यक्त किया है। तद्-गुण लब्धि के लिये तद्रूप आचरण की जरूरत है और इसलिये जो तद्गुण-लब्धि की इच्छा करता है वह पहले तद्रूप आचरण को अपनाता है—अपने आराध्य के अनुकूल वर्तन करना अथवा उसके नक्शेकदम पर चलना प्रारम्भ करता है। उसके लिये लोकसेवा अनिवार्य हो जाती है—दीनो, दुखितो, पीडितो, पतितो, असहायो, असमर्थों, अज्ञो और पथभ्रष्टो की सेवा करना उसका पहला कर्त्तव्य-कर्म बन जाता है। जा ऐसा न करके अथवा उक्त ध्येय को सामने न रखकर ईश्वर-परमात्मा या पूज्य महात्माओ की भक्ति के कोरे गीत गाता है वह या तो दभी है या ठग है। वह अपन को तथा दूसरो को ठगता है, या उन जड मशीनो की तरह अविवेको है जिन्हे अपनी क्रियाओ का कुछ भी रहस्य मालूम नही होता। इसलिए भक्ति के रूप मे उसकी उछल-कूद तथा जयकारो का—जय जय के नारो का—कुछ भी मूल्य नही है। वे सब दभपूर्ण अथवा भावशून्य होने से बकरी के गले मे लटकते हुए स्तनो (थनो) के समान निरर्थक होते है। उनका कुछ भी वास्तविक फल नही होता।

महात्मा गाधीजी ने कई बार ऐसे लोगो को लक्ष्य करके कहा है कि 'वे मेरे मुँह पर थूकें तो अच्छा, जो भारतीय होकर भी स्वदेशी वस्त्र नही पहनते और सिर से पैर तक विदेशी वस्त्रो को धारण किये हुए मेरी जय बोलते हैं।' ऐसे लोग जिस प्रकार गाधीजी के भक्त अथवा सेवक नही कहे जाते बल्कि मजाक उडाने वाले समझे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग अपने पूज्य महापुरुषो के अनुकूल आचरण नही करते—अनुकूल आचरण की भावना तक नही रखते खुशी से विरुद्धाचरण करते हैं और उस कुत्सित आचरण को करते हुए पूज्य पुरुष की वदनादि क्रिया करते तथा जय बोलते हैं, उन्हे उस महापुरुष का सेवक अथवा उपासक नही कहा जा सकता। वे भी उस पूज्य व्यक्ति का उपहास करने-कराने वाले ही होते है, अथवा यह कहना होगा कि वे अपने उस आचरण के लिए जड मशीनो की तरह स्वाधीन नही हैं और ऐसे पराधीनो का कोई धर्म नही होता। सेवाधर्म के लिए स्वेच्छापूर्वक कार्य का होना आवश्यक

है, क्योंकि स्व-परहित-साधन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक अपना कर्त्तव्य समझकर जो निष्काम कर्म अथवा कर्मत्याग किया जाता है वह सच्चा सेवाधर्म है।

जब पूज्य महात्माओ की सेवा के लिए गरीबो की, दीन-दु खियो की, पीड़ितो-पतितो की, असहायो-असमर्थों की, अज्ञों और पथभ्रष्टो की सेवा अनिवार्य है—उस सेवा का प्रधान अग है, बिना इसके वह बनती ही नही—तब यह नही कहा जा सकता और न कहना उचित ही होगा कि "छोटो-असमर्थो अथवा दीन-दु खियो आदि की सेवा मे क्या धरा है ?" वस्तुत यह सेवा तो अहकारादि दोषो को दूर करके आत्मा को ऊँचा उठाने वाली है, तद्‌गुण-लब्धि के उद्देश्य को पूरा करने वाली है और हर तरह से आत्मविकास मे सहायक है, इसलिए परम-धर्म है और सेवाधर्म का प्रधान अग है। जिस धर्म के अनुष्ठान से अपना कुछ भी आत्मलाभ न होता हो वह तो वास्तव मे धर्म ही नही है।

इसके सिवाय, अनादिकाल से हम निर्बल, असहाय, दीन, दु खित, पतित, मार्गच्युत और अज्ञ जैसी अवस्थाओ मे ही अधिकतर रहे है और उन अवस्थाओ मे हमने दूसरो की खूब सेवाएँ ली हैं, तथा सेवा-सहायता की प्राप्ति के लिये निरन्तर भावनाएँ भी की हैं, और इसलिये उन अवस्थाओ मे पडे हुए अथवा उनमे से गुज़रने वाले प्राणियो की सेवा करना हमारा और भी ज्यादा कर्त्तव्यकर्म है, जिसके पालन के लिये हमे अपनी शक्ति को जरा भी नही छिपाना चाहिये। उसमे जी चुराने अथवा आना-कानी करने जैसी कोई बात नही होनी चाहिये। इसी को यथाशक्ति कर्त्तव्य का पालन कहते हैं।

एक बच्चा पैदा होते ही कितना निर्बल और असहाय होता है और अपनी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये कितना दूसरो पर निर्भर रहता अथवा आधार रखता है। दूसरे जन उसकी खिलाने-पिलाने, उठाने-बिठाने, लिटाने-सुलाने, ओढने-बिछाने, दिल-बहलाने, सर्दी-गर्मी आदि से रक्षा करने और शिक्षा देने-दिलाने की जो भी सेवाएं करते है वे सब उसके लिए प्राणदान के समान है। समर्थ होने

पर यदि वह उन सेवाओ को भूल जाता है और घमड मे आकर अपने उन उपकारी सेवको की, माता-पितादिको की सेवा नही करता, उनका तिरस्कार तक करने लगता है तो समझना चाहिए कि वह पतन की ओर जा रहा है। ऐसे लोगो को ससार मे कृतघ्न, गुणमेट और अहसानफरामोश जैसे दुर्नामो से पुकारा जाता है। कृतघ्नता अथवा दूसरो के किये हुए उपकारो और ली हुई सेवाओ को भूल जाना बहुत बडा अपराध है और वह विश्वासघातादि की तरह ऐसा बडा पाप है कि उसके भार से पृथ्वी भी कॉपती है। किसी कवि ने ठीक कहा है—

करै विश्वासघात जो कोय, कीया कृत को विसरै जोय।
आपद पडे मित्र परिहरै, तासु भार धरणी थरहरै ॥

ऐसे ही पापो का भार बढ जाने से पृथ्वी अक्सर डोला करती है—भूकम्प आया करते है। और इसीसे जो साधु पुरुष–भले आदमी–होते हैं वे दूसरो के किए हुए उपकारो अथवा ली हुई सेवाओ को कभी भूलते नही हैं—'न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति'— बदले मे अपने उपकारियो की अथवा उनके आदर्शानुसार दूसरो की सेवा करके ऋणमुक्त होते रहते हैं। उनका सिद्धात तो 'परोपकाराय सता विभूतय ' की नीति का अनुसरण करते हुए प्राय यह होता है —

उपकारिषु य लाधु साधुत्वे तस्य को गुण ?
अपकारिषु य साधु स साधु सद्भिरुच्यते ॥

अर्थात् अपने उपकारियो के प्रति जो साधुता का, प्रत्युपकारादि-रूप सेवा का व्यवहार करता है उसके उस साधुपन मे कौनसी बडाई की बात है ? ऐसा करना तो साधारण जनोचित मामूली-सी बात है। सत्पुरुषो ने उसे सच्चा साधु बतलाया है जो अपना अपकार एव बुरा करने वालो के प्रति भी साधुता का व्यवहार करता है, उनकी सेवा करके आत्मा से शत्रुता के विप को ही निकाल देना अपना कर्तव्य समझता है।

ऐसे साधु पुरुषो की दृष्टि मे उपकारी, अनुपकारी और अपकारी

प्राय. सभी समान होते हे। उनकी विश्वबन्धुत्व की भावना मे किसी का अपकार या अप्रिय आचरण कोई बाधा नही डालता। "अप्रियमपि कुर्वाणो य' प्रिय प्रिय एव स" इस उदार भावना से उनका आत्मा सदा ऊँचा उठा रहता हे। वे तो सेवाधर्म के अनुष्ठान द्वारा अपना विकास सिद्ध किया करते ह, और इसी से सेवाधर्म के पालन मे सब प्रकार से दत्तचित्त होना अपना कर्तव्य समझते है।

वास्तव मे, पैदा होते ही जहा हम दूसरो से सेवाएँ लेकर उनके ऋणी बनते हे वहाँ कुछ समर्थ होने पर अपनी भोगोपभोग की सामग्री जुटाने मे, अपनी मान-मर्यादा की रक्षा मे, अपनी कषायो को पुष्ट करने मे और अपने महत्त्व या प्रभुत्व को दूसरो पर स्थापित करने की धुन मे अपराध भी कुछ कम नही करते हैं। इस तरह हमारा आत्मा परकृत उपकार-भार और स्वकृत अपराध-भार से बराबर दबा रहता है। इन भारो के हल्का होने के साथ आत्मा के विकास का भी सम्बन्ध है। लोकसेवा से यह भार हल्का होकर आत्मविकास की सिद्धि होती है। इसलिए सेवा को परमधर्म कहा गया है और वह इतना परम गहन है कि कभी-कभी तो योगियो के द्वारा भी अगम्य हो जाता है। उनकी बुद्धि चकरा जाती है। वे भी उसके सामने घुटने टेक देते है, और गहरी समाधि मे उतरकर उसके रहस्य को खोजने का प्रयत्न करते है। लोकसेवा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी उन्हे बहुधा यह कहते हुए सुनते है—

"हा दुट्ठकय! हा दुट्ठ भासिय! चितिय च हा दुट्ठ!
अतो अतो डज्झम्मि पच्छत्तावेण वेयतो ॥"

मन-वचन-काय की प्रवृत्ति मे जहा थोडी-सी भी प्रमत्तता, असावधानी अथवा त्रुटि लोकहित के विरुद्ध दीख पडती है वहाँ उसी समय उक्त प्रकार के उद्‌गार उनके मुँह से निकल पडते है और वे उनके द्वारा पश्चात्ताप करते हुए अपने सूक्ष्म अपराधो का भी नित्य प्रायश्चित किया करते है। इसीसे यह प्र सद्ध है कि—

सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य.।"

सेवाधर्म की साधना मे, नि.सन्देह, बडी सावधानी की जरूरत है

और उसके लिए बहुत कुछ आत्मबलि व अपने लौकिक स्वार्थों की आहुति देनी पडती है। पूर्ण सावधानी ही पूर्णसिद्धि की जननी है। धर्म की पूर्णसिद्धि ही पूर्ण आत्मविकास के लिये गारण्टी है और यह आत्म-विकास ही सेवाधर्म का प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है अथवा ध्येय है।

मनुष्य का लक्ष्य जब तक शुद्ध नही होता तब तक सेवाधर्म उसे कुछ कठिन और कष्टकर जरूर प्रतीत होता है। वह सेवा करके अपना अहसान जतलाता है, प्रति सेवा की—प्रत्युपकार की वाछा करता है, अथवा अपनी तथा दूसरो की सेवा की मापतौल किया करता है और जव उसकी मापतौल ठीक नही उतरती, अपनी सेवा से दूसरो की सेवा कम जान पडती है—अथवा उसकी वह वाछा ही पूरी नही होती और न दूसरा आदमी उसका अहसान ही मानता है, तो वह एकदम झुझला उठता है, खेदखिन्न होता है, दु ख मानता है, सेवा करना छोड देता है और अनेक प्रकार के राग-द्वेषो का शिकार बनकर अपनी आत्मा का हनन करता है। सेवा की लक्ष्य शुद्धि के होते ही यह सब कुछ बदल जाना है, सेवाधर्म एकदम सुगम और सुखसाध्य बन जाता है, उसके करने मे आनन्द ही आनन्द आने लगता है और उत्साह इतना बढ जाता है कि उसके फलस्वरूप लौकिक स्वार्थों की सहज ही मे बलि चढ जाती है और जरा भी कष्ट-बोध होने नही पाता—इस दशा मे जो भो किया जाता है, अपना कर्तव्य समझकर खुशी से किया जाता है और उसके साथ मे प्रतिसेवा, प्रत्यु-पकार अथवा अपने आदर-सत्कार या अहकार की कोई भावना न रहने से भविष्य मे दु ख, उद्वेग तथा कषाय भावो की उत्पत्ति का कोई कारण ही नही रहता, और इसलिये सहज ही मे आत्म-विकास सघ जाता है। ऐसे लोग यदि किसी को दान भी करते हैं तो नीचे नयन करके करते है और उसमे अपना कर्तृत्व नही मानते। किसी ने पूछा "आप ऐसा क्यो करते हैं ?" तो वे उत्तर देते है—

देनेवाला और है, मैं समरथ नहिं देन।
लोग भरम मो करत है, यातें नीचे नैन॥

अर्थात्—देनेवाला कोई और ही है, मै खुद कुछ भी देने के लिये

समर्थ नही हूँ। यदि मैं दाता होता तो इसे पहले से क्यो न देता ? लोग भ्रमवश मुझे व्यर्थ ही दाता समझते है, इससे मुझे शरम आती है और मैं नीचे नयन किये रहता हूँ ? देखिये, कितना ऊँचा भाव है। आत्म-विकास को अपना लक्ष्य बनाने वाले मानवो की ऐसी ही परिणति होती है। अस्तु।

लक्ष्यशुद्धि के साथ इस सेवाधर्म का अनुष्ठान हर कोई अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है। नौकर अपनी नौकरी, दुकानदार दुकानदारी, वकील वकालत, मुख्तार मुख्तारकारी, मुहर्रिर मुहर्रिरी, ठेकेदार ठेकेदारी, ओहदेदार ओहदेदारी, डाक्टर डाक्टरी, हकीम हिकमत, वैद्य वैद्यक, शिल्पकार शिल्पकारी, किसान खेती तथा दूसरे पेशेवर अपने-अपने उस पेशे का कार्य और मजदूर अपनी मजदूरी करता हुआ उसी मे से सेवा का मार्ग निकाल सकता है। सबके कार्यों मे सेवाधर्म के लिये यथेष्ट अवकाश है—गुंजाइश है।

सेवाधर्म मे 'दया' प्रधान है। दूसरो के दुःखो-कष्टो का अनुभव करके, उनसे द्रवीभूत होकर, उन्हे दूर करने के लिए मन-वचन-कायकी जो प्रवृत्ति है, व्यापार है—उसका नाम 'दया' है। अहिंसा-धर्म का अनुष्ठाता जहा अपनी ओर से किसी को दुःख-कष्ट नहीं पहुँचाता, वहाँ दयाधर्म का अनुष्ठाता दूसरो के द्वारा पहुँचाए गए दुःख-कष्टो को भी दूर करने का प्रयत्न करता है। यही दोनो मे प्रधान अन्तर है। अहिंसा यदि सुन्दर पुष्प है तो दया को उसकी सुगन्ध समझना चाहिए।

दया मे सक्रिय परोपकार, दान, वैय्यावृत्त्य, धर्मोपदेश और दूसरो के कल्याण की भावनाएँ शामिल है। अज्ञान से पीडित जनता के हितार्थ विद्यालय-पाठशालाएँ खुलवाना, पुस्तकालय-वाचनालय स्थापित करना, रिसर्च इन्स्टीट्यूटो का, अनुसन्धान प्रधान सस्थाओ का—जारी रहना, वैज्ञानिक खोजो को प्रोत्तेजन देना तथा ग्रन्थ-निर्माण और व्याख्यानादि के द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करना, रोग से पीड़ित प्राणियो के लिए औषधालयो-चिकित्सालयो की व्यवस्था करना, बेरोजगारी अथवा भूख से सतप्त मनुष्यो

के लिए रोजगार-धन्धे का प्रबन्ध करके उनके रोटी के सवाल को हल करना, और कुरीतियो, कुसस्कारो तथा बुरी आदतो से जर्जरित एव पतनोन्मुख मनुष्य समाज के सुधारार्थ सभा-सोसाइटियो को कायम करना और उन्हे व्यवस्थित रूप से चलाना, ये सब उसी दया प्रधान प्रवृत्तिरूप सेवा धर्म के अग है। पूज्यो की पूजा-भक्ति-उपासना के द्वारा अथवा भक्तियोग-पूर्वक जो अपनी आत्मा का उत्कर्ष सिद्ध किया जाता है वह सब भी मुख्यतया प्रवृत्तिरूप सेवाधर्म का अग है।

इस प्रवृत्तिरूप सेवाधर्म मे भी जहाँ तक अपने मन, वचन और कार्य से सेवा का सम्बन्ध है वहाँ तक किसी कौडी-पैसे की जरूरत नही पडती। जहाँ सेवा के लिए दूसरे साधनो से काम लिया जाता है वहाँ ही उसकी जरूरत पडती है। और इस तरह यह स्पष्ट है कि अधिकाश सेवाधम के अनुष्ठान के लिए मनुष्य को टके-पैसे की जरूरत नही है। जरूरत है अपनी चित्तवृत्ति और लक्ष्य को शुद्ध करने की, जिसके बिना सेवाधर्म बनता ही नही। □

सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सेवा*

☐ स्वामी श्री शरणानन्दजी

(1)

जीवन का अध्ययन करनेपर यह विदित होता है कि समस्त जीवन दो भागो मे विभाजित है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। यद्यपि उन दोनो भागो का उद्देश्य एक है, क्योकि जीवन एक है, परन्तु उद्देश्य-पूर्ति के लिये साधन दृष्टि से दो भागो मे विभाजन हो सकता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्गमस्थान देहाभिमान तथा विद्यमान राग है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे निवृत्ति का आना स्वाभाविक है, क्योकि प्रवृत्ति से प्राप्त शक्ति का व्यय होता है और निवृत्ति द्वारा पुन. शक्ति का सचय होता है। विद्यमान राग की निवृत्ति मे ही प्रवृत्ति का सदुपयोग निहित है और नवीन राग की उत्पत्ति न होने तथा प्रवृत्ति की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये ही निवृत्ति अपेक्षित है।

अब हमे अपनी प्रवृत्तियो का निरीक्षण करना है कि हमारी प्रवृत्तिया सुखभोग की आसक्ति तथा देहाभिमान को पुष्ट करने मे है अथवा विद्यमान राग की निवृत्ति मे। जिन प्रवृत्तियो के द्वारा हम वस्तु, व्यक्ति आदि से अपने सुख-सम्पादन की आशा करते है, वे सभी देहाभिमान को पुष्ट करती हैं और हमे लोभ, मोह आदि दोषो मे आबद्ध करती है। अत ऐसी प्रवृत्तियो के द्वारा प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध नही होती, अपितु दोषो की ही वृद्धि होती है, जिससे हम जड़ता और शक्तिहीनता मे आबद्ध हो जाते है।

---

* स्वामी श्री शरणानन्द जी वस्तुत प्रज्ञाचक्षु थे। उनके 'जीवन दर्शन,' 'सत-समागम', 'दु ख का प्रभाव' तथा 'दर्शन और नीति' ग्रन्थो के विभिन्न स्थलो से सेवा, करुणा आदि सर्वहितकारी प्रवृत्तियो से सम्बद्ध अश यहां सकलित है।

परतु जिन प्रवृत्तियो मे दूसरो का हित तथा प्रसन्नता निहित है, वे प्रवृत्तियाँ विद्यमान राग की निवृत्ति करने मे समर्थ हैं और उनके अन्त मे स्वभाव से ही वास्तविकता की जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा नवीन राग को उत्पन्न नही होने देती, अपितु सहज निवृत्ति को जन्म देती है, जो विकास का मूल है। सहज निवृत्ति मे आवश्यक सामर्थ्य स्वत प्राप्त होती है।

रागरहित होने के लिये सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति साधनरूप है, साध्य नही। अत हमे अपने मे से 'मैं सर्वहितैषी हूँ', 'मै अचाह हूँ' अथवा 'मुझे अपने लिये ससार से कुछ नही चाहिये' यह अहभाव भी गला देना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा जब सर्व-हितकारी प्रवृत्ति होनेपर भी अपने मे करनेका अभिमान न हो और चाहरहित होनेपर भी 'मैं चाहरहित हूँ' ऐसा भास न हो। कारण कि अहभाव के रहते हुए वास्तव मे कोई अचाह हो नही सकता, क्योकि सेवा तथा त्याग का अभिमान भी किसी राग से कम नही है। सूक्ष्म राग कालातर मे घोर राग मे आबद्ध कर देता है। राग का अभाव तभी हो सकता है जब दोप की उत्पत्ति न हो और गुण का अभिमान न हो, क्योकि अभिमान के रहते हुए अनन्त से अभिन्नता सम्भव नही है और उसके विना काई भी वीतराग हो ही नही सकता। कारण कि सीमित अहभाव के रहते हुए राग का अत्यन्त अभाव नही हो सकता।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति की जननी है क्योकि सर्वात्मभाव दृढ होनेपर ही निवृत्ति आती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही सर्वात्मभाव की उपलब्धि होती है। अपने ही समान सभी के प्रति प्रियता उदय हो जाने पर ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति की सिद्धि होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव मे किये हुए सग्रह का प्राय-श्चित्त है, कोई विशेष महत्त्व की बात नही है और निवृत्ति प्राकृतिक विधान है। उसे अपनी महिमा मान लेना मिथ्या अभिमान को ही जन्म देना है, और कुछ नही। अत प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही जीवन मत मान लो। प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप साधन से वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति की रुचि सहज निवृत्ति के लिए अपेक्षित है और सहज निवृत्ति काम का अन्त करने का साधन है। साधन मे कर्तृत्वभाव तभी तब रहता है, जब तक साधक का समस्त जीवन साधन नही बन जाता। साधक का समस्त जीवन तब तक साधन नही बन सकता, जब तक वह करने और पाने की रुचि मे आवद्ध रहता है।

व्यक्तित्व का अभिमान गलाने के लिये सर्वहितकारी प्रवृत्ति की अपेक्षा है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति हमे ऋण से मुक्त कर सुन्दर समाज का निर्माण करती है और निवृत्ति हमे स्वाधीनता प्रदान कर अनन्त से अभिन्न करती है, जिसमे वास्तविक जीवन है।

सर्व प्रकार के सघर्ष का अन्त सर्वहितकारी प्रवृत्ति मे निहित है। क्योकि सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्नेह की एकता प्रदान करती है। प्रवृत्ति स्वरूप से छोटी हो या बडी, परतु उसके मूल मे यदि सर्वहितकारी भाव है तो वह विभु हो जाती हे। वह विश्व-शान्ति की स्थापना मे समर्थ है, क्योकि स्नेह की एकता वह काम नही करने देती जो नही करना चाहिये और वह स्वत होने लगता है जो करना चाहिये। उसके होते ही जीवन मे व्यापकता आ जाती है। जिसके आते ही सब प्रकार की आसक्तियो का अन्त हो जाता है। आसक्तियो का अन्त होते ही उस दिव्य चिन्मय प्रीति का उदय होता है, जो अपने ही मे अपने प्रीतम को मिलाकर नित-नव-रस प्रदान करती है, यही हमारी वास्तविक आवश्यकता है। (जीवन-दर्शन, पृ 161-164)

(2)

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का आरम्भ और अन्त है। ऐसी कोई प्रवृत्ति है ही नही, जिसका आरम्भ हो और अन्त न हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी प्रवृत्ति अखण्ड नही हो सकती। जो अखण्ड नही हो सकती, वह सहयोगी साधन भले ही हो, उसे साध्य नही कह सकते। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति, निवृत्ति की पोषक है। जिस प्रवृत्ति का परिणाम निवृत्ति नही है, वह प्रवृत्ति दूषित है, त्याज्य है। व्यक्तिगत सुख की आशा को लेकर जो प्रवृत्ति

आरम्भ होती है, उसका परिणाम निवृत्ति नही होता, प्रत्युत प्रवृत्ति के अन्त मे भी प्रवृत्ति की ही रुचि शेप रहती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति मे प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है, तथापि दूषित प्रवृत्तियो की रुचि असमर्थता मे भी बनी रहती है। उस दशा मे प्राणी जो नही कर सकता है तथा जो नहीं करना चाहिये, उसी के चिंतन मे आबद्ध हो जाता है। उसका बडा ही भयकर परिणाम यह होता है कि प्राणी उत्तरोत्तर चेतना से विमुख हो जडता मे ही आबद्ध होता जाता है, जो विनाश का मूल है। असमर्थता-काल मे प्रवृत्ति की रुचि प्राणी को पराधीनता-जनित पीडा मे आवद्ध करती है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नही है। यदि पराधीनता-जनित वेदना से पीडित प्राणी भोग-रूप दूपित प्रवृत्ति की रुचि का नाश कर दे तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक सहज निवृत्ति को अपनाकर असमर्थता का अन्त कर सकता है। फिर अपने आप सर्वहितकारी प्रवृत्ति आरम्भ होती है, जो कर्त्ता को करने के राग से रहित करने मे हेतु है। इस कारण प्रवृत्ति वही सार्थक है, जो किसी के लिये अहितकर न हो, अपितु सर्वहितकारी हो। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति सीमित होने पर भी असीम है, कारण कि उसका अन्त सर्वहितकारी भावना मे ही होता है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म सीमित और भाव असीम होता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति असीम सद्भावनाओ मे सजीवता लाती है और सद्भावनाएँ सर्वहितकारी प्रवृत्ति को पुष्ट बनाती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति कितनी ही अल्प क्यो न हो, कर्त्ता को विभुता से अभिन्न करती है, अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त मे कर्त्ता करने के राग से रहित हो असीम जीवन से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से सर्वहितकारी प्रवृत्ति बडे ही महत्त्व की वस्तु है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त मे अपने आप आने वाली सहज निवृत्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है। ज्यो-ज्यो प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता जाता है, त्यो-त्यो आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वत होती रहती है, अर्थात् सर्वहितकारी कार्य के लिये सामर्थ्य विधान से विना ही मागे मिलती है। सुख-भोग की रुचि का सर्वांश मे नाश हुए बिना सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वभावत नही होती। पर जब साधक सुख-भोग की रुचि का नाश कर देता है, तब सर्वहित-कारी प्रवृत्ति स्वत होने लगती है। आत्मख्याति तथा लोकरजन की

कामना से प्रेरित सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव मे सर्वहितकारी नही है, अपितु मान तथा भोग की जननी हे, जिसका साधक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है, कारण कि मान तथा भोग मे आबद्ध प्राणी देहाभिमान से रहित नही हो पाता, जिसके बिना हुए किसी के भी मौलिक प्रश्न हल नही हो सकते। इस दृष्टि से मान तथा भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही प्रत्येक परिस्थिति मे सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है जो विकास का मूल है।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति के अन्त मे अथवा कामरहित होने पर मगलमय विधान से जो निवृत्ति स्वत आती है, वही वास्तविक निवृत्ति है। सकल्पपूर्वक जिस निवृत्ति का सम्पादन किया जाता है, वह निवृत्ति हाने पर भी घोर प्रवृत्ति ही हे। कामरहित हुए बिना बलपूर्वक जो निवृत्ति प्राप्त की जाती है, वह साधक को अभिमान-शून्य नही होने देतो, जिसके बिना हुए साधन-रूप निवृत्ति की अभि-व्यक्ति नही होती, अपितु अभिमानयुक्त निवृत्ति व्यक्तित्व के मोह का ही पोषण करतो है और परस्पर भेद उत्पन्न कर देती है, जो विनाश का मूल है। अभिमान-शून्य निवृत्ति शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की जननी है और अभिमानयुक्त निवृत्ति आंशिक शक्ति भले ही प्रदान करे, पर शान्ति तथा स्वाधीनता का तो विनाश ही करती है। इस कारण अभिमान रहित निवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति है। उसी की अभिव्यक्ति साधक के मौलिक प्रश्नो के हल करने मे हेतु है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दाये-बाये पैर के समान है। इन दोनो से ही साधक सत्पथ पर आरूढ होता है, परन्तु स्वार्थभाव से उत्पन्न प्रवृत्ति और अभिमानयुक्त निवृत्ति तो प्राणियो को सत्पथ से विमुख ही करती है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त मे निवृत्ति स्वत सिद्ध है। जो तथ्य स्वत सिद्ध है, उसकी खोज की जाती है, उसको उत्पादित नही किया जाता। अत. साधन-रूप निवृत्ति की खोज करना है तथा उससे अभिन्न होना है, उसको उत्पन्न नही करना है। उत्पत्ति-विनाश तो एक ही सिक्के के दो पहलू है। प्रत्येक उत्पत्ति विनाश मे और विनाश उत्पत्ति मे विलीन होता रहता है। सहज निवृत्ति स्वतः प्राप्त होती है, परन्तु उसके लिए प्रत्येक

साधक को कामरहित (सुख भोगरहित) होना अनिवार्य है।"
(दु ख का प्रभाव, पृ 98-100)

(3)

कुछ काल निवृत्ति रहने से सर्वहितकारी प्रवृत्ति की शक्ति स्वत आ जाती है, यह प्राकृतिक नियम है। अत जब मै ससार से विमुख होकर शात रहने लगा, तब ससार को स्वत आवश्यकता होने लगी। किन्तु, जब-जब सम्मान के रस मे आबद्ध हुआ, तब-तब ससार मुझसे विमुख होने लगा। मेरा यह अनुभव है कि ससार से सुख लेने की आशा ने ही सदैव दु ख दिया है और बेचारे दु ख ने सदैव ससार से निराश होने का पाठ पढाया है, जिससे दु खी से दु खी को भी नित्य चिन्मय आनन्द मिला है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि साधक भयङ्कर से भयङ्कर परिस्थिति मे भी साधन का निर्माण कर सकता है और साध्य से अभिन्न हो सकता है। उपर्युक्त पाठ के बोलने का सामर्थ्य होते हुए भी वाणी को मौन कर दिया, गति रुकने लगी, चचलता स्थिरता मे बदलने लगी और जैसे-जैसे चचलता स्थिरता मे बदलने लगी, वैसे-वैसे छिपे हुए राग की पूर्ति भी होने लगी, अर्थात् जिस दु ख से दु खी होकर मन ससार से निराश हुआ था, वह दु ख सुख मे बदलने लगा। यह मेरा ही अनुभव नही है, बहुत से साधको का अनुभव है। कारण, कि यह नियम है कि जिस कठिनाई को शातिपूर्वक सहन कर लिया जाता है, वह कठिनाई स्वय हल हो जाती है। शातिपूर्वक सहन करने का अर्थ है, अपने दु ख का कारण किसी और को न मानकर दु ख को सहन कर लेना। सुख आने पर अपने से दु खियो को बिना किसी अभिमान के वितरण कर देना चाहिये, चू कि सुख वास्तव मे दु खियो की ही धरोहर है, उसे अपना नही मानना चाहिये। अन्तर केवल यह है कि आस्तिक उस सुख को प्रभु के नाते दु खियो को भेंट करता है, तत्त्वज्ञ सर्वात्मभाव से और सेवक विश्व के नाते। यह नियम हे कि जिसके नाते जो कार्य किया जाता है, कर्ता प्रवृत्ति के अन्त मे उसी मे विलीन हो जाता है, अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। तो यदि हम किसी की चाह पूरी कर सकते हैं, तो पूरी करे, किन्तु यह अवश्य देख ले कि जिसकी चाह

पूरी करने हम जा रहे हैं, उसमे अपना सुख है, अथवा उसका हित है। यदि उसमे आपको उसका हित दिखाई दे, तो अवश्य पूरा कर दे। यदि उसमे अपना सुख ही दिखाई दे, तो उसे दुःख का आवाहन समझें। यह बडे ही रहस्य की बात है। जब हम किसी की चाह पूरी करने जाय, और सोचें कि उसमे उसका हित निहित है, तो समझना चाहिये कि हम समाज के ऋण से मुक्त होकर आनन्द की ओर अग्रसर हो रहे है।

"आनन्द किसको मिलता है? जिसकी प्रवृत्ति दूसरो के हित के लिए हो, और जिसकी निवृत्ति वासना-रहित हो। दुःख किसके पास आता है? जिसकी प्रवृत्ति अपने सुख के लिये हो, अथवा जिसकी निवृत्ति वासना-युक्त हो। यदि आपको दुःख बुलाना है, तो अपने सुख के लिये प्रवृत्ति कीजिये। यदि आपको आनन्द अपनाना है, तो दूसरो के हित की प्रवृत्ति कीजिये। यदि असमर्थ हैं, तो शांत हो जाइये, मौन हो जाइए। ऐसा करने से अहभाव गल जायगा, और अनन्त चिन्मय नित्य जीवन से अभिन्नता हो जायगी। जहाँ प्रवृत्ति के द्वारा साधन की सुविधा न हो, वहाँ वासना-रहित निवृत्ति अपना लेनी चाहिए। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो दाये-बाये पैर के समान साधनक्रम है। जैसे दोनो पैरो से यात्रा सुगमतापूर्वक हो जाती है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति से हमारी जो साधना-रूप यात्रा है, वह सुगमतापूर्वक पूरी हो जाती है और हम अपने साध्य तक पहुँच जाते हैं। केवल प्रवृत्ति अथवा केवल निवृत्ति के द्वारा ही जो अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते है उनकी वही दशा होती है जो एक पैर से यात्रा करने वाले की होती है, जिसमे सफलता की कोई आशा नही। सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति, ये साधना के मूल है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वही कर सकता है, जो यह विश्वास करता है कि विश्व एक जीवन है अथवा यह मानता है कि मेरा व्यक्तिगत जीवन विश्व के अधिकारो का समूह है। अथवा यो कहो कि जो कर्म विज्ञान के रहस्य को जान लेता है वह सर्वहितकारी प्रवृत्ति मे परायण होता है। कारण, कि यह नियम है कि प्रवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब उस प्रवृत्ति मे दूसरो का हित निहित हो और निवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब सभी वस्तुओ, अवस्थाओ तथा

परिस्थितियो से अतीत जीवन पर विश्वास हो और विवेक-पूर्वक अचाह-पद प्राप्त कर लिया हो। जो चाह-रहित जीवन पर विश्वास नही करते, वे निवृत्ति के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकते। हाँ, एक बात अवश्य है कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति से वास्तविक निवृत्ति की योग्यता आ जाती है और वास्तविक निवृत्ति से जीवन सर्वहितकारी प्रवृत्ति के योग्य बन जाता है। अत हम जिस अश मे सुखी हो, उस अश मे सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सुखासक्ति से मुक्त होने का प्रयत्न करे और जिस अश मे दु खी हो, उस अश मे अचाह होकर वास्तविक निवृत्ति द्वारा दु ख के भय से मुक्त होकर अचाह-पद प्राप्त करे।

(4)

अन्तर्द्वन्द्व मिटाने के लिए यह अनिवार्य है कि अपने दु ख का कारण किसी और को मत समझो और किसी से सुख की आशा मत करो। ऐसा करने से अन्तर्द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है। सुख की आशा से हो समस्त दु ख उत्पन्न होते है। पराये दु ख मे दु खी होने पर ही सुख की आशा गलती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने दु ख से दु खी उन्ही को होना पडता है, जो पराये दु ख से दु खी नही होते। दूसरो के दु ख से दु खी हुए विना किसी का भी दु ख नही मिट सकता, यह प्राकृतिक विधान है।

अब यदि कोई यह कहे कि पराये दु ख से दु खी होना अनिवार्य क्यो है ? तो यह कहना होगा कि प्राकृतिक नियम के अनुसार शरीर विश्व से और व्यक्ति समाज से अभिन्न है। जो व्यक्ति समाज के दु ख से दु खी नही होता उसकी समाज से अभिन्नता नही होती, जिसके न होने से व्यक्तित्व का मोह दृढ हो जाता है। व्यक्तित्व का मोह व्यक्ति को निरन्तर दीनता तथा अभिमान की अग्नि मे जलाता है। इस कारण पराये दु ख से दु खी होने पर ही व्यक्तित्व का मोह गल सकता है, जिसके गलने पर ही दु ख का अन्त हो सकता है।
पराए दु ख का अर्थ क्या है ? अपने से अधिक दु खियो को देख कर सुख भोगने मे जो असमर्थ है तथा जिसे दूसरो का सुख प्रसन्नतापूर्वक सहन होता है, वही पराए दु ख से दु खी होता हे। पर पीडा से पीडित प्राणो निज-पीडा से सर्वदा मुक्त है। इस रहस्य को भली-भाँति जान

लेने पर अन्तर्द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है। अन्तर्द्वन्द्व मिटते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध सकल्प नष्ट हो जाते है और आवश्यक तथा शुद्ध सकल्प स्वत पूरे हो जाते है। सकल्प पूर्ति के सुख का भोग न करने पर अपने आप निर्विकल्पता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकल्पता मे ही शान्ति तथा सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता मानव मात्र को प्राप्त हो सकती है। अतः सामर्थ्य के सम्पादन मे मानव स्वाधीन है। (दर्शन और नीति, पृ. 87-88)

(5)

यह सभी को विदित है कि सर्वांश मे कोई भी देश, वर्ग, समाज एव व्यक्ति सबल तथा निर्बल नही हे। आंशिक बल तथा निर्बलता सभी मे है। व्यक्ति जिस अश मे सबल है, उस अश मे किसी निर्बल को देख करुणित हो और जिस अश मे निर्बल है, उस अश मे किसी सबल को देख प्रसन्न हो तो परस्पर की भिन्नता एकता मे परिवर्तित हो जाती है, जिसके होते ही भयरहित शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से दुःखियो को देख करुणित और सुखियो को देख प्रसन्न होना प्रत्येक देश, वर्ग, समाज एव व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और यही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। सेवा की सजीवता तथा पूर्णता त्याग मे निहित है, अर्थात जब तक प्रत्येक भाई-बहिन मिली हुई वस्तुओ की ममता का अन्त नही करेगे और प्राप्त वस्तुओ की कामना से रहित नही होगे, तब तक प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता, आदि का सद्व्यय सम्भव नही है। कारण कि ममता एव कामना ने ही दो व्यक्तियो, वर्गों, देशो आदि मे भेद उत्पन्न कर सघर्ष का पोषण किया है। भेद के रहते हुए केवल बाह्य सामग्री के सम्पादन मात्र से कोई भी भयरहित शान्ति प्राप्त नही कर सकता, अपितु सेवा और त्याग के बिना वह स्वय सबल से भयभीत होगा और निर्बलो को भयभीत करता रहेगा जो अशान्ति का मूल हे।

सेवा और त्याग को सजीव बनाने मे एकमात्र प्रेम ही मूल तत्व है। इस कारण प्रेम के साम्राज्य की स्थापना सभी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए प्रत्येक भाई-बहिन को भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर और विश्व की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है, कारण कि किसी भी प्रकार शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नही है।

जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपने शरीर की रक्षा अभीष्ट है, उसकी क्षति प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी की रक्षा अभीष्ट हो और किसी की क्षति अपने को सहन न हो, तभी वास्तविक भौतिकवाद सिद्ध हो सकता है। ममता और कामना को जीवित रखना और अपने-अपने सुख सुरक्षित रखने मे लगे रहना भौतिकवाद नही है, अपितु वह सघर्षवाद, विनाशवाद और भोगवाद है, जो सर्वदा, सभी के लिए अहितकर है।

"शरीर विश्व के काम आ जाये", इसके अतिरिक्त अपना और कोई उद्देश्य न रहे, तभी भौतिकवाद की दृष्टि से प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है। अध्यात्मवाद ने मानव-समाज को सर्वात्म-भाव का पाठ पढाया है अर्थात् निज-स्वरूप से भिन्न कुछ है ही नही, समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था मात्र है और कुछ नही है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद के द्वारा भी प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है, कारण कि अपने मे अपनी प्रियता स्वाभाविक है। प्रियता की जागृति परस्पर भेद, भिन्नता सघर्ष आदि के नाश मे हेतु है। जगत् और उसका प्रकाशक अपना ही निज स्वरूप है, अपने से भिन्न की सत्ता हो नही है, यही अध्यात्मवाद की एकता है। जगत् को मिथ्या कहना मात्र ही अध्यात्मवाद नही है, प्रत्युत भेद और भिन्नता का अत्यन्त अभाव ही अध्यात्मवाद है। आस्तिकवाद ने प्रेमास्पद से भिन्न मे आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास ही नही किया और प्रेमास्पद की आत्मीयता को ही अपना सर्वस्व माना और उन्ही के नाते निष्काम भाव से विश्व की सेवा की। इतना ही नही, उसने समस्त विश्व मे प्रेमास्पद की अनुपम लीला का ही दर्शन किया। आस्तिकवाद प्रीति और प्रियतम से भिन्न को जानता ही नही, प्रत्युत प्रीति से अभिन्न होकर अनेक रूपो मे प्रीतम को लाड लडाने का पाठ आस्तिकवाद ने पढाया है। इस कारण आस्तिकवाद ने भी प्रेम के साम्राज्य की ही स्थापना की है। भय-रहित शाति की अभिव्यक्ति सेवा, त्याग तथा प्रेम मे ही निहित है। परन्तु जब तक साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित नही होता अर्थात सुख-भोग रूप स्वार्थ का त्याग कर सेवा भाव अपनाने मे समर्थ नही होता, तब तक जीवन मे सेवा, त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नही होती। इस दृष्टि से सर्वतोमुखी विकास दुःख के

प्रभाव मे ही निहित है।

(दु ख का प्रभाव 103-105)

क्या हम हृदयहीन हुए बिना विषय-सुख का भोग कर सकते है ? कदापि नही। सुख-भोग मे प्रवृत्ति तभी होती है, जब हम दु खियो की ओर से विमुख हो जाते है। दु खियो को बिना अपनाये क्या हृदय मे करुणा उदय हो सकती है ? करुणा के बिना क्या आसक्ति मिट सकती है ? अनासक्ति के बिना क्या कोई उदार हो सकता है ? उदारता के बिना क्या कोई महान् हो सकता है ? महानता के बिना क्या कोई अमरत्व प्राप्त कर सकता है ? कदापि नही। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई हृदयशील प्राणी सुख नही भोग सकता। हाँ, यह अवश्य है कि सुख का सदुपयोग कर सकता है।

सुख का सदुपयोग सेवा है, क्योकि सेवा के बिना सुख-भोग की आसक्ति मिट नही सकती। पर, सेवा वही कर सकता है, जिसका हृदय पराये दु ख से भरा रहे। सेवा का अर्थ किसी का दु ख मिटाना नही है, अपितु अपना सुख बॉटना है। सुख के व्यय होने पर राग निवृत्त हो जाता है और हृदय त्याग तथा प्रेम से भर जाता है। त्याग से चिर शाति और प्रेम से अगाध-अनन्त रस स्वत प्राप्त होता है, जो मानव की मॉग है। अत यह स्पष्ट हो जाता है, कि सुख भोगने से तो अनेक दोष उत्पन्न होते है और सेवा द्वारा सुख का सदुपयोग करने मे प्राणी का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है, जो वास्तव मे मानव-जीवन है।

सुख का सदुपयोग करने मे वे ही समर्थ हो सकते है, जो उस दु ख को अपना लेते है, जिसमे दूसरो का हित तथा प्रसन्नता निहित है और उस सुख का त्याग कर देते है, जिसका जन्म किसी के अहित मे हो। अत हमे सावधानीपूर्वक उस सुख का त्याग करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहना चाहिए, जिससे दूसरो का ह्रास हो और उस दु ख को सहर्ष अपना लेना चाहिये, जिसमे दूसरो का विकास हो।

अब विचार यह करना है कि यह सामर्थ्य कब आयेगी, जिससे हम उस सुख को न अपनायें, जिसमे दूसरो का अहित है, अपितु उस

दु ख को अपनायें, जिसमे दूसरो का हित निहित है, तो कहना होगा कि वह सामर्थ्य उन्ही साधको मे आती है, जिनकी प्रत्येक चेष्टा ज्ञानपूर्वक होती हे। ज्ञानपूर्वक की हुई प्रवृत्ति अहित से हित की ओर हो जाती है। यदि हम प्राकृतिक रचना का यथेष्ट अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मेन्द्रियो का उचित कार्य ज्ञानेन्द्रियो के प्रकाश मे ही होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ सकल्प के अनुरूप ही कार्य करती है। सकल्प मे शुद्धता विवेकवती बुद्धि द्वारा आती है और बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त नित्य ज्ञान से ही प्रकाशित होता है। अत हमारा प्रत्येक कर्म ज्ञान के प्रकाश मे ही होना चाहिए।

(7)

'सेवा' भाव है, कर्म नही। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति मे योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुसार सेवा हो सकती है। सच्चे सेवक की दृष्टि मे कोई 'और' नही हे तथा कोई 'गैर' नही है। इसलिये सेवक का हृदय स्वभाव से ही दु खियो को देखकर करुणित तथा सुखियो को देखकर प्रसन्न हो जाता हे। 'करुणा' सुखभोग की रुचि को और 'प्रसन्नता' खिन्नता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि का अन्त होते ही प्राप्त सुख-सामग्री दु खियो के लिये स्वत समर्पित होने लगती है और खिन्नता का अन्त होते ही कामनाओ का नाश अपने आप हो जाता है।

यह नियम है कि कामनाओ की निवृत्ति मे ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। शरीर और विश्व मे, व्यक्ति और समाज मे तथा प्रेमी और प्रेमास्पद मे सेवा ही एकता तथा अभिन्नता प्रदान करती है। सेवक अपना सुख देकर दूसरे के दु ख को अपनाता हे। यह नियम है कि जो दु ख, सुख देकर अपनाया जाता है वह अपने आप आनन्द से अभिन्न हो जाता हे। इस दृष्टि से 'सेवक' 'सेवा' होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है।

सेवा वही कर सकता हे, जो कुछ भी अपना न माने। जो कुछ भी अपना मानेगा वह सेवा नही कर सकता। जो सेवा नही कर सकता वह प्यार भी नही कर सकता। जो सेवा नही कर सकता वह

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग भी नही कर सकता । यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे ही प्रवेश होता है । अत सेवा मे मानव-जीवन की सार्थकता निहित है । इस दृष्टि से सेवा साधनयुक्त-जीवन का आवश्यक अङ्ग है ।

प्राकृतिक नियमानुसार दूसरो के प्रति जो कुछ किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर स्वय अपने प्रति हो जाता है । इस दृष्टि से दूसरो की सेवा मे अपना हित है । सेवा स्वार्थ-भाव को मिटा देती है, जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है । उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बडी सुगमता पूर्वक अपने ही मे अपने वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है । इतना ही नही, सेवा द्वारा भौतिक-विकास भी स्वत होता है । कारण कि सेवा सेवक को विभु बना देती है, अर्थात् सेवक समाज के हृदय मे निवास करता है, क्योकि सेवक मे निर्वैरता स्वभाव से ही आ जाती है । निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वत. आने लगते है ।

अब विचार यह करना है कि सेवा का स्वरूप क्या है ? सेवा दो प्रकार की होती है—एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक । बाह्य सेवा का अर्थ है प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा, बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के, सर्वहितकारी कार्य करना । पर यह तभी सम्भव होगा जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना न माने, अपितु उसका माने जिसकी सेवा का सुअवसर मिला है। क्योकि सृष्टि एक है, उसमे भेद करना प्रमाद है । अब यदि कोई यह कहे कि जब कोई वस्तु अपनी है ही नही और उसी की है जिसकी सेवा करते है, तब उसके नाम पर सेवा कैसे हो सकती है ? तो कहना होगा कि बाह्य सेवा जिन साधनो से की जा रही है, यद्यपि वे साधन एक ही सृष्टि के हैं और जिनकी सेवा की जा रही है वे भी सृष्टि के ही अन्तर्गत है, तो भी जिस प्रकार शरीर के अवयव परस्पर एक दूसरे की सेवा करते है, उसी प्रकार सृष्टि से प्राप्त साधनो के द्वारा ही सृष्टि की सेवा की जा सकती है । हाँ, यह अवश्य है कि जब सेवा द्वारा भेद गल जाता है तब करना स्वत. होने मे बदल जाता है और

आन्तरिक सेवा स्वत होने लगती है। आन्तरिक सेवा के लिए किसी बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा नही है। उसमे तो सर्व हितकारी भाव विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करता हे, अर्थात् भाव के अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वत प्राप्त होने लगती है। सर्व हितकारी-भाव सर्वात्मभाव प्रदान करता हैं, अर्थात् सेवक सभी मे अपने ही को अनुभव करता है फिर 'सेवक' सेवा' और 'सेव्य' मे अभिन्नता हो जाती है। यही सेवा की पराकाष्ठा है।

(8)

राग-द्वेप का मानव-जीवन मे कोई स्थान ही नहीं है, क्योकि राग से पराधीनता और द्वेप से ईर्ष्या आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है, और मानव-जीवन मिला है—निर्दोषता के लिए। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष रहित होने पर ही मानव, वास्तविक मानव हो सकता है। अब यदि कोई कहे कि राग के बिना हम अपने प्रियजनो की सेवा कैसे करेंगे ? तो कहना होगा कि सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नही है, अपितु उदारता को अपेक्षा हे। कारण, कि उदारता आ जाने पर पराया दु ख अपना दु ख बन जाता है और फिर अपना सुख वितरण करने मे लेश-मात्र भी सकोच नही रहता। इतना ही नही, सुख-भोग को आसक्ति का अन्त हो जाता है। यही सेवा को वास्तविक सार्थकता है। सेवा का अन्त किसी वस्तु, पद आदि की प्राप्ति नही है। सेवा का अन्त तो त्याग मे और त्याग का अन्त प्रेम मे होता है। यदि हमारी को हुई सेवा हमारे जीवन मे पद-लोलुपता तथा जिनकी सेवा की है उनसे किसी प्रकार की आशा उत्पन्न कर देती है, तो समझना चाहिए कि हमने सेवा के नाम पर किसी अपने स्वार्थ को ही सिद्धि की है। ऐसी सेवा तो वह बुराई है जो भलाई का रूप धारण करके आती है। यह नियम है कि जो बुराई, बुराई बन कर आती है वह बडी सुगमता से मिट सकती है, किन्तु जो बुराई भलाई का रूप धारण करके आती है उसका मिटाना बड़ा ही कठिन हो जाता है, क्योकि बुराई को बुराई जान लेने पर बुराई स्वत मिटने लगती है और बुराई को भलाई मान लेने पर बुराई दृढ होती है।

वास्तविक सेवा, क्रिया-रूप से भले ही सीमित हो, किन्तु भाव-रूप से असीम ही होती है, क्योकि सेवा का जन्म ही होता है स्वार्थ भाव के मिट जाने पर, अर्थात् राग-रहित होने पर। जिन साधनो से क्रियारूप सेवा की जाती है, वे सीमित ही होते है। इस कारण सेवक का कर्म सीमित होता है, किन्तु जिस सर्वहितकारी सद्भावना से सेवा की जाती है, वह भाव असीम ही होता है। यह नियम है कि जो कर्म जिस भाव से किया जाता है, अन्त मे कर्त्ता उसी भाव मे विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से सेवक का सीमित कर्म भी सेवक को असीम प्रेम से अभिन्न कर देता है। जिसका हृदय असीम प्रेम से भरपूर है, वह किसी का अहित नही चाहता। अत किसी के विनाश से किसी के विकास का प्रयत्न सेवा नही हो सकता। सेवा चाहे एक व्यक्ति की की जाय अथवा समस्त ससार की, उसके फल मे कोई अन्तर नही होता, क्योकि सेवा का फल भोग नही है, सेवा का फल है, 'निर्मलता', जो वास्तव मे मानवता है।

निर्मलता आ जाने पर जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही अह गल जाता है। अह के गलते ही जीवन विभु हो जाता है, अथवा यो कहो कि बाह्य भेद प्रतीत होते हुए भी अभेद हो जाता है। फिर किसी प्रकार का सघर्ष शेष नही रहता, क्योकि सघर्ष का जन्म भेद-भाव से होता है और भेद का जन्म अह-भाव से होता है। अहभाव का पोषण राग-द्वेष से होता है, जो वास्तव मे मलिनता है।

प्रेम चाहे अपने मे हो, किसी प्रतीक विशेष मे हो अथवा समस्त विश्व मे हो, उससे भेद की उत्पत्ति नही होती। भेद की उत्पत्ति तो मोह से होती है, प्रेम से नही। मोह एक प्रकार की मलिनता है और प्रेम का प्रादुर्भाव निर्मलता से होता है। अत. यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेम मानवता और मोह अमानवता है।

(9)

यह सर्व विदित है कि अशाति व अभाव का कारण कामना ही है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कामनाओ की निवृत्ति का

उपाय क्या है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, सभी कामनाओ की उत्पत्ति का कारण अविवेक है । अविवेक की निवृत्ति एक-मात्र विवेक के आदर से हो सकती है, परन्तु विवेक का आदर करने का सामर्थ्य उन्ही प्राणियो मे आता है जो अपना प्राप्त सुख, दुखियो की सेवा मे लगा देते है और अपने सुख को दुखियो की ही देन मानते है, कारण कि अपने से दुःखी को देखकर सभी को सुख प्रतीत होने लगता है । जिसके दर्शनमात्र से हम अपने को सुखी मानने लगते है, क्या उसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य नही है ? अर्थात् अवश्य है । यह नियम है कि जिनके द्वारा हमे सुख की प्रतीति हुई अथवा जिनको हमने अपना मान लिया है, यदि प्राप्त-सुख के द्वारा उदारता पूर्वक बिना प्रत्युपकार की आशा के उनकी सेवा कर दी जाय, तो हम बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख की आसक्ति तथा सुख के बन्धन से मुक्त हो जाते है, एव जिनको अपना मान लिया था उनके बन्धन से भी मुक्त हो जाते है ।

सुखभोग की लालसा मिटते ही मुक्ति की अभिलाषा पूर्णरूप से स्वत जागृत हो जाती है । जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है, अर्थात् एक साथ हो जाती है, उसी प्रकार मुक्ति की अभिलाषा की पूर्ण जागृति तथा बन्धन की निवृत्ति युगपद् होती है, अर्थात् एक साथ हो जाती है ।"

(10)

यह सभी को मान्य होगा कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि का सम्बन्ध समस्त ससार से है, क्योकि ससार मे इनकी जातीय एकता है । जिन वस्तुओ की ससार से जातीय एकता है, यदि उनको उसी की सेवा मे समर्पित कर दिया जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक निर्वैरता प्राप्त हो सकती है । कारण कि वैर-भाव तभी उत्पन्न होता है, जब हम ससार को शरीर की सेवा मे लगाना चाहते है । उसी का दूसरा नाम स्वार्थ-भाव हो जाता है, जो वैर-भाव को पुष्ट करता है । उस स्वार्थ-भाव को मिटाने के लिए ही सेवा-भाव की जागृति करना अनिवार्य हो जाता है । सेवा का अर्थ किसी के अभाव की पूर्ति करना नही है । क्योकि जब समस्त ससार एक व्यक्ति के

अभाव की पूर्ति नही कर सकता, तो वेचारा व्यक्ति ससार के अभाव की पूर्ति कैसे कर सकता है ? सेवा-भाव का अर्थ है, सुख-भोग की आसक्ति का त्याग, प्राप्त योग्यता तथा वस्तुओ आदि का दु:खियो को वितरण कर देना अथवा यो कहो कि ससार से मिली हुई वस्तुओ को ससार को वापस कर देना। ऐसा करते ही साधक सभी वन्धनो से मुक्त हो जाता है। और, फिर जो अनन्त सवत्र-सवदा सभी मे विद्यमान है उससे अभिन्न हो जाता है अथवा उसकी प्रीति हो जाती है, जो वास्तव मे मुक्ति तथा भक्ति है।

(11)

जब हम किसी का वुरा नही चाहेगे, तव हृदय करुणा से द्रवीभूत हो जायेगा, अथवा प्रसन्नता से भर जाएगा।

यह नियम है कि जिस हृदय मे करुणा निवास करती है, उस हृदय मे सुख-भोग की आसक्ति नही रहती, कारण, कि वह अपने से दु खियो को देखते हुए सुख भोग ही नही सकता। और जिस हृदय मे प्रसन्नता निवास करती है, वह अपने से सुखी को देखकर न तो ईर्ष्या ही करता है और न उसमे कोई चाह ही उत्पन्न होती है, क्योकि ईर्ष्या तथा चाह की उत्पत्ति स्थायी प्रसन्नता के अभाव मे होती है।

(12)

प्राकृतिक नियमानुसार हमे जो कुछ प्राप्त है, वह विश्व की उदारता ही है। जैसे सूर्य की उदारता से ही नेत्र देखता है, आकाश की उदारता से ही श्रवण सुनता है, जल की उदारता से ही रसना को रस मिलता है, वृक्ष और पशुओ की उदारता से ही बहुत-सी जीवन की उपयोगी वस्तुएँ मिलती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हमारा जीवन किसी की उदारता पर निर्भर है, तो हमारे द्वारा भी समाज के प्रति उदारता का ही व्यवहार होना चाहिए। पर, आज यह बात हमारे जीवन से चरितार्थ होती है अथवा नही, यह अपने विवेक से देखें। यदि होती है, तो हम मे मानवता है और यदि नही होती है, तो अमानवता है।

(13)

सदाचार-युक्त जीवन की समाज को सदैव आवश्यकता रहती है। यह नियम है कि जिसको जिसकी आवश्यकता होती है, वह उसका आदर भी करता है और उसकी आवश्यकताओ को अपनी आवश्यकता मान लेता है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाचार युक्त जीवन होने पर समाज मे व्यक्ति को यथेष्ट स्थान मिलना है और उसके विना ही मागे उसके अधिकार सुरक्षित रहते है। कारण कि अधिकार कर्तव्य का दास है। सदाचारी की पहिचान यही है कि वह उस सुख को स्वीकार नही करता, जिसका जन्म किसी के दु ख तथा अहित से हो, अपितु उस दु ख को सहर्ष अपना लेता, है जिसका जन्म दूसरो के हित तथा प्रसन्नता से होता हो। यह प्राकृतिक नियम है कि जिस सुख तथा विकास का जन्म किसी दु ख तथा ह्रास से होता है, वह कालान्तर मे घोर दु ख बन जाता है तथा अवनति और ह्रास का कारण हो जाता है। और, जिस दु ख का जन्म दूसरो के हित तथा प्रसन्नता से होता है, वह कालान्तर मे चिन्मय आनन्द से अभिन्न कर देता है। इसीलिए सदाचारी उस सुख को नही अपनाते, जिससे दूसरो का अहित हो, प्रत्युत उस दु ख को अपना लेते हैं, जिससे दूसरो का हित हो।

(14)

आप विचार करके देखें, जो रोगी है वह यह चाहता है कि स्वस्थ व्यक्ति उसकी सेवा करे। वेचारा रोगी क्या सुखी होकर सेवा कराना चाहता है ? कदापि नही। सुखी तो सेवा करता है। आपको मानना पड़ेगा कि सेवा करने वाला तो सुखी सिद्ध होता है, और सेवा कराने वाला दु खी। तो, अधिकार माँगने का अर्थ क्या हुआ ? इसका अर्थ है अपने को दु खी सिद्ध करना और अधिकार देने का अर्थ क्या हुआ ? अपने को सुखी सिद्ध करना। तो आप सोचिए कि क्या हम अपने को दु खी स्वीकार करे या सुखी सिद्ध करे ? आपको कहना पडेगा कि अपने को दु खी स्वीकार करना किसी को भी अभीष्ट नही है, अपने को सुखी सिद्ध करना ही सवको अभीष्ट है। यह स्वभाव मानव का स्वभाव है। मानव को तो केवल अपना कर्तव्य दिखाई

पड़ता है, अधिकार नही। मानवता विकसित होने पर अधिकार-लालसा शेष नही रह जाती, और जब अविवेक के कारण मानवता नही रह जाती और देहाभिमान जागत होता है, तब केवल अधिकार ही दिखाई देते है। इससे यह सिद्ध हुआ कि हममे जो अधिकार की लालसा है, वह अपने को देह मानने पर ही होती है, जो प्रमाद है।

(15)

सेवा-सूत्र

1 जिस प्रकार व्यापारी, व्यापार तथा धन है उसी प्रकार सेवक, सेवा तथा सेव्य है। जिस प्रकार प्रकाश सूर्य का और गन्ध पुष्प का स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवक का स्वभाव है। सेवा की नही जाती, होने लगती है। सेवा उसी मे उत्पन्न होती है, जो अपनी प्रसन्नता के लिए वस्तु, अवस्था एव परिस्थितियो की खोज नही करता। वस्तु, अवस्था आदि की दासता सेवक होने नही देती। सेवक के अतिरिक्त ससार का प्यार और किसी को नही मिलता। कर्मवादी ससार को प्यार करता है, और सेवक को ससार प्यार करता है। कर्मवादी जिस ससार के प्यार को किसी भी प्रकार नही पाता, सेवक उसको बिना ही मूल्य पा लेता है, जिस प्रकार बगीचे के फल खरीदने वाला व्यक्ति छाया तथा वायु को बिना मूल्य ही पा लेता है।

2 सेवक को ससार की ओर से होने वाले प्यार के लिए लेशमात्र भी प्रयत्न करना नही पडता। वह स्वत आता है और आने पर भी बेचारा सेवक को बाँध नही पाता, क्योकि सेवक की वृत्ति बिना ही प्रयत्न निरन्तर सततरूप से जल-प्रवाह के समान सेव्य की ओर बहती रहती है।

3. सेवक के स्वभाव मे पवित्रता निवास करती है, अर्थात् उसमे स्वार्थभाव का नितान्त अन्त हो जाता है।

4. सेवक के व्यवहार मे कार्य-कुशलता होती है, क्योकि उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है, अर्थात् उसमे क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नही होता और न लक्ष्य-भेद होता है।

5 सेवक के सामने प्रत्येक परिस्थिति अभिनय के स्वरूप मे आती है और उसे सेव्य को देकर चली जाती है।

6 सेवक पर किसी भी परिस्थिति का लेशमात्र भी प्रभाव नही होता।

7 सेवक के अन्त करण से क्रियाजन्य रस की आसक्ति स्वत निवृत्त हो जाती है।

8 जिस निवृत्ति को योगी योग से और विचारशील विचार से प्राप्त करता है, सेवक उसी को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग से प्राप्त कर लेता है, अर्थात् सेवक को ससार मे सघर्ष नही करना पडता, क्योकि सेवक की दृष्टि मे (प्राकृतिक विधान के अनुसार) अपने आप आई हुई प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है।

9 विषयी बेचारा जिस यश और कीर्ति के पीछे दौडता है, वह यश और कीर्ति सेवक के पीछे दौडती है, किन्तु उसको पकड नही पाती, अर्थात् विषयी जिसका दास है, वह सेवक की दासी है।

10 जिस प्रकार स्वधर्मनिष्ठ राष्ट्र प्रजा से लिए हुए टैक्स को प्रजा के हित मे ही बाट देता है, उसी प्रकार सेवक ससार की ओर से आई हुई शरीर आदि सभी वस्तुओ को ससार के हित मे ही बाट देता है।

11 जिस प्रकार व्यापारी का व्यापार धन मे विलीन होता है, उसी प्रकार सेवक की सेवा सेव्य (प्रेम-पात्र) मे विलीन होती है।

12 जिस प्रकार अग्नि ज्यो-ज्यो प्रज्वलित होती जाती है, लकडी त्यो-त्यो अग्नि बनती जाती है, उसी प्रकार ज्यो-ज्यो सेवा प्रबल होती जाती है, त्यो-त्यो सेवक की सत्ता सेव्य से अभिन्न होती जाती है।

13 सेवक मे स्वामी (प्रेम-पात्र) निवास करता है, क्योकि स्वामी के बिना सेवा हो ही नही सकती।

14. सेवा तभी हो सकती है, जब ऐश्वर्य (बडप्पन) तथा माधुर्य

(प्यार) हो। ऐश्वर्य तथा माधुय स्वामी का स्वरूप है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सेवक मे स्वामी निवास करता है।

15. सेवक मे सेवा करने से कभी थकावट नही आती, प्रत्युत ज्यो-ज्यो सेवा बढती है, त्यो-त्यो उसकी शक्ति भी बढती जाती है।

16 सेवक के हृदय मे सदैव व्याकुलता बनी रहती है और वह व्याकुलता की अग्नि सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है।

17. सेवक दो प्रकार के होते है – एक तो गङ्गा की भाँति प्रत्यक्ष जन-समाज के सामने लहराते है और दूसरे हिमालय की भाँति अचल होकर मूक सेवा करते है।

18 सेवा किये बिना ससार का राग स्वाभाविक निवृत्त नही होता।

19 सेवा से भिन्न सभी साधन ससार को मृतकवत् जीवित रखते हैं। सेवा ससार को खा जाती है, मृतक नही बनाती, अर्थात् सेवक की निष्ठा समाधि से अतीत होती है, अथवा यो कहिये कि उससे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनो ही अवस्थाएँ निवृत्त हो जाती हैं।

20. सभी साधक सेव्य को प्यार करते है और सेवक को सेव्य प्यार करता है। अत प्रमपात्र का प्रेम पाने के लिए सेवा करना परम अनिवार्य है।

21 सेवा करने के लिए बाह्य वस्तुओ की आवश्यकता नही होती। बाह्य वस्तुओ के सगठन से तो पुण्य कर्म होता है।

22 सेवा वही कर पाता है, जिस पर सेव्य (प्रमपात्र) की कृपा होती है, अर्थात् भक्तो तथा सन्तो के अतिरिक्त और कोई भो प्राणो सेवा नही कर पाता।

23 साधारण प्राणी वस्तुओ के सगठन से होने वाली प्रवृत्तियो को सेवा मानते है, किन्तु विचार-दृष्टि से वह सेवा नही है। सेवा करने की शक्ति तो स्वामो के प्रसाद से ही आती है।

24 जिस अश मे प्राणी अपनी सेवा कर पाता है, उसी अश में वह दूसरो की सेवा कर पाता है, अर्थात् जिस साधन से प्राणी अपना

हित करता है, उसी साधन से सेवा करता है। वाह्य वस्तुओ के सगठन से किसी भी प्राणी का हित नही हुआ तो फिर उन वस्तुओ के सगठन से सेवा कैसे हो सकती है ?

25 वस्तुओ का सग्रह करना विश्व का ऋणी होना है। अत वस्तुओ को विश्व के कार्य मे लगा देना ऋण से मुक्त होना है, सेवा करना नही। जव प्राणी विश्व के ऋण से मुक्त हो जाता है, तब उसमे प्रेमपात्र से सम्वन्ध करने की शक्ति आ जाती है। प्रेमपात्र से सम्वन्ध होते ही प्रमपात्र के ऐश्वर्य तथा माधुर्य मे स्वत सेवा होने लगती है, अर्थात् प्रीति प्रीतम का स्वभाव है। सेवक तथा सेवा, प्रीति तथा प्रीतम एक वस्तु है।

26 सेवा करने के लिए सेवक होना अनिवार्य है। सेवक होने के लिए सद्भाव-पूर्वक प्रेमपात्र का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार युवावस्था आने पर ही शिशु को युवावस्था का यथार्थ ज्ञान होता हे, उसी प्रकार सेवा करना किसी को सिखाया नही जा सकता। एक-एक सेवक के पीछे करोडो मनुष्य अनुसरण करने के लिए दौडे, किन्तु वे सव मिल कर एक भी सेवक उत्पन्न नही कर पाये।

27 जिसका हृदय सार्वजनिक दु ख से दुखी होता है और वह जब सेव्य का हो जाता है, तब सेव्य की कृपा से सेवा करने की शक्ति स्वतः आ जाती है। पुण्यकर्म से त्याग करने की शक्ति आती है और त्याग से सेवक होने की शक्ति आती है। सेवक होने पर सेवा स्वत उत्पन्न होती है।

28 ससार तथा प्रेमपात्र दोनो का प्रेम पाने के लिए सेवा करना परम आवश्यक है। जो प्राणी ससार से विमुख होकर प्रेमपात्र का वन जाता हे उसमे सेवा करने की शक्ति स्वय आ जाती है। अत सेवक होने के लिए प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है।

29 सेवक होना उन्नति का साधन हे, परन्तु सेवक कहलाना अवनति का कारण है।

30 जिस प्रकार नदी की प्रगति सदैव समुद्र की ओर ही रहती है, उसी प्रकार सेवक की प्रगति सदैव सेव्य की ओर रहती

है। जिस प्रकार नदी के सामने रुकावट आने पर नदी की गति तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार सेवक के सामने प्रतिकूलता आने पर, सेवा की गति और भी तीव्र हो जाती है अर्थात् प्रतिकूलता सेवक का उत्थान करती है, पतन नही।

31 सेवक के जीवन मे ज्ञान के अनुरूप भाव तथा क्रिया होती है अर्थात् सेवक की क्रिया तथा भाव ज्ञान मे विलीन होते है।

32 सेवा नित्य स्वतन्त्रता की ओर ले जाती है।

33 सेवक ससार का चिन्तन नही करता, प्रत्युत ससार सेवक का चिन्तन करता है।

34 सेवक सगठन के पीछे नही दौडता, प्रत्युत सगठन सेवक के पीछे दौडता है।

35 सेवक के जीवन मे दीनता तथा अभिमान के लिए कोई स्थान नही रहता।

36 जिसने व्यक्तिगत सुख के लिए ही शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग किया है उसी ने व्यक्ति और समाज की एकता भग की है, जिसके होने से सर्वात्म-भाव सुरक्षित नही रहा और व्यक्ति अभिमान तथा दीनता मे आबद्ध हो गया। इस कारण आर्थिक विषमता सुदृढ हो गई। अत. शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग समाज के हित मे ही करना अनिवार्य है। तभी आर्थिक स्वतन्त्रता रह सकती है।

37. बालक, रोगी, वृक्ष और पशु इनकी सेवा का दायित्व मानव मात्र पर है। इनकी यथेष्ट सेवा किये बिना न तो दरिद्रता ही नष्ट होगी और न समाज आवश्यक वस्तुओ से ही परिपूर्ण होगा। अतः सगृहीत सम्पत्ति रोगी, बालक, वृक्ष तथा पशुओ की ही है।

38 मिली हुई वस्तुओ की ममता का त्याग, अप्राप्त वस्तुओ की कामना का त्याग तथा मिली हुई वस्तुओ का सदुपयोग करने पर, प्राकृतिक विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वत. प्राप्त होने लगती हैं कारण कि निर्लोभता युक्त उदारता दरिद्रता को खा लेती है।

39 लोभ मे ही दरिद्रता का जन्म होता है। अव्यक्त से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। उसमे अभाव नही है तो फिर आवश्यक वस्तुओ का अभाव कैसा ? इस कारण यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यदि मानव उदारता को अपनाये और आलस्य तथा अकर्मण्यता का त्याग कर डाले तो आवश्यक वस्तुएँ अपने आप प्राकृतिक विधान से मिलने लगे। पर यह रहस्य वे ही जान पाते है जिन्होने अनन्त के मगलमय विधान का अध्ययन किया है।

40 यह सभी को विदित होगा कि जो पशु जिस देश-काल मे उत्पन्न होते है उनकी रक्षा प्रकृति की गोद मे स्वत होती है। इससे यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि रक्षा का दायित्व किसी विधान मे निहित है। परन्तु बुद्धिमान मानव प्रकृति के विधान का आदर न करके प्रकृति का भोग करता है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि वस्तुओ का अभाव है और वस्तुओ मे उत्तरोत्तर शक्ति की कमी होती जाती है। यह वस्तु-विज्ञान से सिद्ध है।

41 उत्पत्ति, रक्षा और विनाश विधान के आधीन है। कोई भी वस्तु किसी भी व्यक्ति को अमर नही बनाती। यदि ऐसा होता तो कुछ प्राणी अवश्य अविनाशी हो जाते। यदि विनाश को नवीन उत्पत्ति का साधन मानकर विनाश का भय नष्ट कर दिया जाय और वस्तुओ का उपयोग रक्षा मे हो, विलास मे नही, जीवन का उपयोग कर्त्तव्य मे हो, अकर्त्तव्य मे नही तो प्रकृति का मगलमय विधान रक्षार्थ आवश्यक वस्तु, शक्ति एव योग्यता स्वत प्रदान करता है। अत कर्त्तव्य-परा-यणता आवश्यक वस्तुओ की जननी है।

42 प्रकृति जो कुछ देती है, उससे साधक को अतीत के जीवन की ओर अग्रसर करने के लिए दिये हुए को अपने मे विलीन कर लेती है। यह अनन्त का मगलमय विधान है। किन्तु मानव मिले हुए की आसक्तियो के कारण उन्हे सुरक्षित रखने की सोचता है। ममता रहित होकर उनका सदुपयोग नही करता। उसका परिणाम यह होता है कि लोभ, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते है, जिनके होने से प्राणी न तो मिले हुए का सदुपयोग ही कर पाता है और न वस्तुओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश ही। अत वस्तुओ के नाश से भयभीत

होना, वस्तुओ की दासता को सुरक्षित रखना है और कुछ नही। वस्तुओ की दासता दरिद्रता की जननी है।

43 प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना ने लोभ को जन्म दिया। लोभ ने अर्थ का मूल्य बढ़ा दिया और उसने सच्चरित्रता का अपहरण कर लिया। जिसके होते ही परिस्थिति परिवर्तन मे अभि-रुचि जाग्रत हो गई। प्रकृति से मिली हुई परिस्थिति के सदुपयोग पर दृष्टि न रही।

उसका परिणाम यह हुआ कि वस्तुओ मे ही जीवन बुद्धि हो गई, जिसने मानव को मानव नही रहने दिया। कारण कि वस्तुओ के आधार पर ही समाज मे व्यक्ति का मूल्याकन होने लगा। इस कारण बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम अथ के अधीन हो गये। जिसके होते ही परस्पर मे अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हो गये। आवश्यक वस्तु-प्राप्ति के विधान को भूल कर व्यक्ति विधान-विरोधी उपायो द्वारा अर्थ का सग्रह करने लगा। सग्रह नाश का हेतु है। अर्थात सग्रही प्राणी अपनी मृत्यु का आप आवाहन करता है। अत मानव-जीवन मे अर्थ की दासता का कोई स्थान ही नही है। अर्थ समाज की धरोहर है और कुछ नही।

44 जब मानव-समाज बालकों और रोगियो की यथेष्ट सेवा नही करता तब भावी समाज के मन मे एक विद्रोह उत्पन्न होता है जो उस प्रवृत्ति को जन्म देता है जिससे सुखी और दु खी मे सघर्ष होने लगता है। सुखी उदारता एवं दु खी त्याग के बल को अपना नही पाता। दु खी मे तृष्णा और सुखी मे लोभ की वृद्धि होती रहती है जो अनर्थ का मूल है। यदि मानव-समाज प्रत्येक बालक को अपना बालक मानले और रोगियो की सेवा का दायित्व व्यक्ति पर न रहकर सामूहिक हो जाय तो बडी ही सुगमतापूर्वक विद्रोह की भावना मिट सकती है।

45 प्राकृतिक नियम के अनुसार सगृहीत सम्पत्ति समाज की है, उसी वर्ग की है जो वर्ग उपार्जन मे असमर्थ है अथवा जिन्हे अव-काश नहीं है। जो वर्ग उपार्जन मे समर्थ है उसका अधिकार सगृहीत

सम्पत्ति पर नही है। अत रोगियो, बालको और सत्य की खोज मे रत व्यक्तियो की सेवा सगृहीत सम्पत्ति द्वारा करना अनिवार्य है।

46. समाज का जो वर्ग उत्पादन मे समथ है वह यदि वर्तमान उपयोगिता से अधिक सगृहीत सम्पत्ति का अधिकारी अपने को मान लेता है तब उसके जीवन मे मिथ्या अभिमान, आलस्य तथा विलास की उत्पत्ति हो जाती है जो उसके सर्वनाश मे हेतु है।

47 उपार्जन करने वाले वर्ग को अपने दैनिक श्रम का कुछ भाग अवश्य उस वर्ग के लिए समर्पित करना चाहिए जो वर्ग उपार्जन मे असमर्थ है।

48 अपने श्रम का पूरा मूल्य अपने पर व्यय करना अथवा मनमाने ढग से विवेक विरोधी कार्यों मे लगाना अनर्थ है। कारण कि प्रत्येक व्यक्ति समाज के सहयोग से ही पोषित होता है। इसलिए उस काल का ऋण उपार्जन काल मे चुकाना अनिवार्य है।

49 व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान सामूहिक सम्पत्ति की सुरक्षा अनिवार्य है और उसका सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है, किन्तु सुख भोग की दृष्टि से किसी भी सम्पत्ति का व्यय नही करना है, हित की दृष्टि से करना है। किसी को हानि पहुँचाकर किसी की सेवा करना, सेवा नही है अपितु भोग है। भोग के राग का नाश करने के लिए मर्यादित भोग करना है। यदि विचारपूर्वक भोग-वासना नष्ट हो जाय तो भोग प्रवृत्ति अपेक्षित नही है। भोग की वास्तविकता जानने के लिए ही मर्यादित भोग अपेक्षित है। अत वस्तुओ का सम्पादन व्यक्तियो की सेवा मे है, अपने सुख-भोग मे नही। स्वार्थ-भाव का अन्त हुए विना निर्लोभता की अभिव्यक्ति नही होती और उसके विना दरिद्रता का नाश नही हो सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

50 मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन मे भाग लेना और उत्पादित वस्तुओ को विश्व की सेवार्थ व्यय करना दरिद्रता-नाश का सुगम उपाय है।

51. मिली हुई वतुओ को व्यक्तिगत मान लेना और उनके उप-

योग द्वारा उत्पादित वस्तुओ का सग्रह करना अथवा वस्तुओ को सिक्के के रूप मे परिवर्तित करना दरिद्रता का आवाहन करना है।

52 दरिद्रता किसी परिस्थिति विशेष मे नही है। अपितु तृष्णा की वृद्धि मे ही है। यदि मानव मिली हुई वस्तुओ का दुरुपयोग न करे तो आवश्यक वस्तुएँ अनन्त के मगलमय विधान से स्वत प्राप्त होती हैं। वस्तुओ की दासता तथा उनके दुरुपयोग ने ही दरिद्रता को जन्म दिया है।

53 अपने से अधिक सम्पन्न व्यक्तियो को देखकर प्रसन्न न होना, अपितु अपने व्यक्तिगत जीवन मे अभाव की अनुभूति कर क्षुब्ध होना अपने को दरिद्रता से मिला लेना है अथवा यो कहो कि अपने जीवन मे दरिद्रता की स्थापना करना है।

54 अपेक्षाकृत भाव और अभाव की अनुभूति प्रत्येक परिस्थिति मे विद्यमान है। इस दृष्टि से समस्त परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती है। विचारशील साधक अर्थ को अपनाकर अपने को परिस्थितियो की दासता से मुक्त कर लेते है। परिस्थितियो की दासता से मुक्त होते ही उनके सदुपयोग की सामर्थ्य मगलमय विधान से स्वत आ जाती है और फिर अभाव और भाव दोनो का सदुपयोग बडी सुगमता से हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है और दरिद्रता का नाश सदा के लिए हो जाता है।

55 जिस प्रकार व्यक्तिगत विकास से पारिवारिक विकास स्वत' होता है उसी प्रकार निकटवर्ती जन-समाज के विकास से नागरिको का विकास स्वत होता है। अत अपने पडौसी के हित का ध्यान अपने समान ही रखना आवश्यक है।

56 अपने दु ख से दूसरो को दु खी करना अपने दु ख को बढाना है और दूसरो के दु ख से दु खी होना अपने दु ख को मिटाना है। दु ख का पूरा प्रभाव होने पर उसके कारण का ज्ञान स्वत हो जाता है जिसके होते ही दु ख के नष्ट करने की सामर्थ्य अपने आप आ जाती

है। इस दृष्टि से दुःख स्वयं दुःख के नाश का साधन है। अतः दुःख आने पर भयभीत होना भूल है। दुःख के प्रभाव मे ही दुःख का नाश निहित है।

57 प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राणी मात्र का उद्गम एक है और सभी की स्थिति भी एक ही मे है। अतः विनाश भी सभी का एक ही मे है। इस दृष्टि से हम सब एक है। अत. परस्पर मे प्रीति की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है।

58 प्रीति की एकता स्वीकार करते ही प्राप्त बल का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। कारण कि प्रीति बल का उपयोग अहितकर कार्यों मे नही होने देती। अतः बल का व्यय उपयोगी कार्यों मे ही होने लगता है, जिसके होते ही भेद, भिन्नता तथा निर्बलता सदा के लिए मिट जाते हैं। अतः प्रीति की एकता मे ही समाज का विकास निहित है।

59 ज्ञान के अनुरूप भाव और सद्भाव के अनुसार व्यवहार स्वतः होता है। अतः निज-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित पवित्र भाव सुरक्षित रखना अनिवाय है।

60 किसी-न-किसी नाते हम सब एक ह आर इन्द्रियज्ञान की दृष्टि से अनेक है। अनेक मानने पर भी सभी मे एक ही का दर्शन करना और परस्पर कुटुम्बी जनो की भाति सम्बोधन करना नागरिकता की जागृति मे परम साधन है।

61 आदर तथा प्यार की भूख प्राणी मात्र को है और उसके आदान-प्रदान की सामर्थ्य मानव मात्र मे हे। परन्तु किसी गुण विशेष के दर्शन बिना आदर तथा प्यार देने की अभिरुचि नही होती। मानव यह भूल जाता है कि गुणो के आधार पर दिया हुआ आदर तथा प्यार अपनी निर्बलता का परिचय है, आदर तथा प्यार नही। अतः जिसकी भूख स्वाभाविक है उसका देना बिना किसी हेतु के आवश्यक है।

62 अहितकर चेष्टाओ का अन्त हो जाने पर हितकर चेष्टाएं यथाशक्ति स्वतः होने लगती ह। इतना ही नही, क्रिया सीमित होने

पर भी सर्व-हितकारी सद्भाव उत्तरोत्तर बढता ही रहता है, जिससे जो करना चाहिए वह होने लगता है और जो नही करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नही होती। अत विवेक पूर्वक अहितकर चेष्टाओ का निरोध अनिवार्य है।

63 अपने निर्माण मे समाज का विकास निहित है, क्योकि सुन्दर व्यक्तियो के पीछे ही समाज चलता है। की हुई भूल न दोहराने से अपना निर्माण स्वत हो जाता है। यह अनन्त मगलमय विधान है। अत अपने निर्माण के लिए सतत प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है।

64 राष्ट्र का निर्माण समाज के उन व्यक्तियो द्वारा होना चाहिये जिन्होने क्रियात्मक रूप से जन-समाज की सेवा की है अर्थात् सेवा करने वालो के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण ठीक-ठीक हो सकता है, पर उन्हे स्वय सचालक नही होना चाहिये। वे राष्ट्र और प्रजा के बीच मे श्रद्धा और विश्वास को बढाते रहे। प्रजा मे राष्ट्र के प्रति श्रद्धा ओर राष्ट्र मे प्रजा के प्रति प्रियता उत्तरोत्तर बढती रहे। यह काय समाज-सेवी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता हे।

65. सेवा करने वाले महानुभावो मे जो ऐसे महामानव है जिनका जीवन सेवा ओर प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नही हे, जिनमे से सेवक होने का अभिमान भी गल गया हे वे ही अनन्त के मगलमय विधान को भलीभाति जानते हे। जो विधान अनन्त के विधान से अनुप्राणित नही हे वह विधान सर्वहितैषी नही हो सकता और न उसके द्वारा विश्व मे शान्ति की स्थापना ही हो सकती हे। अत. राग-रहित होकर वास्तविक विधान का निर्माण करना अनिवार्य है।

66. सच्चा सेवक वही हो सकता हे जिसके जीवन मे राष्ट्र का सचालक होने का प्रलोभन न रहे। सम्मान की दासता ने अभिमान को जन्म देकर सेवा-भाव को नष्ट किया हे। इस कारण सेवक राष्ट्र का निर्माता हो सकता ह, किन्तु राष्ट्र का सचालक नही। सेवक का शासन राष्ट्र और प्रजा दोनो के हृदय पर स्वतः होता है। अतः सेवक को राष्ट्र के सचालक होने के प्रलोभन का त्याग करना अनिवार्य ह।

67 समाज की बहुत बडो शक्ति राष्ट्र के बनाने मे व्यर्थ हो जाती है उस पर भी सव प्रिय राष्ट्र का निर्माण नही हो पाता । इस समस्या को हल करने के लिए समाज के सेवको को परस्पर मिलकर विचार-विनिमय द्वारा किसी ऐसी पद्धति का निर्माण करना चाहिये जो सर्वप्रिय राष्ट्र बनाने मे समर्थ हो। यह तभी सम्भव होगा जव सेवा करने वाला विभाग सेवा को अपनी खुराक न बनाये और सेवक होकर सम्मान का दास न हो जाय। अत सेवा को सजीव बनाने के लिए वासनाओ का त्याग अनिवार्य है।

68 सच्चे सेवक के पीछे समाज स्वय चलता है और उसे समाज का यथेष्ट ज्ञान रहता है । जिसे समाज का यथेष्ट ज्ञान है वही समाज मे से सर्व-प्रिय राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। अत सेवको के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण आवश्यक है।

69 प्रत्येक मत, सम्प्रदाय तथा वाद के व्यक्ति समाज के प्रति हित कामना रखते है और अपने-अपने ढग से समाज के उत्थान मे भी भाग लेते है, परन्तु वे परस्पर विचार-विनिमय नही करते। उसका परिणाम यह होता हे कि समाज का कुछ भाग प्रत्येक हित-चिन्तक के आधीन हो जाता है। इस कारण समाज अनेक विभागो मे विभाजित हो जाता हे और सेवा करने वाले वर्ग परस्पर सघर्ष मे समाज की शक्ति का अपव्यय करने लगते ह।

अत समाज की शक्ति का सद्व्यय करने के लिए सभी समाज सेवियो को परस्पर विचार-विनिमय करना अनिवार्य है।

70 सेवा की सजीवता तथा सफलता इसी मे है कि जिसकी सेवा की जाय उसमे स्वत सेवा का भाव जागृत हो जाय और जो सेवा करे उसमे अपने अधिकार का त्याग आ जाय। जव सेवक के जीवन मे से अधिकार लालसा सर्वांश मे नष्ट हो जाती है तव उसकी की हुई सेवा विभु होकर समाज मे सद्भावनाओ की अभिव्यक्ति करने मे समर्थ होती है। अत सेवक को सेवा के फल की तो कौन कहे, सेवक कहलाने की लालसा का भी त्याग करना अनिवार्य है।

71 सच्चा सेवक वही हो सकता है जिसने अपनी सेवा की हो। अपनी सेवा करने के लिए अपने को अपने सम्बन्ध मे ही विचार करना होगा अर्थात् अपने जाने हुए असत् का त्याग करने पर ही मानव अपनी सेवा कर सकता है। अपनी सेवा करने पर जीवन मे सेवा की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प से सुगन्ध स्वत. फैलती है उसी प्रकार जिसने अपनी सेवा की है उसके द्वारा सभी की सेवा स्वत. होने लगती है। अत सेवक होने के लिए अपनी सेवा करना अनिवार्य है।

72. सेवक हुए बिना की हुई सेवा, सेवा के रूप मे भोग है, सेवा नहीं। सेवा के रूप मे किया हुआ भोग व्यक्ति को गुणो के अभिमान मे आबद्ध कर देता है। गुणो का अभिमान समस्त दोषो की भूमि है। उसके नाश हुए विना जीवन मे निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नही है। निर्दोषता के विना सच्ची सेवा हो ही कैसे सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। अत सेवा के रूप मे भोग का त्याग अनिवार्य है।

73 सुख-भोग की लालसा से रहित होने पर ही सेवा का भाव उदित होता है। सेवा भाव है, कर्म नहीं। सेवाभाव से भावित कर्म आस्तिक के लिए पूजा, अध्यात्मवादी के लिए राग निवृत्ति का माध्यम और भौतिकवादी के लिए सुन्दर समाज के निर्माण मे हेतु है। अत सेवाभाव की अभिव्यक्ति के लिए सुख-भोग के प्रलोभन का त्याग अनिवार्य है।

79 वस्तुओ का सदुपयोग प्राणियो की सेवा मे ही निहित है।

80. ससार के काम आने पर ही ससार की दासता मे रहित हुआ जा सकता है।

81 सम्वन्ध रखते हुए सेवा न करना वन्धन है।

82 समस्त वल निर्वलो की ही वस्तु है। □

दया-दान के दोहे

□ श्री सत्यनारायण गोयनका

पर-सेवा ही पुण्य है, पर-पीड़न ही पाप।
पुण्य किये सुख ही मिले, पाप किये दुख ताप ॥ 1 ॥

जो चाहे दुर्गति न हो, जो चाहे सुख सार।
पर पीडन से दूर रह, कर नित पर उपकार ॥ 2 ॥

करे तो कर उपकार ही, मत कर अपकार।
उपकारो से सुख बढे, दुखदायी अपकार ॥ 3 ॥

जब पर हित सेवा करे, धर्म सुमन खिल जाय।
जब निज हित सेवा करे, धर्म सुमन मुरझाय ॥ 4 ॥

लेने के हित जो दिया, वह तो है व्यवसाय।
देने के हित जो दिया, दान वही कहलाय ॥ 5 ॥

दान सुखो का मूल है, करे परिग्रह दूर।
हलका फुलका चित्त रहे, मगल होय भरपूर ॥ 6 ॥

परिजन का पालन करे, देवे दान उन्मुक्त।
सदा मुक्त ऋण से रहे, पावे सुख उपयुक्त ॥ 7 ॥

अस्त्र-शस्त्र वाहन भुवन, स्वर्ण रत्न का दान।
सब दानो से उच्च है, श्रेष्ठ धर्म का दान ॥ 8 ॥

ज्यूं-ज्यूं अपने दान से, बहुजन हित सुख होय।
त्यूं-त्यूं अपने पुण्य की, बेल पल्लवित होय ॥ 9 ॥

अपना भी पालन करे, पाले निज परिवार।
औरो का पालन करे, गृही धर्म का सार ॥ 10 ॥

अपना भी होवे भला, भला जगत का होय।
जिससे सबका हो भला, शुद्ध धरम है सोय ॥ 11 ॥

सद् गृहस्थ की सपदा, जन हितकारी होय।
कर दे दूर विपन्नता, मगलकारी होय ॥ 12 ॥

द्वेष और दुर्भाव का, रहे न नाम निशान।
स्नेह और सद्भाव से, भरले तन-मन प्राण ॥ 13 ॥

जगे प्यार ही सर्वदा, रोम-रोम लहराय।
धर्म गग ऐसी बहे, द्वेप द्रोह धुल जाय ॥ 14 ॥

कर्मकाण्ड ना धर्म है, धर्म न बाह्याचार।
धर्म चित्त की शुद्धता, करुणा सेवा प्यार ॥ 15 ॥

करें मित्र से प्यार सब, यही जगत व्यवहार।
लेकिन सज्जन तो करें, वैरी से भी प्यार ॥ 16 ॥

देख दु खी करुणा जगे, देख सुखी मन मोद।
सबके प्रति मैत्री जगे, रहे समत्व का बोध ॥ 17 ॥

मैत्री करुणा प्यार से, तन मन पुलकित होय।
मानव जीवन सफल हो, सब विध मगल होय ॥ 18 ॥

मैत्री जागे बलवती, रोम-रोम लहराय।
फूटे झरना प्यार का, तन-मन मगल छाय ॥ 19 ॥

ज्यो इकलौते पूत पर, उमडे मा का प्यार।
त्यो प्यारा लगता रहे, हमे सकल ससार ॥ 20 ॥

मानव-मानव मे जहा, भेदभाव न होय।
निज हित, पर हित, सर्वहित, धर्म सत्य है सोय ॥ 21 ॥

भला होय सब जगत का, सुखी होय सब लोग।
दूर होय दारिद्र-दु ख, दूर होय भव रोग ॥ 22 ॥

जो भी प्राणी जगत के, स्थावर जगम होय ।
मझले या छोटे बडे, भला सभी का होय ।। 23 ।।

सारे प्राणी हो सुखी, सतत सुरक्षित होय ।
देखे मगल ही सदा, दूर अमगल होय ।। 24 ।।

दु खियारे दु ख मुक्त हो, भय त्यागे भयभीत ।
द्वेष छोडकर लोग सब, करे परस्पर प्रीत ।। 25 ।।

सुख छाये ससार में, दु खिया रहे न कोय ।
ना कोई भयभीत हो, ना कोई रोगी होय ।। 26 ।।

सुख भोगे प्राणी सभी, सब शुभ दर्शी होय ।
क्षेमवत निर्भय रहे, दु ख किंचित् ना होय ।। 27 ।।

तजे परस्पर बैर सब, तजें परस्पर द्वेष ।
तजे द्रोह दुर्भावना, दूर होय दु ख क्लेश ।। 28 ।।

फूटे झरना प्यार का, अग-अग लहराय ।
रोम रोम रोमांच हो, पुलकन से भर जाय ।। 29 ।।

मेरे सुख और शान्ति मे, सब हो भागीदार ।
सबके मन के दु ख मिटे, सब का हो उद्धार ।। 30 ।।

मंगल प्रार्थना

सब का मगल, सबका मगल, सबका मगल होय रे ।
तेरा मगल, तेरा मगल, तेरा मगल होय रे ।
दृश्य और अदृश्य जीवो का मगल होय रे ।
जल के थल के और गगन के सभी प्राणी सुखिया होय रे ।
दशो दिशाओ के सब प्राणी मगल लाभी होय रे ।
निर्भय हो, निर्वैर बने सब, सभी निरामय होय रे ।
जन-जन मगल, जन-जन मगल, जन-जन मगल होय रे ।

सेवा के बिना अहिंसा अधूरी

☐ श्री डी आर मेहता

अहिसा जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त और विशिष्ट पहचान है। अन्य भारतीय परम्पराओ मे भी अहिसा का महत्त्व प्रतिपादित है। महाभारत मे भीष्म ने अहिसा को 'परमो धर्म ' बताया है। परन्तु कई जैन विद्वानो एव मनोपियो ने 'अहिसा' शब्द का उपयोग मात्र नकारात्मक रूप मे किया है। दार्शनिक रूप से ऐसा करना भ्रान्तिपूर्ण है और जीवन मे भी अहिसा के नकारात्मक अर्थ से बहुत क्षति हुई है।

इस शताब्दी मे विश्व के एक महान् सेवार्थी डॉ अल्बर्ट स्वाइट्जर (Dr Albert Switzer) ने अफ्रीका के घने जगल मे एक पुस्तक लिखी—Indian Philosophical Thought अर्थात् 'भारतीय दर्शन विचार'। यद्यपि स्वाइट्जर एक पादरी थे, ईसाई धर्म मे उनकी विशेष आस्था थी, तथापि इस पुस्तक मे उन्होने जैन-धर्म की भूरि-भूरि प्रशसा की। विशेप रूप से 'अहिसा' सिद्धान्त के बारे मे उनका कहना था कि इस सिद्धान्त का जैन-धर्म द्वारा दार्शनिक स्वरूप देना विश्व के आध्यात्मिक एव दार्शनिक इतिहास की एक प्रमुख घटना है। परन्तु वे इस बात से खिन्न थे कि जैन धर्म मे इस सिद्धान्त का अर्थ सामान्यत नकारात्मक या अभावात्मक रूप मे ही दिया गया है।

अल्बर्ट स्वाइट्जर के अतिरिक्त अनेक विद्वान् भी जैन-दर्शन मे अहिसा का अर्थ नकारात्मक ही लेते ह। यही नही अहिसा को नकारात्मक ही समझते हैं। अनेक बार ऐसा मत भी व्यक्त किया जाता है कि करुणा मोह का ही एक रूप है। यह भी कहा जाता है कि करुणा, दया, सेवा इत्यादि से पुण्य-बन्ध होता है, जिससे व्यक्ति स्वर्ग

तो पा सकता है, पर मुक्ति नही । यह विचारधारा भ्रामक है तथा इससे जैन-धर्म-दर्शन का वास्तविक रूप विकृत हुआ है ।

इन विचारको के अनुसार निवृत्ति ही धर्म है और प्रवृत्ति चाहे शुभ से सम्बद्ध हो तो भी बन्ध का ही कारण है । किन्तु यह विचारधारा असगत एव अधार्मिक है ।

भारतीय परम्परा मे 'अहिंसा' शब्द की सरचना नकारात्मक (न हिंसा इति अहिंसा) अवश्य है, किन्तु इसमे सकारात्मक अर्थ पूर्णतः सन्निहित है । उसका प्रमाण है प्रश्नव्याकरण सूत्र, जिसमे अहिंसा के साठ नामो मे दया, मगल, अभय आदि शब्दो की गणना है । ये शब्द मात्र हिंसा के अभाव के द्योतक नही है, अपितु हिंसा के विरोधी भाव करुणा, अनुकम्पा, मैत्री, सेवा आदि के भी बोधक है ।

सस्कृत मे निषेध अर्थ मे प्रयुक्त नञ् (न=अ) के छह अर्थ माने गए हैं—तत्सदृश, अभाव, उससे भिन्न, उससे अल्प, अप्रशस्त एव विरोध । 'अहिंसा' शब्द मे अ (नञ्) के दो अर्थ प्रयुक्त हुए हैं—अभाव एव विरोध । एक तो हिंसा का अभाव अहिंसा है और दूसरा हिंसा का विरोधी भाव एव प्रवृत्ति जैसे करुणा, दया, अनुकम्पा, मैत्री, सेवा आदि अहिंसा है ।

परम्परा के प्रवाह मे अहिंसा का शाब्दिक अर्थ केवल हिंसा नही करना हो हो गया । वास्तव मे किसी जीव की हिंसा नही करना तो आवश्यक है ही, परन्तु अहिंसा का मूलाधार और स्वरूप, करुणा, अनुकम्पा और वात्सल्य है ।

यहा यह भी उल्लेख करना प्रासगिक होगा कि अगर अहिंसा का अर्थ सकारात्मक नही है तो अहिसा धार्मिक, नैतिक अथवा आत्म-उत्थान के सिद्धान्त के रूप मे अर्थहीन है । केवल नकारात्मक विचार-धारा के आधार पर कोई भी व्यवस्था या सगठन खड़ा नही रह सकता ।

समस्त जैन सम्प्रदायो को मान्य 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार तब तक मुक्ति नही हो सकती जब तक सयुक्त रूप से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन

व सम्यक्चारित्र की प्राप्ति न हो। तत्त्वार्थभाष्य आदि टीकाओ मे सम्यग्दर्शन के पाच लक्षणो मे एक अनुकम्पा भी है।[1] वैसे भी सामान्य जीवन मे साधारण विवेक के अनुसार भी अगर अनुकम्पा नही है तो व्यक्ति मे मानवता का ही अभाव है और वह पत्थर के समतुल्य है। तथ्य यह है कि पत्थरो की मुक्ति नही होती है। दिगम्बराचार्य वीरसेन ने धवला टीका मे 'करुणा' को जीव का स्वभाव कहा है तथा यह कहा है कि यदि करुणा, दया आदि शुभ भावो से मुक्ति प्राप्त नही हो तो मुक्ति कदापि मिल ही नही सकती।

कुछ विद्वानो से चर्चा करने पर यह भी निष्कर्ष निकला कि मूल आगमसाहित्य मे धर्म एव पुण्य मे भेद नही किया गया। पाप और पुण्य मे भेद अवश्य है जिसका उल्लेख नवतत्त्वो की चर्चा मे विशेष रूप से आता है। सम्भवत मध्यकालीन और अर्वाचीन विद्वानो ने पुण्य एव धर्म मे भेद स्थापित किया है जबकि मूल आगम-साहित्य मे इस भेद को दर्शाया नही गया है।

अहिंसा के सकारात्मक स्वरूप मे करुणा, सेवा, सहायता, वात्सल्य, अनुकम्पा, मैत्री भाव आदि का समावेश होता है। 'मैत्री' शब्द का उल्लेख आगमो मे 'मित्ती मे सव्वभूएसु' 'मित्ति भूएसु कप्पए' आदि वाक्यो मे अनेक बार आता है, किन्तु बाद मे उसकी उपेक्षा दर्शन और जीवनके स्तर पर हुई। मित्र शब्द स्नेह, सौहार्द एव सहयोग का प्रतीक है। इस दृष्टि से मित्र वह है जो मदद करे। यहा पर यह कहना उचित होगा कि भगवान् महावीर ने जन-साधारण के लिए सीधी-सरल बात कही। इसके लिए वे विख्यात भी थे। अत उनके सिद्धान्तो का अर्थ भी सीधा-सरल लगाया जाना चाहिए। यह उचित नही है कि ऐसी सीधी एव सरलता से कही हुई बात का अर्थ क्लिष्ट या विकृत किया जाय।

कई बार यह कहा जाता है कि 'मैत्री' शब्द का अर्थ है—दूसरो से वैर नही करे, किन्तु उसका यह अर्थ अपर्याप्त एव भ्रामक है।

---

1 तदेव प्रशमसवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 1 2

वस्तुत 'मैत्री' शब्द का अर्थ पूर्णतया सकारात्मक है। मेरा मित्र वह है जो मेरी मदद करे। यहा सिर्फ अहित न करने की बात नही है, अपितु यहा हित करने की बात है। भ महावीर ने कहा 'मित्ती मे सव्वभएसु वेर मज्झ ण केणइ' अर्थात् 'सब प्राणियो के प्रति मेरी मित्रता है। मेरा किसी के प्रति वैर भाव नही है।' यह मित्रता सबके प्रति स्नेह भाव की द्योतक है तथापि 'वेर मज्झ न केणई' वाक्याश के द्वारा वैर न करने का कथन अलग से किया गया है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि मैत्री सहायता करने के अर्थ मे है।

सस्कृत मे भी 'मिद् स्नेहे' धातु से मित्र शब्द बना है, जिसका अर्थ 'स्नेह भाव रखने वाला' होता है। इस प्रकार यह मैत्री सकारात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करती है। इस दृष्टि से भ महावीर के अहिंसा सिद्धात का पालन करे तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी की मदद करे, किसी की सेवा करें।

जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य श्रमण परम्पराओ मे भी अहिसा का सकारात्मक स्वरूप स्वीकारा गया है। विशेष रूप से महायान बौद्ध दर्शन मे महाकरुणा की बात बार-बार कही गई है। अनुकम्पा को वहा धर्म का मूल बताया गया है। भगवान् बुद्ध इस परम्परा के अनुसार यहा तक कह देते है कि मुझे मोक्ष नही चाहिए, ताकि मैं इस ससार मे रहकर करुणा और दया के सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार कर सकू। मित्रता के वाचक 'मेत्ति' शब्द का भी बौद्ध दर्शन मे विशिष्ट महत्त्व है।

यहां यह भी कहना उचित होगा कि अहिंसा एव मैत्री दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है जो भावना पर आधारित है। केवल स्थूल अहिसा ही पर्याप्त नही है। यदि भावना रक्षा करने की रहते हुए किसी की हिसा हो भी गई तो वह हिसा 'हिसा' की श्रेणी मे नही आती। एक उदाहरण है जो अनेक बार दोहराया जाता है कि डॉक्टर किसी रोगी का आपरेशन उसे स्वस्थ करने के लिए करता है फिर भी यदि रोगी की मृत्यु हो जाय तो इसमे डॉक्टर को हत्यारा नही माना जाता।

मैत्री का क्रियात्मक पक्ष है सेवा। इसे अहिसा का भी क्रिया-

त्मक पक्ष कह सकते है । सेवा करने मे हिंसा-त्याग के साथ प्राणी को अभयदान भी दिया जाता है । जैन आगम-साहित्य मे अभयदान को श्रेष्ठ दान कहा गया है—दाणाण सेट्ठमभयप्पयाण । जीव को भय से बचाना, उसे जीवन देना, सुरक्षा देना, करुणाशील व्यक्ति ही कर सकता है । निर्दय एव निष्ठुर के मन मे प्राय ये भाव नही जागते । सेवक के हृदय मे उदारता होती है । वह अपने सुख-दु ख की परवाह किए बिना दूसरे प्राणी का दु ख दूर करने मे लग जाता है । वह अपनी सुख-सुविधा को भूलकर पर-दु ख हरण मे तत्पर रहता है । जो दूसरो को जीवन प्रदान करता है, ऐसा सेवक भगवान् के तुल्य है ।

भगवान् महावीर ने कहा—

कि भते ! जो गिलाण पडियरइ से धण्णे उदाहु जे तुम दसणेण पडिवज्जइ ? गोयमा ! जे गिलाण पडियरइ । से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ ? गोयमा ! जे गिलाण पडियरइ से म दसणेण पडिवज्जइ, जे म दसणेण पडिवज्जइ से गिलाण पडियरइ त्ति, आणाकरणसार खु अरहताण दसण । से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ जे गिलाण पडियरइ से म पडिवज्जइ, जे म पडिवज्जइ से गिलाण पडिवज्जई

आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीयावृत्ति, ६

इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर मे पूछा कि भगवन् ! जो दु खी की सेवा करता है वह धन्य है अथवा आपकी सेवा मे रहता है वह धन्य है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! जो दु खियो की सेवा करता है वही धन्य है ।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यो फरमाते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! जो दु खियो की सेवा करता है वह मेरे आज्ञापालन का सार है । वह मेरी आज्ञापालन करता है इसलिए मै ऐसा कहता हू कि जो दु खियो की सेवा करता है वह मेरी सेवा (उपासना) करता है ।

वस्तुत' 'मैत्री' शब्द का अर्थ पूर्णतया सकारात्मक है । मेरा मित्र वह है जो मेरी मदद करे । यहा सिर्फ अहित न करने की वात नही है, अपितु यहा हित करने की बात है । भ महावीर ने कहा 'मित्ती मे सव्वभएसु वेर मज्झ ण केणइ' अर्थात् 'सव प्राणियो के प्रति मेरी मित्रता है । मेरा किसी के प्रति वैर भाव नही है ।' यह मित्रता सबके प्रति स्नेह भाव की द्योतक है तथापि 'वेर मज्झ न केणई' वाक्याश के द्वारा वैर न करने का कथन अलग से किया गया है । इससे स्पष्ट मालूम होता है कि मैत्री सहायता करने के अर्थ मे है ।

सस्कृत मे भी 'मिद् स्नेहे' धातु से मित्र शब्द बना है, जिसका अर्थ 'स्नेह भाव रखने वाला' होता है । इस प्रकार यह मैत्री सकारात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करती है। इस दृष्टि से भ महावीर के अहिसा सिद्धात का पालन करे तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी की मदद करे, किसी की सेवा करें ।

जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य श्रमण परम्पराओ मे भी अहिंसा का सकारात्मक स्वरूप स्वीकारा गया है। विशेष रूप से महायान बौद्ध दर्शन मे महाकरुणा की बात बार-बार कही गई है । अनुकम्पा को वहा धर्म का मूल बताया गया है । भगवान् बुद्ध इस परम्परा के अनुसार यहा तक कह देते है कि मुझे मोक्ष नही चाहिए, ताकि मैं इस ससार मे रहकर करुणा और दया के सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार कर सकू । मित्रता के वाचक 'मेत्ति' शब्द का भी बौद्ध दर्शन मे विशिष्ट महत्त्व है ।

यहा यह भी कहना उचित होगा कि अहिसा एवं मैत्री दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है जो भावना पर आधारित हैं। केवल स्थूल अहिसा ही पर्याप्त नही है । यदि भावना रक्षा करने की रहते हुए किसी की हिसा हो भी गई तो वह हिसा 'हिसा' की श्रेणी मे नही आती । एक उदाहरण है जो अनेक बार दोहराया जाता है कि डॉक्टर किसी रोगी का आपरेशन उसे स्वस्थ करने के लिए करता है फिर भी यदि रोगी की मृत्यु हो जाय तो इसमे डॉक्टर को हत्यारा नही माना जाता ।

मैत्री का क्रियात्मक पक्ष है सेवा । इसे अहिसा का भी क्रिया-

त्मक पक्ष कह सकते है । सेवा करने मे हिंसा-त्याग के साथ प्राणी को अभयदान भी दिया जाता है । जैन आगम-साहित्य मे अभयदान को श्रेष्ठ दान कहा गया है—दाणाण सेट्ठमभयप्पयाण । जीव को भय से बचाना, उसे जीवन देना, सुरक्षा देना, करुणाशील व्यक्ति ही कर सकता है । निर्दय एव निष्ठुर के मन मे प्राय ये भाव नही जागते । सेवक के हृदय मे उदारता होती है । वह अपने सुख-दु ख की परवाह किए बिना दूसरे प्राणी का दु ख दूर करने मे लग जाता है । वह अपनी सुख-सुविधा को भूलकर पर-दु ख हरण मे तत्पर रहता है । जो दूसरो को जीवन प्रदान करता है, ऐसा सेवक भगवान् के तुल्य है ।

भगवान् महावीर ने कहा—

कि भते ! जो गिलाण पडियरइ से धण्णे उदाहु जे तुम दसणेण पडिवज्जइ ? गोयमा ! जे गिलाण पडियरइ । से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ ? गोयमा ! जे गिलाण पडियरइ से म दसणेण पडिवज्जइ, जे म दसणेण पडिवज्जइ से गिलाण पडियरइ त्ति, आणाकरणसार खु अरहताण दसण । से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ जे गिलाण पडियरइ से म पडिवज्जइ, जे म पडिवज्जइ से गिलाण पडिवज्जई

आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीयावृत्ति, ६

इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि भगवन् ! जो दु खी की सेवा करता है वह धन्य है अथवा आपकी सेवा मे रहता है वह धन्य है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! जो दु खियो की सेवा करता है वही धन्य है ।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यो फरमाते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! जो दु खियो की सेवा करता है वह मेरे आज्ञापालन का सार है । वह मेरी आज्ञापालन करता है इसलिए मै ऐसा कहता हू कि जो दु खियो की सेवा करता है वह मेरी सेवा (उपासना) करता है ।

सेवा के क्षेत्र मे यह प्रश्न अनेक वार उठता है कि सेवा किस प्रकार की जाय ? इसके समाधान मे एक बिन्दु तो यह है कि सेवा शुद्ध भाव से की जाय, अपने लाभ या स्वार्थ की भावना से नही। सेवा मे दूसरो के हित की भावना हो, अपनी प्रशसा आदि की कामना से की गई सेवा का लाभ पूरा नही मिलता है। आज यह परम्परा चल रही है कि नाम के लिए सेवा की जाती है, किन्तु यह उचित नही है। सेवा निष्काम होनी चाहिए। नाम सेवा न हो, निष्काम सेवा हो।

सेवा के बदले मे कोई भौतिक पुरस्कार चाहना उचित नही। सेवा करने के पश्चात् सेव्य के चेहरे पर जो रौनक आती है, प्रसन्नता आती है और वह भाव व्यक्त करता है वही सेवा का सबसे बडा पुरस्कार है।

एक बार डॉक्टर मेहता शान्तिविजयजी म सा के पास गए, जो योगी थे। उन्हे निवेदन किया कि उन्हे ध्यान-क्रिया सिखायी जाय। शातिविजयजी म सा ने उत्तर दिया कि वे सासारिक है, डॉक्टर हैं। अत सेवा करके अपना जीवन सफल करे। डॉक्टर मेहता ने पूछा—सेवा किस प्रकार की जाय ? महाराज ने उत्तर दिया—सेवा माँ की तरह की जाय। माँ, पुत्र की लाते भी सहती है। उसी प्रकार सेवार्थी को समभावी भी बनना पडेगा।

मेवा के लिए आवश्यक नही है कि कोई बडा सगठन हो। सेवा घर से भी शुरू हो सकती है। माता-पिता, भाई-बहिन एवं अडौस-पडौस की सेवा करे। बडे सगठन से जुडकर सेवा की शुरुआत करने की बात सोचते रहना उपयुक्त नही। हम जहां रहते हैं, जहा काम करते हैं, सेवा वहा भी की जा सकती है।

एक कठिनाई जो सेवा मे है वह है झिझक। रास्ते मे कोई आदमी बेहोश हो गया। उसकी मदद करो तो भीड इकट्ठी हो जाएगी। दस-बीस लोग सवाल पूछेगे। कई लोगो को यह घबराहट होती है कि ऐसी स्थिति मे वे अनावश्यक रूप से ध्यान का केन्द्र बन जाते है। किन्तु सेवा करनी है तो झिझक हटानी पडेगी। सेवा करते समय

दूसरे क्या समझेगे ? इस झिझक की भावना को मिटाना होगा। दिल्ली मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन से सम्बद्ध एक विदेशी व्यक्ति काम करता है। वह कुष्ठ रोगियो से हाथ मिलाकर उन्हे भोजन आदि देता है। उसे हाथ मिलाने मे झिझक नही है। उसकी सेवा का आधार प्रेम है। उपेक्षित प्राणियो को यदि हम प्रेम दें तो वहुत वडा काम होगा।

जयपुर मे क्रिस्टल रोजर्स का एक आश्रम है, जिसमे कुत्ते, विल्ली, वन्दर आदि सव साथ ही रहते है। इस प्रकार सेवा-भावना से निर्भयता एव प्रेम का वातावरण वनता है। मनुष्यो मे ही नही, पशुओ मे भी ऐसा वातावरण वनने का उदाहरण है वह आश्रम।

सेवा किसकी की जाय ? सेवा आदमी की, पशु की, पक्षी की या किसी भी छोटे-वडे प्राणी की की जा सकती है। सेवा की जरूरत किसको अधिक है, कौन ज्यादा कठिनाई, अभाव या दु ख मे है, उसके आधार पर प्राथमिकता निर्धारित करनी चाहिये।

आज के युग मे साम्प्रदायिकता है, अनेक मतभेद हैं, किन्तु सेवा एक ऐसा भाव है जिसके कारण व्यक्ति इन सवसे परे निकल जाता है।

जैन विद्वानो मे एक विचार यह चर्चित होना है कि सेवा या दान सुपात्र को देना चाहिए, कुपात्र को नही। मेरी समझ मे देने वाले की भावना शुद्ध होनी चाहिए। कुपात्र एव सुपात्र का परीक्षण प्रथम दृष्ट्या सभव नही है तथा यह दाता की भावना पर अकुश भी लगाता है, जो कदापि उचित नही है।

साराश यह है कि अहिंसा जो जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है, के दोनो ही अर्थात् नकारात्मक और सकारात्मक पहलू हैं। इस कथन का आधार केवल भावना नही है, अपितु शास्त्र हैं। अहिंसा को केवल नकारात्मक कहना और करुणा, दया, अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्रीभाव आदि को कर्म-वन्धन का कारण वताना शास्त्रो के अनुकूल नही है। जैन धर्म के मर्म को नही समझने के कारण उपर्युक्त भ्रामक विचार-धारा उत्पन्न हुई है। यदि धर्म मानव को सवेदनशीलता से विरक्त करता है और मानव को पत्थर वनाता है तो वह धर्म 'धर्म' ही नही कहला सकता। यह केवल लौकिक धर्म की वात नही है, अपितु मूल शास्त्रो पर आधारित सिद्धान्तो के अनुसार सत्य है। □

सेवा से आत्म-विकास

☐ श्रीमती सुशीला बोहरा

सामान्यत· 'अहिंसा' का तात्पर्य 'अ + हिंसा' अर्थात् हिंसा न करना यानि किसी जीव को प्राण रहित नही करना लिया जाता है। उसका सूक्ष्म अर्थ है किसी जीव को मन, वचन और काया से दु ख न पहुचाना। सकारात्मक पहलू इससे दो कदम आगे है। दु ख न देना या न मारना ही नही, अपितु करुणा, दया एव सेवा भी अहिंसा ही है। दु ख देना या मारना जीव के विभाव भाव की परिणति है। जब मन मे ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मान, माया एव लोभ की प्रवृत्ति अधिक तीव्र हो उठती है तभी दूसरो को मारने, ताडने या गाली-गलीच के लिए मुँह खलता है। अतएव यह सहज प्रवृत्ति नही, आत्मा का स्वभाव नही।

आत्मा का सहज स्वभाव

आत्मा का सहज स्वभाव विषमता नही, समता है। आवेश नही, सतोष है। जैसे पानी का स्वभाव शीतलता है, अग्नि के सन्निकट होने से वह गरमा जाता है, लेकिन आग का सान्निध्य हटते ही वह अपने स्वरूप मे आ जाता है, वैसे ही जीव का स्वभाव सहज समत्व की भावना है। जहा समता का निवास है वहाँ विशुद्ध प्रेम का निर्झर ही वहेगा, जहा प्रेम का निर्झर बहेगा, वहा दान, दया, सेवा, प्रेम, मैत्री, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ भावना युक्त मीठा सुस्वादु जल प्रवाहित होगा ही। अतएव जहा अहिंसा होगी वहा मैत्री, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ भाव भी नियमत वैसे ही होगे जैसे सूर्य उदय होगा तो अन्धेरा मिटेगा ही और प्रकाश भी अवश्य होगा ही। उसी प्रकार करुणा के विना अहिंसा की साधना नही हो सकती। किसी जीवन को वचाने/रक्षा के लिए पहले मन मे करुणा के भाव होगे तभी उस ओर प्रवृत्ति होगी। इसके अभाव मे दूसरो के प्राणो की रक्षा दिखावा हो सकती है यथार्थता नही।

अतएव अहिंसा का नकारात्मक नही सकारात्मक पहलू अधिक वजनदार है अथवा यह कहा जा सकता है कि सकारात्मक पहलू के विना नकारात्मक पहलू का अस्तित्व ही सम्भव नही। सकारात्मक पहलू से तात्पर्य है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जोवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

सभी जीवो से मैत्री, गुणियो के प्रति प्रमोदभाव, दु खी जीवो के प्रति करुणा तथा विरोधी के प्रति मध्यस्थ भावना रखनी चाहिए।

सेवा से स्वार्थ परमार्थ मे परिवर्तित

सेवा तभी सम्भव है जव व्यक्ति मे सव जीवो के प्रति मैत्री हो, दु खियो के प्रति करुणा हो, दूसरो को सुख पहुचाने के लिए स्वय का सुख त्यागने की भावना हो। कवूतर की रक्षा करने वाले राजा मेघ-रथ के मन मे करुणा फूटी, तभी अपनी जान की वाजी लगाकर भी उसको वचाने के लिए स्वय तराजू मे वैठ गए। मैतार्य मुनि की पीडा श्राविकाजी द्वारा सहन न होने से सहस्र पाक तेल की अन्तिम शीशी भी मुनि को सहर्ष दे दी। सेवा मे स्व तिरोहित हो जाता है, स्वार्थ परमार्थ मे वदल जाता है। उपाध्याय कवि अमर मुनिजी ने ठीक ही कहा है—

वही है जिन्दगी जो, नाम पाती है भलाई मे,
खुदी को छोडकर जो, पहुच जाती है खुदाई मे।
मिसाले वुलवुला है जिन्दगी, दुनिया ए फानी मे,
जो तुझसे हो सके, करले भलाई जिन्दगानी मे ॥

सेवा से राग-भाव तिरोहित

निरन्तर सेवा कार्यों मे रत रहने से भय भाव धीरे धीरे क्षीण होने लगता है। ज्यो ज्यो इसकी गहराइयो मे व्यक्ति डुवकिया लगाने लगता है, त्यो-त्यो राग-भाव पतला व क्षीण होता जाता है। जैसे विना फूले हुए गुब्बारे की दीवारें मोटी होती है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसमे

सेवा से आत्म-विकास

☐ श्रीमती सुशीला बोहरा

सामान्यत 'अहिंसा' का तात्पर्य 'अ+हिंसा' अर्थात् हिंसा न करना यानि किसी जीव को प्राण रहित नही करना लिया जाता है। उसका सूक्ष्म अर्थ है किसी जीव को मन, वचन और काया से दु ख न पहुचाना। सकारात्मक पहलू इससे दो कदम आगे है। दु ख न देना या न मारना ही नही, अपितु करुणा, दया एव सेवा भी अहिंसा ही है। दु ख देना या मारना जीव के विभाव भाव की परिणति है। जब मन मे ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मान, माया एव लोभ की प्रवृत्ति अधिक तीव्र हो उठती है तभी दूसरो को मारने, ताडने या गाली-गलौच के लिए मुँह खुलता है। अतएव यह सहज प्रवृत्ति नही, आत्मा का स्वभाव नही।

आत्मा का सहज स्वभाव

आत्मा का सहज स्वभाव विषमता नही, समता है। आवेश नही, सतोष है। जैसे पानी का स्वभाव शीतलता है, अग्नि के सन्निकट होने से वह गरमा जाता है, लेकिन आग का सान्निध्य हटते ही वह अपने स्वरूप मे आ जाता है, वैसे ही जीव का स्वभाव सहज समत्व की भावना है। जहा समता का निवास है वहाँ विशुद्ध प्रेम का निर्झर ही बहेगा, जहा प्रेम का निर्झर बहेगा, वहा दान, दया, सेवा, प्रेम, मैत्री, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ भावना युक्त मीठा सुस्वादु जल प्रवाहित होगा ही। अतएव जहा अहिंसा होगी वहा मैत्री, करुणा, प्रमोद एव माध्यस्थ भाव भी नियमत: वैसे ही होगे जैसे सूर्य उदय होगा तो अन्धेरा मिटेगा ही और प्रकाश भी अवश्य होगा ही। उसी प्रकार करुणा के बिना अहिंसा की साधना नही हो सकती। किसी जीवन को बचाने/रक्षा के लिए पहले मन मे करुणा के भाव होगे तभी उस ओर प्रवृत्ति होगी। इसके अभाव मे दूसरो के प्राणो की रक्षा दिखावा हो सकती है यथार्थता नही।

अतएव अहिंसा का नकारात्मक नही सकारात्मक पहलू अधिक वजनदार है अथवा यह कहा जा सकता है कि सकारात्मक पहलू के विना नकारात्मक पहलू का अस्तित्व ही सम्भव नही। सकारात्मक पहलू से तात्पर्य है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

सभी जीवो से मैत्री, गुणियो के प्रति प्रमोदभाव, दु खी जीवो के प्रति करुणा तथा विरोधी के प्रति मध्यस्थ भावना रखनी चाहिए।

सेवा से स्वार्थ परमार्थ मे परिवर्तित

सेवा तभी सम्भव है जब व्यक्ति मे सब जीवो के प्रति मैत्री हो, दु खियो के प्रति करुणा हो, दूसरो को सुख पहुचाने के लिए स्वय का सुख त्यागने की भावना हो। कबूतर की रक्षा करने वाले राजा मेघ-रथ के मन मे करुणा फूटी, तभी अपनी जान की बाजी लगाकर भी उसको बचाने के लिए स्वय तराजू मे बैठ गए। मैतार्य मुनि की पीडा श्राविकाजी द्वारा सहन न होने से सहस्र पाक तेल की अन्तिम शीशी भी मुनि को सहर्ष दे दी। सेवा मे स्व तिरोहित हो जाता है, स्वार्थ परमार्थ मे बदल जाता है। उपाध्याय कवि अमर मुनिजी ने ठीक ही कहा है—

वही है जिन्दगी जो, नाम पाती है भलाई मे,
खुदी को छोडकर जो, पहुच जाती है खुदाई मे।
मिसाले बुलबुला है जिन्दगी, दुनिया ए फानी मे,
जो तुझसे हो सके, करले भलाई जिन्दगानी मे ॥

सेवा से राग-भाव तिरोहित

निरन्तर सेवा कार्यों मे रत रहने से भय भाव धीरे धीरे क्षीण होने लगता है। ज्यो ज्यो इसकी गहराइयो मे व्यक्ति डुबकिया लगाने लगता है, त्यो-त्यो राग-भाव पतला व क्षीण होता जाता है। जैसे बिना फूले हुए गुब्बारे की दीवारे मोटी होती है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसमे

हवा भरी जाती है, उसकी दीवारे पतली होती जाती है और अन्त मे वह फूट पडता है। राग-भाव को पतला करना ही सवर व निर्जरा मे कारण है। यदि सेवा मे राग-भाव पतला या क्षीण न होकर अह-भाव बढता है तो वह सेवा नही सौदा है। सौदा किसी भी तरह सवर-निर्जरा का कारण नही बन सकता। कहा भी है—

सुख-दु ख दोनो बसत हैं ज्ञानी के घट माहि।
गिरिसर दीसे मुकुर मे भार भीजबो नाहि॥

अर्थात् जैसे दर्पण मे पर्वत और तालाब दोनो दिखाई देते है, परन्तु दर्पण पर्वत से भारी नही होता और तालाब के जल से गीला नही होता, उसी प्रकार ज्ञानीजन/सेवाभावी सुख-दु ख से पीडित नही होते, वे दूसरो को साता पहुँचाने हेतु हसते-हसते दु ख को सहन करते जाते है, अतएव नि स्वार्थ भाव से की गई सेवा कर्म-बन्ध का कारण नही वनती, क्योकि उसमे राग-द्वेष रूपी कषाय-भावो का सवर्द्धन नही होता। यदि इन क्रियाओ के प्रति कर्त्तव्य भाव एव फल की आशा रूप राग-भाव पैदा हो जाय तो वह सेवा नही कुछ और ही हो सकता है।

सेवा मे वसुधैव कुटुम्वकम् का भाव :

सेवाभावी व्यक्ति जाति, लिग, भाषा एव सम्प्रदाय के मोह मे नही फँसेगा। उसके सामने हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन सभी समान होगे। उन्हे साता/सुख पहुँचाना वह अपना दायित्व समझेगा। सब जीवो के प्रति समत्व की भावना उसका पाथेय वन जाएगा, ऐसा व्यक्ति भूखे को भोजन एव प्यासे को पानी ऐसे ही पिलायेगा जैसे अपने स्वय के पोषण के लिए सोचता है।

सेवा आदि कार्यों को परम्परावादी यह कहकर नकारना चाहते हैं कि इससे एकेन्द्रिय एव चलते-फिरते प्राणियो की हिसा की सभावना रहती है। हिसा पाप है, कर्मबन्ध का कारण है। उनका यह सोचना एकागी है। हिसा जब सकल्पी होती है, करण और योग की विद्यमानता मे होती है, तभी वह कर्मवध का निमित्त वनती है। सेवा में हिसा करने, कराने एव अनुमोदन का लेशमात्र भी भाव नही

होता। अत यह पापरूप एव कर्मबध का कारण वैसे ही नही हो सकती, जैसे रोगी का आपरेशन करते समय डाक्टर के हाथ से मरीज का पेट चीरा जाय। डाक्टर बचाने की भावना से रोगी का आपरेशन करता है। उस दौरान पानी व अग्निकाय के जीवो की हिंसा भी होती है, लेकिन डाक्टर की भावना मरीज को जीवनदान देने की है। इसलिए वह पापबन्ध का कारण नही हो सकती। मदर टेरेसा दीन-दु खियो, बीमारो व कोढियो को आश्रम मे लाकर उनकी स्वय सेवा करती है एव दूसरो से करवाती है। क्या ऐसे दीन दु खियो की सेवा करना पापबन्ध का कारण हो सकता है ? कभी नही।

सेवा निर्जरा का कारण है

तप से निर्जरा होती है--'तपसा निर्जरा च' (तत्त्वार्थसूत्र, 9 3) 12 प्रकार के तप मे 'वेयावच्च' नवम तप है, जिसका अर्थ है सेवा करना। उत्तराध्ययन सूत्र मे अन्यत्र वैयावृत्य से तीर्थङ्कर नाम गोत्र के बन्ध का भी उल्लेख है, यथा—

> वेयावच्चेण भन्ते ? जीवे किं जणयइ।
> वेयावच्चेण तित्थयर-नाम-गोत्त-कम्म निबधई॥

अर्थ--हे भगवन् वैयावृत्य-सेवा से क्या फल होता है ? वैयावृत्य से जीव तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन करता है।

सेवा से निर्जरा किस प्रकार होती है इसका हम एक उदाहरण लें। अरिष्टनेमी ने बारात के भोजन हेतु वध किए जाने वाले पशुओं के बाडे को खुलवाकर सब पशुओ को अभयदान दिया। इनमे अरिष्टनेमी के कर्मों की निजरा का ही अधिक प्रसग बना। रक्षा करने वाले या सेवा करने वाले का यह भाव कदापि नही होता कि यह जीव बचकर पाप करे। यदि किसी जीव को बचाने पर उसके द्वारा आगे होने वाले पाप का कारण उसके रक्षक को माना जाय तो भगवान अरिष्टनेमी द्वारा शादी के मौके पर मांसाहारी भोजन बनाने के लिये लाये पशुओ के बाडे को खोलकर उन्हे मुक्त नही कराया जाता। अत रक्षा करुणा आदि को वध का कारण नही माना जा सकता। वेयावच्च (सेवा) का तात्पर्य साधु की सेवा तक ही नही, प्राणी मात्र

की सेवा तक व्यापक है। दीन दु खियो की सेवा करने वाला समय आने पर सघ एव साधु की सेवा नही करेगा, यह हो नही सकता।

आदरणीय सेवामूर्त्ति डी आर मेहता साहिब ने दीन-दु खी एव विकलाँगो की सेवा का बीडा उठाया, इससे हजारो लोग लाभान्वित हो गये। जिसके पैर नही थे उनके कृत्रिम पैर लग गये, हाथ नही थे उनके कृत्रिम हाथ लग गये और वे रोजगार कर अपने पैरो पर खडे हो गए। भारत ही नही देश-विदेश के लोग निहाल हो गये। यह मानवता की सेवा हुई।

आगम-साहित्य मे भी भ महावीर के द्वारा कहा गया है—

जे गिलाण पडियरई, से म दसणेण पडिवज्जइ। जे म दसणेण पडिवज्जइ, से गिलाण पडियरइ त्ति। आणाकरणसार खु अरहताण दसण।

आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीया टीका

अर्थ—जो ग्लान या आतुर की सेवा करता है, वह मुझे सेवता है, जो मुझे सेवता है वह ग्लान की सेवा करता है। यही अरिहतो की आज्ञा-पालन का सार है।

तुलसीदास ने भी परहित के समान अन्य किसी भी धर्म का महत्त्व नही माना है।

परहित सरिस धर्म नही भाई।
परपीडा सम नही अधमाई॥

भागवत मे सेवा को कलियुग का धर्म माना है। ईसाई धर्म भी विस्तार इसलिए पा सका कि उसने भूखे को भोजन एव प्यासे को पानी दिया तथा दीन-दु खियो को गले लगाया। एक व्यक्ति पीडा से कराह रहा है। दूसरा व्यक्ति आया वह उसे स्वाध्याय-ध्यान की प्रेरणा देने लगा, तीसरा आया वह उसकी सेवा-सुश्रूषा मे लग गया। इस समय कौन उसे पीडा मुक्त कर रहा है, कौन उसे शान्ति प्रदान कर रहा है? कहा भी है—भूखे भजन न होय गोपाला, पकडो आपकी कठी एव माला।

सेवा से चित्त शुद्धि

शरणानन्दजी के मत मे 'प्राकृतिक' नियम के अनुमार वस्तुग्रो का सदुपयोग व्यक्तियो की मेवा मे है ग्रौर व्यक्तियो की सेवा उनसे 'सम्बन्ध' विच्छेद कराने मे समर्थ है । इस दृष्टि से न्यायपूर्वक सम्पादित वस्तुग्रो के द्वारा व्यक्तियो की सेवा करना ग्रौर किसी भी व्यक्ति मे सुख की ग्राशा न करना चित्त की शुद्धि का साधन है । जो प्राणी व्यक्तियो से सुख की ग्राशा करता है, वह व्यक्तियो की सेवा नही कर सकता ग्रौर न उनकी ममता से ही रहित हो सकता है । सुख देने की भावना मे ही सुख की ग्राशा का त्याग निहित है । सुख की ग्राशा का त्याग सुख की दासता से रहित करने मे समर्थ है । सुख की दासता से रहित होते ही चित्त स्वत शान्त हो जाता है । चित्त की शान्ति चित्त को स्वय शुद्ध कर देती है ग्रौर चित्त की शुद्धि मे चित्त स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त का निरोध हो जाता है ग्रथवा चित्त स्वत ग्रपने ग्रधीन हो जाता है ।

ग्रतएव ग्रहिसा दिखावा नही ग्रान्तरिक वृत्ति को करुणामय बनाने का दर्शन है । जिसकी ग्रन्दर की वृत्ति ग्रहिसक हो गई वह किसी को मार ही नही सकता, किसी को कष्ट दे ही नही सकता, चाहे उसे जीवन दाव पर ही क्यो न लगा देना पडे, उसके लिए ग्रहिसा स्वभाव बन जाती है । गोयनकाजी के शब्दो मे—

देख दु खी करुणा जगे, देख सुखी मन मोद ।
सबके प्रति मैत्री जगे, रहे समत्व का बोध ।।

—परियोजना निदेशक
जनता महिला विकास ग्रभिकरण, जोधपुर



सेवा-गीत

☐ डॉ नरेन्द्र भानावत

सेवा आत्मा का विस्तार।

(1)

जग मे है जितने भी प्राणी,
उन सबके मन और भाव है।
जैसा मैं सुख-दुःख अनुभवता,
वैसा ही उनका स्वभाव है।।

उनके सुख-दुःख मे सहभागी,
बनकर करूँ सभी को प्यार।
सेवा आत्मा का विस्तार।।

(2)

भूखो को भोजन नसीब हो,
तृषितजनो को निर्मल पानी।
रोगी को औषध मिल जाये,
भीतजनो को निर्भय वाणी।।
जो जडता मे मूर्छित-बन्धित,

खोलूँ उनके चेतन द्वार।
सेवा आत्मा का विस्तार।।

(3)

सेवा सौदा नही, हृदय का,
सहज उमड़ता अमित स्नेह है।

जो इसमें रमता उसके हित,
सारी वसुधा परम गेह है ।।

सेवा का सुख शाश्वत, स्वाश्रित,
उसमें किंचित् नहीं विकार ।
सेवा आत्मा का विस्तार ।।

(4)

सेवा से सब मल गल जाते,
नयी शक्ति नव तेज निखरता ।
आत्म-गुणों का सिंचन होता,
दु ख-दरदों का जाल विदरता ।।

सेवा में बनते परमातम,
दुर्लभ नर जीवन का सार ।
सेवा आत्मा का विस्तार ।।



दान, दया का एकांत निषेध खतरनाक

☐ पं. बेचरदास दोशी

स्वय को जैन परम्परा के मानने वाले कितने ही लोग गृहस्थो को 'मोह भाव' का डर बताकर शुभ प्रवृत्तियो के करने का निषेध कर रहे है और मानवता का आधार रूप परोपकार, दान, दया व दुःखियो के देखने से आती 'अनुकम्पा' जैसी शुभ प्रवृत्तियो को अनर्थ (मोह बन्ध) का कारण बता रहे है।

सिर मे जुएँ पडती है इसलिए सिर स्वच्छ रखने का प्रयत्न करने के बदले सिर को ही काट डालना—ऐसी यह मान्यता है। इस कार्य मे वीतराग सयम शक्य नही है। इसमे क्या सराग सयम की आराधना नही करनी है? निर्मोही दया-करुणा-अनुकम्पा शक्य न हो तो क्या दया, करुणा नही करनी चाहिए।

यथार्थता तो यह है कि समोह स्थिति मे रहते हुए सद्गुणो के आचरण की आदत डालने से धीरे-धीरे अनासक्त दशा तक पहुचा जा सकता है। किसी मनुष्य को महल पर चढाना हो तो सीढी के आश्रय के विना चढ सके, ऐसा नही होता है। इसलिए उसे सीढी का आश्रय लेकर चढना होता है। इसी प्रकार विशुद्ध धर्म के महल के ऊपर चढने के लिए शुभ प्रवृत्तिया सीढी के रूप मे है। जो इन शुभ प्रवृत्तियो का निषेध करते है वे सीढी के बिना ऊपर चढने की बाते करते है।

(गुजराती से हिन्दी रूपान्तर)

सेवा में सदुपयोग

□ श्रीमती प्रसन्ना भण्डारी

अहिंसा मानव जीवन की उस सकारात्मक शक्ति का नाम है जो मानव को अपनी क्रियाशक्ति का सदुपयोग करके राग-निवृत्ति या जीवन-मुक्ति की ओर अग्रसर करती है। सदुपयोग करने का विचार आते ही मानव को सेवा करने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि केवल सेवा ही वह तत्त्व है जो करने का राग गलाकर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से अतीत के जीवन में उसका प्रवेश कराती है। उस जीवन की प्राप्ति ही मानव मात्र की मौलिक मांग है।

वीतराग पुरुषों का फरमाना है कि जीवन में भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है। यदि क्रिया शक्ति का उपयोग भोग में होगा तो रोग और शोक अवश्यम्भावी है जो किसी को भी पसन्द नहीं है। अत स्वाभाविकता रोग और शोक में नहीं, योग और बोध में है जिनकी प्राप्ति प्राप्त-शक्ति का सदुपयोग करने पर ही हो सकती है।

सेवा कर्म बन्धन का कारण नहीं

कतिपय दार्शनिकों का मत है कि सेवा-कार्य कर्म बन्धन का कारण बनते हैं। जैसे कुकर्म करने में मनुष्य को पाप बन्धन होता है, वैसे ही सुकर्म करने से उसे पुण्य-बन्ध होता है। एक को लोहे की बेड़ी बताया है तो दूसरे को सोने की बेड़ी। है दोनों बन्धन ही। यह मत युक्ति-युक्त नहीं है।

पहली बात तो यह है कि प्राप्त शक्तियों का उपयोग करना मानव मात्र के लिए अनिवार्य है अन्यथा वे नष्ट हो जायेंगी। इसलिए वह उनका उपयोग सुकर्म में करे। दूसरी बात यह है कि मानव को जो भी शक्तियां मिली है वह प्राकृतिक देन है, उसकी स्वयं की उपज नहीं है। ये शक्तियां उसके पास धरोहर के रूप में हैं।

इसीलिए वीतराग सन्तो ने फरमाया है—'सगृहीत सम्पत्ति निर्धनो की धरोहर है और सगृहीत बल निर्बलो की धरोहर है।'

विवेक का तकाजा है कि मानव धरोहर का दुरुपयोग न करे। जिनकी वह धरोहर है उनके निमित्त ही उनका उपयोग करे। ऐसा उपयोग सेवा कार्य से ही हो सकता है। किसी भी कारण से दुरुपयोग किया तो वह मानसिक-द्वन्द्व के मकड जाल मे फस जाएगा जो उसे स्वय पसन्द नही है। अत यह युक्ति-युक्त है कि वह उनका सदुपयोग करे। सदुपयोग करने पर ही वह सगृहीत धरोहर के कर्ज-भार से मुक्त होगा और करने के राग से मुक्ति भी उसे तभी मिलेगी। यही उसकी मौलिक माग भी है। अत. यह सिद्ध हुआ कि सेवा कर्म बन्धन का हेतु नही है, प्रत्युत वह मुक्त जीवन की ओर अग्रसर करती है अर्थात् सकारात्मक अहिसा पाप का क्षय करने वाली एव शाति-मुक्ति दिलाने वाली है। □

जीव मात्र के लिए आदर

विश्व की महान् विभूति अलबर्ट श्विट्जर ने विश्व के तमाम दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन करके एक परम उत्कृष्ट सिद्धांत हमें दिया है– 'रेवरेन्स फार लाइफ' जीव मात्र के लिए आदर। श्विट्जर कहता है—किसी भी व्यक्ति को सदाचारी या धार्मिक केवल तभी माना जा सकता है, जब उसके भीतर सतत यह प्रेरणा होती रहती है कि मैं जीव मात्र की यथा शक्ति सेवा करूं और किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का क्लेश न पहुंचाऊं। उसके लिए प्रत्येक प्राणी का जीवन पवित्र है। वह किसी वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ता, कोई फूल नहीं तोड़ता। वह इस बात का ध्यान रखता है कि उसके पैरों तले कोई जीव कुचल न जाय। गर्मी के दिनों में रोशनी से यदि वह काम करता है तो वह खिड़की बन्द करके उमस में बैठना कबूल करता है, बजाय इसके कि पतंगे बाहर से आ-आ कर मेज पर शहीद हों।

इस 'रेवरेन्स फार लाइफ' में—जीव मात्र के लिए आदर में—धर्म का सारतत्त्व प्रेम और करुणा ऊपर से नीचे तक ओतप्रोत है। यह प्रेम मानवमात्र के लिए ही नहीं प्राणीमात्र के लिए है। पशु और पक्षी, कीट और पतंग कोई भी उससे अछूता नहीं रह सकता।

श्विट्जर का कहना है कि रेवरेन्स फार लाइफ का पुजारी हर काम को इस कसौटी पर कसेगा। वह सोचेगा कि मुझे अपने जीवन, अपनी सम्पत्ति, अपने अधिकार, अपने आनन्द, अपने समय और अपने स्वास्थ्य का कितना भाग दूसरों को अर्पित कर देना है और कितना रखना है। वह और प्रश्न करेगा अपने आपसे प्रश्न करेगा कि मुझे स्वास्थ्य, प्राकृतिक अनुदान, प्रसन्नता, सफलता, सुन्दर वातावरण, उत्तम पारिवारिक परिस्थिति आदि बातों में दूसरे लोगों की अपेक्षा जो अधिक सुविधा प्राप्त है, उसे मुझे अपना अधिकार मानकर स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। इन सबके लिए मुझे आभार न अधिक आदर भाव रखना चाहिए। जो मुझे मिला है उसका सदुपयोग करें।

अहिंसा की प्रक्रिया मे जीवन के प्रति आदर की यह भावना अनिवार्य है। शरीरमात्र को, फिर वह अपना हो या पराया, पवित्र मगलायतन मानना इसकी पहली सीढी है। यो शरीर की पवित्रता तो न्याय भी स्वीकार करता है पर अहिंसा का पुजारी न्याय को परे रखकर गाधी के शब्दो मे कहता है "मेरा धर्म न्याय नही, करुणा है।"

सकलित



बलिदान-सेवा-चैरेटी

□ श्री महादेव भाई

सेक्रिफाइस (बलिदान) का सच्चा अर्थ यह है कि हम इसलिए मर जाये कि दूसरो को जीवन प्राप्त हो, हम कष्ट उठायें ताकि दूसरो को आराम मिले।

दूसरो के लिए प्राण अर्पण करना प्रेम की पराकाष्ठा है और उसका शास्त्रीय नाम अहिंसा है अर्थात् यो कह सकते है कि अहिंसा ही सेवा है।

हिन्दी नवजीवन 15-9-27

'दया' और 'चैरिटी' इन दोनो शब्दो का धात्वर्थ एक जैसा ही है। दया मे धातु 'दय्' है जिसका अर्थ होता है प्रेम करना, प्रिय मानना। इसी से दयिता (प्रिया) शब्द निकला है और चैरिटी के मूल मे भी लेटिन 'केरस' प्रिय है। इसलिए जिसके प्रति हमारे मन मे चैरिटी हो, दया हो, उसके लिए हमारा हृदय प्रेम से द्रवित होना ही चाहिए।

अहिंसा और सत्य, पृष्ठ 246

Positive Contents of Jinism[1]

Joharimal Parakh

While introducing his famous book गीतारहस्य अथवा कर्म-योगशास्त्र Lokmanya Tilak has vividly described how his mind used to revolt when he started reciting Srimad Bhagwad Geeta for his aged sick father He could not agree with the traditional commentators of Geeta that its principal and only prescription is renunciation of activity Similarly while reading Jain scriptures some such identical becomes my mental state of affairs qua the interpretation of true nature of Jain Philosophy, because the long established view point is that Jinism mostly teaches abstainment from activity Sir, whether this charge of negativism is proved against Geeta or not, is a separate question, but with all humility it can be said that it does not survive as far as Jinism is concerned Therefore, the theme of today's talk is to establish that even as per the strict canonical view point Jain religion and its philosophy are much more positive than negative I may be excused for doing this advocacy entirely on the basis of Jain Agamas because much credence cannot and should not be given to the words of non omniscients of the later age

The various schools of religious thoughts have been classified into four main groups viz (i) क्रियावादी (Activists), (ii) अक्रियावादी (Non activists or passives), (iii) विनयवादी (Devotionals bhakti margees) and (iv) अज्ञानवादी (Nescients)

Jains take a very definite position that a murderer's self

goes on acting incessantly till it attains salvation and it obviously means that they fall in the group of Kriyavadi philosophies The proposition should not be challanged by any one In very unambigous terms it has been clearly declared just at the outset-first lecture of the first chapter of the first book of the first (& the foremost too) canon "Acharanga" (the name itself suggests prime importance of action) से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी and with reference to the setting as well as literally, the term Kriyavadi without any doubt denotes one who knows, believes in and carries out activity Please realise the implication of the separate distinctive and equal status given to Kriyavad by Jains alone others have mixed up Karmvad and Kriyavad The same thing is repeated subsequently in chapter 9(i) (16) of Acharanga दुविह् समिच्च मेहावी किरिमक्खाय अणेलिस नाणी is that omniscient intellectual gaint Mahavir, knowing fully well has made a unique preposition of activity in two varieties Then it has been prescribed for a monk to recite twice a day that किरिय उवसपज्जामि, अकिरिय परियाणामि which means "I accept-enter into *activity and refrain-denounce inactivity*" (पगाम सज्झाय)

Having made the positive pronouncement that Jinism is a philosophy of activity, the other three remaining philosophies have been specifically rejected Akriyavadi i e one who believs in activity has been severely criticised at more than one place —

लवाव सक्कीय अणागएहिं
णोकिरियमाहसु अकिरियवादी ॥

Afraid of bondage and future etc Akriyavadees propound inactivity [Sutrakritanga I, 12(4)]

जेकेई लोगमिउ अकिरिय आया,
अन्नेणपट्टा धम्ममादिसंति ।

ग्रा॰नगन्ना गहिना य नाग,
धम्म न जाणन्ति विमोक्खहेउ ॥ 16 ॥

People who believe in self inactivity still when confronted by others concede its liberation, being deeply involved in violence etc and entirely engrossed in wordly objects, they do not know the duties which lead to salvation [Sootrakritaanga I. 10(16)]

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जइ।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ॥ 13 ॥

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तमं जन्ति, मन्दा आरम्भणिस्सिया ॥ 14 ॥

Some talk loosly that in doing or getting a thing done and while in all activity self is not present and in this manner, self is totally inactive How can there be roamings in this world as per these people (i e cannot) These fools involved in fierce deeds proceed from bad to worse

[Sootrakritaanga I. 1. (13. 14)]

coming confused and unable to reply, have to keep mum At times, they take both the sides and contradictory stands unknowingly, and approve of activity in disguise Many a people who believe this, whirl round endlessly in this world For them, there is neither sunrise or sunset, nor waxes or wanes of Moon, nor flowing of water, nor blowing of winds in this unreal and absolutely actionless entire world Like a blind man, who though with lamp, can not see anything in the absence of eyesight, these Akriyavadees also due to perverse intellect cannot perceive activity though a reality [Sootrakritaanga, I 12 (5-8)]

Similarly, people engrossed only in bhakti (quite different from enlightened faith in Fundamental Truths) for their salvation and doing nothing else have also been disapproved

सच्च असच्च इति चिंतवता, असाहु साहुत्ति उदाहरता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भाव विणइसु णाम ।।
अणोवसखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासाइ अम्हएव ।।

Many a person who are Vinayavadees think truth as untruth and bad as good or vice-versa and when asked, always uphold bhakti For want of real knowledge they see their salvation in bhakti alone [Sootrakritaanga I, 12 (3,4)]

So also Ajnanavadi (Nescient) philosophy has been totally rejected and reference can be made to Sootrakritaanga I, 1(41-46), 12(2) & 14(12,13)

Thus it is clear beyond doubt that Jains have opted for Kriyavad [परसमय अकिरिया (inactivity is non-Jain)-Anuyogdvara 525(3)] and insist on putting knowledge into action -आह सु विज्जा चरण पमोक्ख [Sootrakritaanga I, 12(11)] Bhagvati Sootra 25(7) and Aupapatika 20 prescribe that Kriyavadees should be given all respects and that people born in Karmbhoomi (i e land full of activity) alone can attain liberation.

Dasashrutaskandha also disapproves Akriyavad and highly praises Kriyavad [See chapter 5(3, 14, 16) and chapter 6 (13 15)] The following authorities be quoted to crystalize this position

(i) अलेस्सा (ii) सम्मदिट्ठी (iii) णाणी जाव केवलणाणी (iv) णो सण्णोवउत्ता (v) अवेयगा (vi) अकसाई (vii) अजोगी—किरियावाई, णो अकिरियावाई, णो अण्णाणियवाई णो वेणइयवाई।

किरियावाई—(i) णो कण्हपक्खिया (ii) णो मिच्छादिट्ठी (iii) णो सम्मामिच्छा दिट्ठी (iv) णो अण्णाणि जाव विभंगणाणी (v) णो विगलेंदिया (ix) णो [illegible] (vii) णो णेरइयाउयं, तिरिक्खजोणियाउयं भवणवासी-वाण-मंतर-जोइसियदेवाउयं णो पकरेंति (viii) मणुस्साउयं पि वेमाणियदेवाउयं पि पकरेंति।

(Bhagvati Sootra 30 1 Summarised)

Kriyavadee alone can attain the high stages of (1) pure uncoloured intellectual apparatus (2) enlightened vision & faith, (3) true knowledge of 5 types, (4) urgelessness, (5) beyond biological feelings, (6) passionlessness and (7) freezing of mind body and speech a moment before the end of wordly life, but not the Akriyavadee, Vinayavadee and Ajnanavadee (1) Kriyavadee's world roaming is not unlimited it is just near the end He does not have, (2) wrong or perverse faith (3) mixed and corrupt percaivements, (4) nescience or distorted knowledge, (5) birth in one sense to four sense bodies (6) the nature of non-emancipation (अनन्त) (7) He is immune from age bondage which leads to the hell or animal species or lower categories of heavens like Bhavan Vasi (Asuras), Vanmantar (evil spirits) or astronomical gods (sun moon star & nakshatra) instead (8) he is born as a human being or in high class [illegible] Whereas the cases of Akriyavadees, Vinayavadees and Ajnanavadees for all the above [illegible] can be [illegible]

So far we have established that Jains fall in the group of Kriyavadi philosophies but that does not amount on their part to the full endorsement of all other schools of Kriyavadi thought falling in this group. Amongst Kriyavadees also there are various perverted sects and stray adverse remarks found in canons should be read in that context For example some say that activity does not result in bondage [Sootrakritaanga I, 1 (51)] while others maintain that activity alone without knowledge is sufficient for Moksha or liberation [Sootrakritaanga I, 10 (17)] still some insist that all the 5 ingredients viz, (i) a being, (ii) his knowledge, (iii) killing mentality, (iv) deliberate efforts and (v) resultant death are simultaneously necessary or rather compulsory for bondage to take place But all these view points have been commented upon and have been discarded

जाण काएण गणाउट्टी, अबुहो ज च हिंसति ।
पुट्ठो सवेदइ पर अवियत्त खु सावज्ज ।। 52 ।।

सतिमे तउ आयाणा, जेहि कीरइ पावग ।
अभिकम्मा य पेसाय, मणसा अणुजाणिया ।। 53 ।।

एतेउ तउ आयाणा, जेहि कीरइ पावग ।
एव भाव विसोहिए, निव्वाणमभिगच्छइ ।। 54 ।।

पुत्त पिया समारब्भ, आहारेज्ज असजए ।
भु जमाणो य मेहावी, कम्मुणा नोवलिप्पई ।। 55 ।।

मणसा जे पउस्सति, चित्त तेसि ण विज्जई ।
अणवज्जमतह तेसि, ण ते सवुडचारिणो ।। 56 ।।

[Sootrakritanga I, 1(52-56)]

Argument : The sin of those who simply intend but in fact do not kill or who commit violence unaware is insignificant—just a touch of bondage

Reply No there are 3 equally powerful distinct modes of committing sin viz , by doing, by getting it done and by approving of it

Argument Though these three modes of committing sins are there, yet due to purity of sentiments one byepasses the bondage, e g A father, devoid of contraction (मथन) but in wise state kills his own son and eats the flesh, even then he is not bound by Karma

Reply This is a false proposition, because inlets of sins have not been closed by him If one has an idea of malice, his mind cannot be said to have emotional purity

This preliminary survey clearly reveals that premises of Jinism have been firmly laid on the active spiritual base of kriyavad Let us now study the strong edifice of activity built upon that foundation

The debate of Pravritti i e to act and Nivritti i e to abstain from action is as old as anything (Shankar Bhasya on Geeta, page 1) The discussion on this problem has been exhaustively raised at the beginning of 8th chapter of 1st book of Sootrakritaanga The questions posed are whether religion consists in activity or it amounts to non activity—whether one should exert in actions or his efforts should be to renounce them Bhagvan Mahaveer characteristic of his style replies that choice is not between activity and no activity but one has to choose between the various courses of activity open to him A hermit who has renounced actions physically may still be pramadi (meaning of the term will be explained here after) and thereby incurring bondage whereas a person who appears to be acting but not pramadi has not been bound by these actions By [illegible] tion of [illegible]

पकरेंति पाव । [Sootrakritaanga I, 12 (15)] As the proposition is very important let us read the text :

दुहा चेय सुयक्खाय, वीरियंति पवुच्चइ ।
कि नु वीरस्स वीरत ? कह चेय पवुच्चई ? 1 ॥

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं जेहिं दीसति माच्चिया ॥ 2 ॥

पमाय कम्ममाहसु, अप्पमाय तहाऽवर ।
तब्भावा देसओ वावि, बाल पडियमेव वा ॥ 3 ॥

× ×

एव सकम्मवीरिय बालाण तु पवेदित ।
इत्तो अकम्मवीरिय पडियाण सुणेह मे ॥ 9 ॥

Two types of exertions have been propounded, what is exertion of bold and why is it so called ? Some say that one should exert, do activity, while others say that one should try hard to renounce all actions People are seen divided into these two classes But Bhagvan has said that (an actionless) pramadi incurs bondage whereas the position of an active but not pramadi may be otherwise Therefore, the exertion which leads to bondage is wrong and one which does not lead to it, is desirable x x x Exertion of ignorants which results in bondage has thus been described, now hear the exertion of wise, which does not result in bondage but annihilates it

Sootrakritaanga I, 8 (1-3, 8-9)

With all humility we bow to the above clearcut straight-forward solution of the problem which has engaged the pundits all over and all along It is pitty that an intelligent man like Shankaracharya missed this analysis and took the extreme position of renunciation from all activity.

Again we owe to Jinism that pramad has been put on a doctrinal plane (पंच आसवदारा पं० तं० मिच्छत्तं, अविरति, पमादो, कसाया जोगा (Thananga 418 Samvayanga-5) According to them pramad is an independent cause of bondage and even if present singularly all alone is sufficeint enough to attract inflow of Karmik matter in the soul region – the remaining four causes viz, Mithyatva, Avirati, Kasaya and Yoga need not be present. Pramad is a special term of Jain vocabulary and has been classified by Thananga 502 (छव्विहे पमाए पण्णत्ते तं० मज्ज, निद्द, विसय, कसाय, जूय, पडिलेहणा) This merely enumerates the characteristics of pramad, does not define it exhaustively or exclusively. Though the full and comprehensive meaning & implications of this word can be a subject matter of research yet suffice for our present purpose to say that pramad clearly includes the following—carelessness, lethargy, inactivity, laziness, unalertness, nonvigilance, inattentiveness, sleep, slowness, nonutilisation of spiritual faculties & bodily talents, mental passiveness, wastage or killing of time, notion of carufree enjoyment of wordly pleasures etc. etc. and we should be away from all these. In urdu we can translate pramad as [illegible] —Shilanka Acharanga 134

The above exposition vis a vis activity finds full support in the following समयं गोयम मा पमायए। O Gautam I do not remain in pramad even for a moment (Uttaradhyayan 10th chapter)

अपडिवज्जइ । पसत्थे जोग पडिवण्णे य ण अणगारे अणत धाड पज्जवे खवेइ ।

Uttaradhyayan 29 (7)

By self sublimation one removes himself away from bad occupations and activities and engages himself in good ones and thereby the monk annihilates boundless fierce bondage

किरिय च रोयए धीरे, अकिरिय परिवज्जए ।
दिट्ठिये दिट्ठी सपण्णे, धम्मचरसु दुच्चरे ।।

[Uttaradhyayan 18 (33)]

Perseverant one should like activity and not remain inactive With the perception, the wise should persue the difficult path of religion

जे अहम्मिया, अहम्माणुया, अहम्मिहा, अहम्मक्खाई, अहम्मपलोई, अहम्मपलज्जमाणा, अहम्मसमुदायारा, अहम्मेण चेव वितिकप्पेमाणा विहृति—एएसिण जीवाण सुत्ततसाहू, दुब्बलियत साहू, आलसियत साहू । जे इमे जीवा धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मपलज्जमाणा धम्मसमुदायारा, धम्मपलोई, धम्मेण चेव वितिकप्पेमाणा, एएसिण जीवाण जागरियत्त साहू, बलियत साहू, दक्खत साहू ।

एए ण जीवा जागरा, बलिया, दक्खासमाणा वहूण पाणाण, जीवाण, भूयाण सत्ताण अदुक्खणयाए, असोयणयाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपीडणयाए, अणुदव्वणयाए, अपरियावणयाए वट्ट ति, अप्पाण वा पर वा तदुमय वा बहूहिं धम्मियाहिं सजोयणाहि सजोएत्तारो भवति, धम्मजागरियाए अप्पाण जागरइतारो भवति, दक्खासमाणा बहूहिं आयरिय, उवज्झाय, थेर, तवस्सी, गिलाण, सेह, कुल, गण, सघ साहम्मिय वेयावच्चेहिं अत्ताण सजोएतारो भवति ।

[Bhagvati Sootra 12 (2) 18 to 20]

It is better that people, who are irreligious, (ii) propagate irreligion, (iii) do not follow religion, (iv) dislike it; (v)

are interested and engrossed in non-religion (vi) act irreligiously (vii) and earn their livelihood by such acts remain asleep, powerless and lazy whereas for those persons who are religious, followers of it aspirers of it, propounders of it, interested and engrossed in it active, religious and earn their livelihood by religious means it is better to remain awake, powerful and active Because by remaining so, they contribute towards the removal of pains sorrows sadness (distress), tears troubles unhappiness and sufferings etc of many a being engage themselves or others or both in various religious plans and programmes by remaining religiously awake they keep themselves always alert and by remaining active they keep themselves always engaged in serving preceptors teachers, old senior and learned monks austeres sick learners, groups sects, sangh (church organisation) and co religious people

The Acharanga-sootra insists times out of number on intense efforts by the aspirant of Moksha (see I 78 97, 111, 157 173, 195 155 129) and so also Sootrakritanga [See I, 2 (11, 38), 6 (9) 8 (11) 11 (35) 15 (22)] in Acharanga alone the hammer has fallen heavily 17 times directly plus many a time indirectly on pramad (see I 33, 65, 85 106, 107, 108 109 123 152 156 197 280 281 282, 321)

disciple Shri Gautam Swami nor Bhagvan Krishna could oblige his fast friend Arjun Some people talk of Moksha simply by knowledge but it is universally admitted that Jains give more importance to activity which is compulsory as per these doctrines Just suffice to quote very high authority of Acharanga—जे अणुवरता विज्जाए पलिमोक्खमाहु, जावट्ट अणु- परियट्टति त्तिवेमि (I, 151)=those devoid of religious activities, maintain that Moksha can be attalned simply by knowledge, cannot cross the birth cycle of this world To draw the ano- logy of words—keep on moving—(go on doing) is dharma and remaining stationary (not doing anything) is adharma In fact activities are indispensible and so says Acharanga-I (1) इमस्स चेव जीवियस्स, परिवदण माणणपूयणाए, जाई मरणमोयणाए, दुक्ख पडिघाय हेउं । In order to sustain this life, in order to perform pooja yajna etc, in order to attain release from birth and deaths and in order to remove pains, activity is essential—we can not do without it

But apart from necessity and desirability or otherwise, the most important point is that all throughout his life, one, even if he so wants, cannot remain even for a moment, without yoga i e business of body, mind and speech, except for a negligible period of a few seconds just before the final emancipation Geeta also supports this doctrine in 3 (5) and 18 (11) and recites that नहि देहभृता शक्य त्यक्तु कर्माणि अशेषत । so even if conceding that activity results in bondage, one cannot remain without it Thus declares Acharanga-I-110 अकम्मस्स ववहारो न विज्जई we can not do (away) without activity and, therefore, parijna has been prescribed तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता Acharanga I, 7,13,24 & so on) Parijna does not mean a wholesale ban on activity The word has a heavy knowledge content and the compound should be analysed as renunciation based on knowledge—something selective —discriminative, Like a shrewd businessman, we should reconcile the situation, be rational and practical and weigh the consequences of the proposed business of body, mind and speech in terms of net resultant loss of bondage An

activity with less accumulation and more annihilation of karmik matter is to be preferred to the one with more accumulation and less annihilation This businesslike approach has been approved in discussion of Ardrakumar with Goshalaka

[illegible]
[illegible] 20 ॥

Without incurring new bondage and while annihilating the old ones and by casting aside wrong mentality (कुमति) Bhagwan Mahaveer has proved saviour of all This is called Moksha schedule and its resultant acquisition Moksha (मोक्ष) is considered as a gain by him

Sootrakritanga II-6 (20)

In the words of Geeta the dexterity lies in so carrying out an activity that old bondage is discarded with little or no fresh bondage [illegible] (2 50) The source sentence runs as follows in Acharanga I 104 [illegible]
It explicitly means--dexterous neither incurs bondage nor is devoid of activity

towards self emancipation णिरालवणस्स आययट्ठिया जोगा भवति (Uttaradhyayan 29-33) Like Geeta's "Sthitaprajna" who does no wrong, Jains also have a subjective approach than mere objective alone, and whether bondage or no bondage much depends upon the spiritual stage of the doer

जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत दसिणो ।
असुद्ध तेसि परक्कत, सफल होइ सव्वस्सो ।। 22 ।।

जेयबुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत दसिणो ।
सुद्ध तेसि परक्कत, अफल होइ सव्वस्सो ।। 23 ।।

Great men bold enough but unenlightened and of perverted faith exert wrongly and hence their all activities & efforts result in bondage whereas great & brave persons who are enlightened and of right faith exert dexterously and none of their efforts & activities result in bondage

Sootrakritaanga I, 8 (22-3)

वयण विभत्ति अकुसलो, वयोगत बहुविध अजाणतो ।
जतिवि ण भासति किंची, ण चेव वतिगुत्तय पत्तो ।। 22 ।।

वयण विभत्ति कुसलो, वयोगत बहुविध वियाणतो ।
दिवसमवि भासमाणो अभासमाणो ववइगुत्तो ।। 23 ।।

[पाठातर-- दिवसपि भासमाणो तहावि वयगुत्तय पत्तो]

An inexpert in the discriminative knowledge (विवेक=परिज्ञा) of speech, being ignorant of numerous types thereof does not attain talking contraction (वचन गुप्ति) even though observes complete silence whereas an expert in the discriminative knowledge of speech, being well conversant with various types therof, remains in talking contraction (वचनगुप्ति) although speaks throughout the day

[Dasvaikalika Niryukti Vakyasuddhi last but one
22/23 (92/93) 7th chapter]

Thus, it can safely be concluded that Jinism no where

prohibits indulgement in those activities which directly or indirectly result in net annihilation of Karmic bondage on the contrary strongly advises & highly recommends to go for them briskly. In other words only those activities which obviously result in more bondage than dissociation (निर्जरा) have to be abstained from provided that absolutely essential activities (like biological necessities to sustain life and remove pains) amongst them are tolerable in the technical name of [illegible] [Sootr kri-taanga I-11 (35)] Exert in good & abstain from bad.

On the basis of above discussion, it be added that Jain Kriyavad has been refined thoroughly well and is a very fine exercise and a sophisticated doctrine. To comprehend it masterly and to preach it correctly is not an easy job and naturally its perfect practice demands a very high mental stage and spiritual calibre. As noted in the beginning, exposition of Kriyavad (i.e. Karmayog as per commentators) in Geeta has not been quite clear and meant differently to different people right from Arjuna to Shankaracharya, Tilak and others. This led to a remark from our Jain theologists that 'Bharat (i.e. Mahabharat of which Geeta is a part) can be correctly understood by persons having right perception and enlightened faith'. Therefore, to guard against misinterpretation, confusion etc. [illegible] the following note of caution has been issued for those who want to explain this topic of (Jain) Kriyavad-

of Karmic matter, bondage and its disassocition, he alone is eligible to expound kriyavad

Sootrakritaanga -I12 ((20-21)

(**Important**—It is hereby sincerely admitted that I do not have all that knowledge and hence truth in my talk alone be adopted and anything more or less than that be ignored, please)

(1st half of the talk over)

Having examined in detail the theology, philosophy metaphysics and doctrines of Jinism, we will now proceed to see what activities have been prescribed by Jain religion Jain religious code of conduct can be grouped under three broad heads , viz , Ahimsa, Samyam and Tap— धम्मो मगल मुक्खिट्ठ —अहिंसा, सजमो, तवो (Desvaikalika 1/1)=Nonviolence, Contraction and Austerity Ahimsa group includes in its fold its partners and fellow travellers like truth, non-usurpance etc

Ahimsa is an important aspect of Jain religion and hence there should be no mis-understanding about its meaning Though we use the word 'himsa' हिंसा and with an opposite suffix अहिंसा' 'Ahimsa' and in the same vein translate them into violence and non-violence, yet it is submitted that doctrine of Ahimsa is not just the negation of himsa The word himsa actually stands for pranatipat (प्राणातिपात) destroying any of pranas and is enumerated as one of the sins in the schedule of 18 items and we should avoid it Consequently this abstainment falls under the broad head of samyam which has to be distinguished from Ahimsa as per the classification mentioned in the last paragraph As against that, Ahimsa is a pure positive phenomina and its application postulates an activity—it is a rule of action To appreciate the distinction between these two terms a recent anology be narratted At the time of formation of (now practically defunct) Svatantra party,

there was a proposal to name it as Freedom Party But C Rajgopalachari opposed it on the ground that word freedom has a negative content whereas Svatantra is a positive word, clearly, freedom and Svatantrata are not synonimous and with the same parity of reasoning Himsa and Ahimsa are not [illegible] (inverse) of each other Avoiding activity lest there may be killing is not the practice of Ahimsa [illegible] [illegible] is a principle of Dharma Shastra and plays its role as a characteristic of Yoga i e one s action either by body mind or speech It means that desirable and permissible activities indicated again and again herein above should be carried out with dexterity carefulness vigilance etc (technically with samitis) in such a manner that little or no bondage is caused and then only you are said to have followed the rule of Ahimsa Question of Ahimsa does not arise in passivity when we are lying idle and not doing anything But (say) when you [illegible] you shall [illegible] [illegible]

Similarly, if you do not speak and keep mum, the question of truth or falsehood does not come in picture It is only when you speak you shall speak the truth with 'bhashsamiti' is the commandment So also if one is doing no business or dealings, question of corruption, dishonesty etc remain absent; but when you happen to hold an active public post, then an occasion arises to show that you are honest and have neither exploited the situation nor committed theft nor taken bribe and have done justice Thus examples can be multiplied to prove that Ahimsa and its *fellow travellers like truth non-stealing etc* are not the religion of escapism from activity The above point derives some support from Uttaradhyayan 24(26) as follows

एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती णियतणेवुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ।।

These five simities are for promotion of religious activities, and for complete renouncement from bad actions three gupties have been prescribed Luckily, the doctrine of Ahimsa is so scientific and useful and its implications are so wide and all pervading that it has been and is being continuously digested universally in all other walks of life It is no more a monopoly of religion now So let us be bold enough to say that large portion of world activity is carried out in a religious manner and future is still brighter for Ahimsa etc to become more and more popular religion of human activities Sootrakritaanga I-2(14) and Prashna Vyakarana 21/23 support Ahimsa as a positive proposition

Coming to the second group viz, Samyam (Contraction) it should be conceded that it is purely a passive item It clearly postulates the process of limitation of wordly persuits to the minimum possible It is an easy prescription for abstaining from activities as far as possible so that no new bondage is caused. In technical terms it can

be called 'Guptee' of body, voice and mind. The main aim of Samyam is to refrain from sins and in order to be purposeful, it should be a willing deliberation as against an abstainment forced by circumstances or unawarely; otherwise bondage due to avirati (want of vows) is not avoided.

अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

Who does not enjoy sensual pleasures by force of circumstances is not called a Samyami. But one who turns his back even from the available choicest and agreeable pleasures—willingly abstains from enjoyment—is called a Samyami.

sumption and forebearance thereof and limitation of wants in all manner

Vritisankshep—Avoidance of possession (परिग्रह) and accmulations-putting various ceilings on earning, holding and properties etc

Rasatyaga—Avoiding pleasures of all the 5 sense objects viz , sound, sight, smell, taste and touch

Kayklesh—Penance and endurance of bodily pains, troubles, *exposures, postures, sickness, vagaries of climate insects & like Physical exertion is also contemplated*

Sanleenta—Simple life with strict disciplined schedule and various vows like brahmacarya, awakening and other biological controls, lonely life etc

Prayscita – Repentence for all wrongs done in the past, disassociation of self from them and resolution to not to repeat them in future

Vinay—i e bhakti (vandana, pooja, respect, prayer) of Panch Parmeshthi (Tirthankar, liberated, preceptors teachers & monks) Sangha (Church) and its members

Svadhyaya—Exercise in the field of knowledge like reading, hearing, discussing, remembering, contemplating, lecturing etc

Prashasta Dhyana—Concentration & meditation on commendable objective i e Dharma & Shukla Dhyan

Kayotsarga—Practice as if taking soul away from the body Realising aloneness of self from all, including body.

Vaiyavrtya—Serving others

The very perusal of the abovesaid exertions will show that it is a hetrogenous mass covering a very wide field of

activity. All the items are equally important and one can choose any of them. They can keep one engaged all throughout his life. It should be pointed out that Tap is not a compulsory subject in the syllabus of religion and the option should always be commensurate to one's capacity so that self bliss is maintained. Some items above can be interpreted with negative approach but due to their difficult & tedius nature, always partake the form of an activity e.g. "abstainment from food", but remaining hungry becomes a job, "abstainment from treatment", but enduring pain becomes a job. Moreso, slowly and slowly by practice one becomes accustomed and used to those austerities & penances. The most tuff amongst them is 'brahmacarya' [illegible] (Sootrakritaanga I. 6, 23)

Before closing I will like to give some detailed treatment to the last item 'vaiyavratya' because of the present day social need and having regard to the host institution and its platform.

(there is no dispute about it) and thus to do 'Vaiyavratya' Then naturally while interpreting the words Tapasvi (austere) sick fellow, religious colleague, family group & Sangh we should reasonably cover householder variety of these classes and not only the monks specially when the server is a laity The very nature of this job and the spirit behind it can not accomodate partiality or any other consideration Not only that, but Yatys also generally acknowledged as Sadhus then, even prior to Haribhadra period, used to render medical and other services both to householders and non-householders May be, with the almost abolition of that institution, good points in it have also disappeared—the subject needs research Let us take one Mantra of Acharanga

एस वीरे पससिते जे वद्धे पडिमोयए, उड्ढ अह तिरिय दिसासु से सव्वतो सव्व परिण्णाचारी ण लिप्पति छणपदेण वीरे ।

That brave one is to be appreciated who works for the release of bondage of others, and that talented personality having meaningful renunciation, perfect from all the angles & directons, incurrs no bondage in doing this work

(Acharanga I-91, 103)

Someone may work for his own upliftment but the main operative part of this Mantra bestows distinction on those who work for the emancipation of othera Directly, or indirectly helping others in attaining salvation (i e permanent removal of miseries) is the best social service which can be thought of To illustrate, Tirthankars are distinguished from other omniscient Kevalees in this respect because the former, after attaining Keval Jnana work hard for spreading & distributing the gains of their knowledge amongst others so that they may also tread the 'already searched' path of liberation The value of this service is immeasurable in terms of wordly calculations Now, can it be

argued that householders and masses in general are not entitled to reap benefit of these preachings and [illegible]? More than 2500 years have passed but the light given by Bhagvan Mahaveer still benefits us with the same or rather added wattage. These leaders of the humanity make it a [illegible] time to uplift the beings without any distinction or discrimination whatsoever (Sootrakritanga 1-6(23) [illegible]). In exegesis of this sootra Acharya Shilanka [illegible] point that even the past efforts of Bhagvan Mahaveer for his own upliftment before kevalinana are also a part and parcel of subsequent social service because unless one practises and becomes perfect, his preachings fail to have any impact—rather he is unqualified to preach. As per the latter part of the above quoted Mantra of Acharanga [illegible] a perfect monk engaged in this type of activity is immune from accruing bondage. It should not be argued that the case of Thirthankars is different for they are bound to do that duty but this type of social work on the part of an ordinary [illegible] ceptor or Upadhyaya (teacher) or [illegible] con[illegible]ction from his chosen path. On the other hand Acharanga 1 196 casts an obligation on [illegible] to [illegible] of compassion.

it crystal clear that even householders engrossed in fierce wordly activity deserve the discourse, they can be obliged by the monks—

एतेय पए सबुज्झमाणे, लोग च आणाए अभिसम्मेच्चा पुढो पवेदित आघाति णाणी इह माणवाण ससार पडिवण्णाण, सबुज्झमाणाण, विण्णाण-पत्ताण, माणुसभवत्थाण, आरभ विणईण, दुक्खव्वे असहेसगाण, धम्म सवण गवेसयाण, सूस्सूसमाणाण, पडिपुच्छमाणाण, अट्ठाविसता अदुवा पमत्ता ।

(Acharanga I, 134)

The above authorities of Acharanga are further reinforced by *Sootrakritaanga* I *as follows*—

2 (69) सव्व णच्चा अहिट्ठए धम्मट्ठी उवहाणवीरिए गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे परमाययट्ठिए ।

11 (23) बुज्झमाणाण पाणाण कच्चताण सकम्मुणा आघाति साहु त दीव पतिट्ठेसा पवुच्चती ।

12 (12) से चक्खुलोगसि णायगातु मग्गाऽणुभासति हित पयाण ।

13 (19) सय समेच्चा अदुवा विसोच्चा, भासेज्ज धम्म हितदपयाण ।

14 (5) समिती सु गुत्तीसु य आयपण्णे वियागरे ते य पुढो वदेज्जा ।

Thus this one Mantra 91 (103) of Acharanga is more than sufficient to wide open the gates of social service for monks as well as householders though within their limitations and options Bhagvati 5 (6) says that these monks generally reach Moksha at most within 2-3 births next Geeta also follows this pattern and its Karmayogi works for Loksangrah (public good) i e social service. The other varieties of social services can be treated as covered by above thesis because preaching is getting it done by speech or approval of what is being done by others However, special mention has been made of the following varieties of service in Agam texts—

(F) Consumption of extra food is allowed so as to remain fit for service

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गथे आहारमाहारमाणे णातिक्कमति त जहा—वेयण, वेयावच्चे, ईरियट्ठाए य, सजमट्ठाए तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिंताए ।

(Thananga, 500)

(G) Thananga 649 clause VIII provides that if conflicts have arisen between fellow religious followers, then one should make efforts, attempts and exertions for putting an end to fights, disputes and arguments and for establishing amity in an impartial neutral and judicious manner without taking sides In doing this, a monk incurrs no wrong—rather abides by his duties

अट्ठहिं ठाणेहिं सम सघठितव्व, जतितव्व, परक्कमितव्व असिं च ण अट्ठे णो पमातेतव्व भवति—xxx(viii) साहम्मिताणमधिकरणसि, उप्पण्णसि तत्थ अनिस्सितो, वास्सितो, अपक्खगाही मज्झत्थ भावभूते कहणु साहम्मिता अप्पसद्दा, अप्पझझा, अप्पतुमतुमा, उवसामणताते अब्भुट्ठेतव्व भवति ।

Charity to the deserving have been recommended and Jain canons are full of precedents when gods in heaven have celebrated such befitting occasions Kings and commanders and administrators who have good character, fine vows, virtues, discipline, resolutions, no sense pleasures and do "Paushadhopavasa" are born next as gods in Sarvarthasiddhi heaven

तओ लोगेसु सुस्सीला, सुव्वता, सग्गुणा समेरा, सपच्चक्खाण पोसहोवासा सवट्ठ सिद्धे विमाणे देवताए उव्वज्जति —रायाणो परिचित्तकामभोए, मेणावती, पसत्थारो ।

(Thananga, 150)

Uttaradhyayan 29 (43) says that by the best vaiyavra-

ness. It is indeed pitiable that the most positive religion of the land is being branded otherwise, I can only opine that if inspite of all this, the charge of escapism, negativism and inactivity is levelled against Jinism, it will remain unproved like an earlier charge of hereticity (नास्तिकता) To mention in the end as in the beginning, Lokmanya Tilak after perusing the manuscript of the book "Jain Karmayoga" written by late Acharya Budhisagar complimented as under—"Had I known that you are writing your Karmayoga, I might not have written my Karmayoga " I think no better certificate or any other authority is needed to establish our case Thank you all



पमाएयव्व भवइ गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्च-
करणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ। —ठाणांग, 8

रोगी की अग्लान (प्रेम) भाव से पूर्ण प्रयत्न, पुरुषार्थ एव पराक्रमपूर्वक सेवा करनी चाहिए इसमे प्रमाद नही करना चाहिए।

(9) सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।
—प्रश्नव्याकरण, श्रुत 2 अ. 1 सूत्र 22

भगवान् महावीर ने जगत् के सब जीवो की रक्षा एव दया करने के लिए उपदेश दिया है।

(10) अणुकम्पए चरित्तमोहणिज्ज कम्म खवइ।
—उत्तरा 29 30

अनुकंपा से चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

(11) दया कल्लाणभागिस्स वोसिहीठाण। —दशवै 9 13

दया से आत्मा विशुद्ध होती है।

(12) दया रक्खा अभओ पज्जवनामाणि होंति अहिंसाए
भगवतीए। —प्रश्नव्याकरण श्रु 2 अ 1

दया करना, रक्षा करना, अभयदान देना आदि अहिंसा के पर्यायवाची हैं।

(13) वेयावच्चेण तित्थयर-नाम-गोत्त कम्म निबन्धई।
—उत्तरा 29 43

सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है (तीर्थङ्कर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन होता है।) अर्थात् सेवा से भगवद् पद की प्राप्ति होती है।

(14) वेयावच्च अब्भितरो तवो। —उत्तरा 30 30

सेवा आभ्यतर तप है। (इससे कर्मों की महानिर्जरा होती है।)

(15) पाणवहो नाम एस निच्च जिणेहिं भणिओ णिकल्लुणो।
—प्रश्नव्याकरण, श्रु 1 अ 1 सूत्र 3

(23) जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।

—भक्तप्रत्याख्यान, 93

किसी भी प्राणी की हत्या करना अपनी हत्या है और किसी भी जीव पर दया करना अपनी दया है।

(24) असगिहीयपरिजणस्स सगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवति।

—स्थानाग, 8

जो अनाश्रित एव असहाय है, उसको सहयोग तथा आश्रय देने मे सदा तत्पर रहना चाहिये।

(25) गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवति।

—स्थानाग, 8

रोगी की अग्लानभाव से सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

(26) असविभागी न हु तस्स मोक्खो।

—दशवैकालिक, 9 2 23

जो असविभागी है अर्थात् प्राप्त सामग्री को साथियो मे बाटता नही है, उसकी मुक्ति नही होती है।

(27) असविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई।

—उत्तरा 17 3

जो श्रमण असविभागी है (प्राप्त सामग्री को बाटता नही है) वह पापश्रमण कहलाता है अर्थात् गृहस्थ के लिए ही नही बल्कि साधु के लिए भी प्राप्त सामग्री को बाटना आवश्यक बतलाया है।

(28) सविभागसीले सगहोवग्गहकुसले,
से तारिसए आराहए वयमिण।

—प्रश्नव्याकरण, 2 3

जो सविभागशील है, सग्रह और उपग्रह मे कुशल है अर्थात् अपने साथियो के लिए यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने व वितरण करने मे कुशल है वह ही अस्तेय (अचौर्य्य) व्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है।

प्यासे, भूखे अथवा दु खी को देखकर जो जीव मन मे दु खी (करुणित) होकर उन पर कृपा करता है उसका यह कार्य अनुकपा है ऐसा अनुकंपायुक्तभाव व प्रशस्त राग जिसके होता है उस जीव का चित्त कलुषता (कषाय) रहित होता है और उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है।

(36) करुणाए कारण कम्म करुणे त्ति ण वुत्त ? करुणाए जीव-सहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारण कम्म वत्तव्व ? ण एस दोसो सजमघादिकम्माण फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।
—षट्खडागम, धवलटीका, 5 5 97 पुस्तक 13, पृष्ठ 361-362

जिज्ञासा—करुणा का कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, यह क्यो नही कहा ?

समाधान—नही, क्योकि करुणा जीव का स्वभाव है। अतः इसे कर्म जनित अर्थात् कर्म के उदय से मानने मे विरोध आता है।

जिज्ञासा—तब फिर अकरुणा का अर्थात् करुणाहीनता का कारण कर्म कहना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नही है क्योकि अकरुणा को अर्थात् करुणाहीनता को सयमघाती कर्म (प्रत्याख्यानावरणीय कर्म के फल रूप मे स्वीकार किया गया है।

(37) ज इच्छसि अप्पणतो ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि एत्तियण जिणसासय ।।
— बृहत्कल्पभाष्य, 4584

जो अपने लिए चाहते हो वह दूसरो के लिए भी चाहना चाहिए जो अपने लिए नही चाहते हो वह दूसरो के लिए भी नही चाहना चाहिए। इतना तीर्थंकारो का उपदेश है।

(38) गिलाण वेयावच्च करेमाणे समणे निग्गथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति। —व्यवहारसूत्र

(ब) जैन-साहित्य में प्राप्त अन्य वचन

(1) सूनृत करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्य गौरवाश्लिष्ट वच शास्त्रे प्रशस्यते ।। –ज्ञानार्णव, 9 5

अर्थ–जो वचन सत्य हो, करुणा से व्याप्त हो, अविरुद्ध हो, अनाकुल, अग्राम्य और गौरव से युक्त हो शास्त्र मे वे ही वचन प्रशसनीय है ।

(2) ध्याने ह्युपरते धीमान् मन कुर्यात्समाहितम् ।
निर्वेदपदमापन्न मग्न वा करुणाम्बुधौ ।। —ज्ञानार्णव, 31 19

अर्थ—ध्यान के पूर्ण होने पर धीमान् पुरुष समाहित मन को वैराग्यपद की प्राप्ति मे लगाए अथवा करुणारूपी समुद्र मे मग्न करे ।

(3) गुत्ती जोग-निरोहो समिदी य पमाद-वज्जण चेव ।
धम्मो दयापहाणो सुतत्तचिता अणुप्पेहा ।।
—स्वामिकार्त्तिकेय-सवरानुप्रेक्षा, 97

अर्थ—मन, वचन और काय योग का निरोध गुप्ति है तथा प्रमादरहित आचरण समिति है । जिसमे दया प्रधान है वह धर्म है । जीवादि तत्त्वो का चिन्तन अनुप्रेक्षा है । तात्पर्य यह है कि दयाप्रधान धर्म सवर का कारण है ।

(4) दयामूलस्तु यो धर्मो महाकल्याणकारणम् ।
दग्ध-धर्मेषु सोऽन्येषु विद्यते नैव जातुचित् ।। 23 ।।
जिनेन्द्रविहिते सोऽय मार्गे परमदुर्लभे ।
सदा सन्निहिता येन त्रैलोक्याग्रमवाप्यते ।। 24 ।।
—पद्मपुराण, पर्व, 5

अर्थ—जो धर्म दयामूलक है वही महाकल्याण (मोक्ष) का कारण है । ससार के अन्य अधमधर्मों मे वह दयामूलक धर्म नही पाया जाता । वह दयामूलक धर्म, जिनेन्द्रभगवान के द्वारा प्रणीत परम दुर्लभ मार्ग मे सदा विद्यमान रहता है और दयाधर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है ।

अर्थ—यहा धर्मात्मा सज्जनो को सबसे पहले प्राणियो के विषय मे नित्य ही दया करनी चाहिये क्योकि वह दया समीचीन व्रतसमूह, सुख एव उत्कृष्ट सम्पदाओ की मुख्य जननी अर्थात् उत्पादक है। दया धर्मरूपी वृक्ष की जड है, तथा अविनश्वरपद अर्थात् मोक्षमहल पर चढने के लिये नसैनी का काम करती है। निर्दय पुरुष का नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिये सर्वत्र दिशायें शून्य जैसी हैं।

(10) जन्तुकृपार्दितमनस समितिषु साधो प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रिय-परिहार सयममाहुर्महामुनय.॥

—पद्मनन्दि पचविंशति, 1 96

अर्थ—जिसका मन जीव-अनुकम्पा से भीग रहा है तथा जो ईर्या, भाषा (देखकर चलना, देखकर वस्तु को रखना, उठाना जिससे जीवो को बाधा न हो तथा हित-मित-वचन बोलना, कठोर वचन नही कहना) आदि पाँच समितियो मे प्रवर्तमान है। ऐसे साधु के द्वारा षट्काय (सर्व) जीवो की रक्षा और अपनी इन्द्रियो का दमन किया जाता है उसे गणधरदेवादि महामुनि सयम कहते है।

(11) येषा जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषा धर्म. कुतो भवेत्॥

मूल धर्मतरोराद्या व्रताना धाम सपदाम्।
गुणाना निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभि.॥

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्रधारा. प्रसूनाना हाराणा च सरा इव॥

—पद्मनन्दि प. 6 37-39

अर्थ—जिन भगवान के दयालुतारूप अमृत से परिपूर्ण उपदेश से जिन श्रावको के हृदय मे प्राणिदया प्रकट नही होती है उनमे धर्म कहाँ से हो सकता है? अर्थात् नही हो सकता। इसका अभिप्राय यह है कि जिन गृहस्थो का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओत-प्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तव मे धर्मात्मा हैं। जिनका चित्त दया से आर्द्र नही हुआ है वे कभी भी धर्मात्मा नही हो सकते, कारण कि धर्म का मूल तो दया है।

अर्थ—जो मुनि मोह, मद, गारव आदि से रहित है और करुणा भाव सहित हैं वे चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तभ का नाश करते है।

(17) सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दस-अट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि सदेहो ॥
—नियमसार, गाथा 6 की टीका

अर्थ—वह धर्म है जहाँ दया है, वह तप है जहा विषयो पर निग्रह है, वह देव है जो अठारह दोषरहित है, इसमे सदेह नही है।

(18) 'धर्म शर्मकर दयागुणमय' ॥ —आत्मानुशासन, 7

अर्थात्—दया गुण युक्त धर्म सुख करने वाला है।

(19) धर्मो नाम कृपामूल सा तु जीवानुकम्पना।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिक-लक्षणम् ॥ –क्षत्रचूडामणि, 5 35

अर्थ—धर्म का मूल दया है और वह दया जीवो की अनुकम्पारूप है। अरक्षित प्राणियो की रक्षा करना ही धर्मात्मा का लक्षण है।

(20) सम्मतस्स पहाणो अणुकपा वण्णिओ गुणो जम्हा।
पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार, 94

अर्थ—सम्यग्दर्शन का प्रधानगुण अनुकम्पा अर्थात् दया है, अत शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है।

(21) पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥ 1 ॥
—(ज्ञानार्णव/धर्मभावना)

अर्थ—जिस धर्म से जगत् पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है और जो धर्म दयारूपी रस से आर्द्र है उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिये मेरा नमस्कार है।

(22) तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥ 57 ॥
—ज्ञानार्णव, सर्ग 8

(स) संस्कृत-साहित्य-वचन

(1) सर्वे भवन्तु सुखिन·, सर्वे सन्तु निरामया. ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत् ॥

सभी सुखी हो, सभी नीरोग हो, सभी कल्याण को देखे, कोई भी प्राणी दु ख का भागी न बने ।

(2) अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं ।
परोपकार पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

अठारह पुराणो मे व्यास के दो वचन है—परोपकार से पुण्य होता है तथा परपीडन (दूसरो को पीडा देने) से पाप होता है ।

(3) अयं निज· परो वेति, गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह अपना है, वह पराया है—इस प्रकार की गणना क्षुद्र हृदय वाले लोग करते है । उदार चरित्र वाले व्यक्तियो के लिए तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही परिवार होती है ।

(4) पापान्निवारयति योजयते हिताय
गूह्य निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति
आपद्गत च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिद प्रवदन्ति सन्त ॥

जो अपने मित्र को पाप कार्य करने से रोकता है एव हितकारी कार्य मे उसे प्रवृत्त करता है, मित्र की गुप्त बात को छिपाता है एव गुणो को प्रकट करता है, आपत्तिग्रस्त मित्र का त्याग नही करता एव समय पर उसकी सहायता करता है उसे ही सज्जन पुरुषो ने सन्मित्र कहा है ।

(5) आत्मन· प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।

जो आचरण स्वय को पसन्द नही हो वैसा दूसरो के साथ कभी नही करना चाहिए ।

(द) बौद्ध-वचन

(1) महत्स्वपि स्वदु खेपु व्यक्तधैर्या कृपात्मका ।
मृदुनाप्यन्यदु खेन, कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ।। —जातकमाला

कृपालु (करुणाशील) मनुष्य अपने महान् दु खो (दु ख स्थितियो) मे भी धैर्यशाली बने रहते है तथा दूसरो के कोमल (हलके से) दु ख से भी कम्पित हो जाते है, यह अद्भुत बात है ।

(2) असारस्य शरीरस्य, सारो ह्येष मत सताम् ।
यत्परेषा हितार्थेपु, साधनीक्रियते बुधै ।। —जातकमाला

असार शरीर का साधु पुरुषो ने यह सार माना है कि समझदार को इसे दूसरो का हित साधने मे साधन बना लेना चाहिए ।

(3) दयालुर्नोद्वेग जनयति परेपाम्, उपशमात् ।
दयावान् विश्वास्यो भवति जगता बान्धव इव ।।
—जातकमाला

दयालु मनुष्य दूसरो मे उद्वेग पैदा नही करता । शान्त रहने के कारण दयावान् पुरुष ससार मे बन्धुजन की भाति विश्वसनीय होता है ।

(4) आर्ते प्रवृत्ति साधूना, कृपया न तु लिप्सया ।
तामवैतु परो मा वा, तत्र कोपस्य को विधि ।।
कृतश्चेद् धर्म इत्येव, कस्तत्रानुशय पुन ।
अथ प्रत्युपकारार्थम् ऋणदान न तत्कृतम् ।। —जातकमाला

दु खी का दु ख निवारण करने के प्रति सज्जनो की प्रवृत्ति करुणापूर्वक होती है, किसी लिप्सा के कारण नही । इसे दूसरा समझे या न समझे, किन्तु इसमे क्रोध करने की कोई आवश्यकता नही है । यदि दुखियो का दु खहरण धर्म (कर्तव्य) समझकर किया गया है तो इसमे फिर पश्चात्ताप की क्या बात है ? यदि प्रत्युपकार के लिए ऐसा किया गया है तो यह तो ऋणदान हुआ, धर्मपालन नही ।

(द) बौद्ध-वचन

(1) महत्स्वपि स्वदु खेपु व्यक्तधैर्या कृपात्मका ।
मृदुनाप्यन्यदु खेन, कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ।। —जातकमाला

कृपालु (करुणाशील) मनुष्य अपने महान् दु खो (दु खद स्थितियो) मे भी धैर्यशाली बने रहते है तथा दूसरो के कोमल (हलके से) दु.ख से भी कम्पित हो जाते है, यह अद्भुत बात है।

(2) असारस्य शरीरस्य, सारो ह्येष मत सताम् ।
यत्परेषा हितार्थेषु, साधनीक्रियते बुधै ।। —जातकमाला

असार शरीर का साधु पुरुपो ने यह सार माना है कि समझदारो को इसे दूसरो का हित साधने मे साधन बना लेना चाहिए ।

(3) दयालुर्नोद्वेग जनयति परेपाम्, उपशमात् ।
दयावान् विश्वास्यो भवति जगता बान्धव इव ।।
—जातकमाला

दयालु मनुष्य दूसरो मे उद्वेग पैदा नही करता । शान्त रहने के कारण दयावान् पुरुष ससार मे बन्धुजन की भाति विश्वसनीय होता है ।

(4) आर्ते प्रवृत्ति साधूना, कृपया न तु लिप्सया ।
तामवैतु परो मा वा, तत्र कोपस्य को विधि ।।
कृतश्चेद् धर्म इत्येव, कस्तत्रानुशय पुन ।
अथ प्रत्युपकारार्थम् ऋणदान न तत्कृतम् ।। —जातकमाला

दु खी का दु ख निवारण करने के प्रति सज्जनो की प्रवृत्ति करुणापूर्वक होती है, किसी लिप्सा के कारण नही । इसे दूसरा समझे या न समझे, किन्तु इसमे क्रोध करने की कोई आवश्यकता नही है। यदि दुखियो का दु खहरण धर्म (कर्तव्य) समझकर किया गया है तो इसमे फिर पश्चात्ताप की क्या बात है ? यदि प्रत्युपकार के लिए ऐसा किया गया है तो यह तो ऋणदान हुआ, धर्मपालन नही ।

(य) संत-वचन

(1) अहिंसा माने अपने भाषण मे या कृति से किसी का भी दिल न दुखाना, किसी का अनिष्ट तक न सोचना। —विवेकानन्द

(2) अहिंसा धर्म का तकाजा है कि हम दूसरो को अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करा देने के लिये स्वय अधिक से अधिक असुविधाएँ सहे—यहाँ तक कि अपनी जान भी जोखिम मे डाल दे। —गांधी

(3) जरूरतमन्द के साथ अपनी रोटी बाँटकर खाना और हिंसा से दूर रहना, यह सब पैगम्बरो के तमाम उपदेशो मे श्रेष्ठतम उपदेश है। —तिरुवल्लुवर

(4) नेक रास्ता कौन-सा है ? वही जिसमे इस बात का ख्याल रखा जाता है कि छोटे-से-छोटे जानवरो को भी मरने से किस तरह बचाया जाय। —तिरुवल्लुवर

(5) अगर तुम्हारे एक लफ्ज से भी किसी को पीडा पहुँचती है तो तुम अपनी सब नेकी नष्ट हुई समझो। —तिरुवल्लुवर

(6) जब कोई विश्वात्मा को निजात्मा ही अनुभव करने लगता है तो सारा ब्रह्माण्ड उसकी इस तरह सेवा करता है जैसे उसका शरीर। —स्वामी रामतीर्थ

(7) जो वास्तव मे उदार है वही वास्तव मे ज्ञानी है, और वह जो कि दूसरो से प्रेम नही करता, बरकतहीन जिन्दगी बसर करता है। —होम

(8) इस दुनिया मे हम जो लेते है वह नही, बल्कि जो देते है वह, हमे धनवान बनाता है। —बीचर

(9) दया से लबालब भरना ही सबसे बडी दौलत है, क्योंकि

दुनियावी दौलत तो नीच आदमियो के पास भी देखी जाती है। —तिरुवल्लुवर

(10) जो खुदा के बन्दो के प्रति दयालु है, खुदा उसके प्रति दयालु है। —मुहम्मद

(11) कितने देव, कितने मजहब, कितने पथ चल पडे है, लेकिन इस गमगीन दुनिया को सिर्फ दयावानो की जरूरत है।
—विलकॉक्स

(12) जीवन का अनुरोध भरा पाठ, चाहे इसे हम जल्दी सीखे या देर से, यह है कि देने से दाता की पहले और सबसे अधिक श्रीवृद्धि होती है और उसमे साधुशीलता आती है। —अज्ञात

(13) अगर तू किसी एक आदमी की भी तकलीफ को दूर करे तो वह ज्यादा अच्छा काम है बजाय इसके कि तू हज्ज को जाय और रास्ते की हर मजिल पर एक हजार रकअत नमाज पढता जाय। —सादी

(14) सब मखलूक (सृष्टि) अल्लाह का कुनबा हे और उन सबमे अल्लाह को सबसे प्यारा वह है जो अल्लाह के इस कुनबे का भला करता है। —मुहम्मद

(15) महान् सेवा यह है कि हम किसी जरूरतमन्द की इस तरह मदद करे कि वह अपनी मदद खुद कर सके। —अज्ञात

(16) परहित सरिस धर्म नही भाई।
परपीडा सम नही अधमाई॥ —रामचरित मानस

(17) दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोडिए, जब लग घट मे प्राण॥
—तुलसीदास

(18) दया सुखानी बेलडी, दया सुखानी खान।
अनत जीव मुक्ते गया, दया तणो फल जाण॥ —जैन धर्म

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
3	10	सगुद्णो	सद्गुणो
9	26	धम्मोदया विसुद्धो	धम्मो दयाविसुद्धो
10	3	रक्खाण	रक्खण
15	24	क	को
18	27	माह के कम हाने	मोह के कम होने
22	7	उडकर	बनकर
35	6	करत	करता
41	6	जिस	जिसके
41	29	ने वालेने	सेवा लेने
46	7	दान देना या न देना दोनो ही	दान लेना व दान न देना दोनो ही सगह के हेतु होने से
47	7	स्वार्थसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि
47	8	परानुग्रवुद्ध्या	परानुग्रहबुद्ध्या
49	4	वह्न दाह्य	वह्नेर्दाह्य
50	2	जाता है	जाता
50	3	होता है	होता
50	5	वाधक होता	बाधक होता, परन्तु ऐसा नही होता है
52	2	मुपात्र के लिए दिया	दिया
53	13	जिनेन्द्र कुमार वर्णी एव	(यह नही है)
56	14	ण हुतो	ण हु तस्स
57	7	अइवुड्ड	अइवुड्ढ
57	15	भुड्क्ते	भुङ्क्ते
58	1	करतिते	करति ते
58	4	पुणलच्छि	पुण ल [illegible]

58	5	मणुयत्तणिप्फल	मणुयत्त णिप्फल
58	16	अतिरौद्र	आर्तरौद्र
60	14	ऐसा	एसा
64	12	उतनी	उतना
67	3	मुख	दु ख
67	24	सभ्य	सभ्यता
69	27	यस्य	यस्तु
75	4	लेकिन	,
76	12	उदाहरण	उद्धरण
76	अन्तिम	हाती	होती
81	अन्तिम	आयुकर्म	फलस्वरूप आयुकर्म
83	9	जबकि	और
83	10	कपायो	भावो
94	15	अभाव	प्रभाव
98	5	पहुँचकर	पहुँचने पर
99	4	अपालाप	अपलाप
100	8	जायगा	जायेगा
103	18	गुण	गुणे
109	16	मत्री	मैत्री
110	28	अघाती कर्म की ।	अघाती कर्म की
112	12	भावातीत	भवातीत
114	22	वृद्धि	वृद्धि की हेतु
121	1	अग	अग
126	23	अनिष्ट	घनिष्ठ
126	24	क्षत्र	क्षेत्र
131	6	सच्चित्त	सचित
137	6	व रुणा	करुणा
137	अतिम	धम	धर्म
151	15	प्रीत्या तिशुद्धमनसा	प्रीत्यातिशुद्धमनसा
152	26	जिणवदिट्ठ	जिणवरदिट्ठ
52	28	पूजामुक्ख	पूजामुक्ख

153	24	सुग्राचरिते हिं	सुग्रचरितेहिं
155	14	करना	करता
169	18	दाणाठा	दाणाण
170	7	प्रशसा	प्रशसा
172	26	प्रयता	प्रियता
174	26	ग्रपने	ग्रपनी
197	22	सचित	सचित
197	28	ग्राश्वासल	ग्राश्वासन
199	18	बाले	बोले
205	15	कलकित	कलकिन
207	15	ग्रसख्य	ग्रसख्य
232	5	ग्रशुद्धि घुस	ग्रशुद्धि न घुस
241	9	जा	जो
252	12	हाने	होने
256	19	प्राप्त वस्तुग्रो	ग्रप्राप्त वस्तुग्रो
257	29	स्वाथ	स्वार्थ
261	24	हा	ही
261	24	ऐसा	ऐसी
261	25	ग्राता	ग्राती
268	17,21	प्रमपात्र	प्रेमपात्र
269	8	प्रमपात्र	प्रेमपात्र
275	16	ग्रनिवाय	ग्रनिवार्य
280	16	ग्रस्त्र-शस्त्र	ग्रन्न-वस्त्र
304	15	is that	that
304	27	लवाव सकीय	लवावसकी य
304	31	जेकेई लोगमिउ	जे केई लोगमि उ
,,	ग्रतिम	ग्रन्नेणपुट्ठा	ग्रन्नेण पुट्ठा
311	ग्रतिम	ग्रपुरक्कार मएण जीव	ग्रपुरक्कारगए ण जीवे
,,	,,	जोगहि तो णियतेइ, पत्सथे	जोगेहितो णियत्तेइ, पसत्थे
312	1	ग्रपडिवज्जइ	ग्र पडिवज्जइ

312	1	जोग पडिवण्णे य ण	जोगपडिवण्णे य ण
,,	,,	अणत धाड पज्जवे	अणतघाइपज्जवे
312	8	दिट्टी सपण्णे	दिट्ठिसपण्णे
316	6	असम्मत दसिणो	असम्मत्तदसिणो
316	7, 9	परक्कत	परक्कत
316	8	सम्मत दसिणो	सम्मत्तदसिणो
317	29	आसव	आसव
320	14	णियतणेवुत्ता	णियत्तणे वुत्ता

मैत्री-करुणा

(1) मैत्रीप्रमोदकारुण्यसाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ।—तत्त्वार्थसूत्र, 7 2

प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणियो के प्रति प्रमोदभाव, दु खियो के प्रति करुणाभाव और अविनीतो के प्रति माध्यस्थभाव रखना चाहिए ।

(2) सत्त्वेषु मैत्री गुणिपु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।
—अमितगति

हे देव ! मेरी आत्मा सदैव प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव रखे, गुणियो को देखकर प्रमुदित हो, दु खी जीवो पर करुणित हो तथा विपरीत वृत्ति वाले व्यक्ति के प्रति मध्यस्थ रहे ।

(3) मैत्रीभाव जगत् मे मेरा सब जीवो पर नित्य रहे,
दीन दु खी जीवो पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे ।
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतो पर क्षोभ नही मुझको आवे,
साम्यभाव रखू मै उन पर ऐसी परिणति हो जावे ।।

(4) मित्ति भूएसु कप्पए । —उत्तराध्ययन, 6 2
प्राणियो पर मैत्रीभाव रखो ।